समर्पण

मेरे 'भैया' श्री इस्माइल मसीह ने ही मुझे दर्शन का प्रथम पाठ सिखाया था। असमय ही, केवल ३७ वर्ष की आयु मे ३ मई, सन् १९४५ ई० मे आपका देहान्त हो गया। उस अधखिले फूल की सुरभि आज भी मेरी जीवन-यात्रा का पथनिर्देश कर रही है। अतः, मैं यह पुस्तक उस पुनीत स्मृति में समर्पित करता हूँ।

—लेखक

दो शब्द

समसामयिक विचारधारा मे 'दर्शन' (Philosophy) और 'तत्त्व-मीमासा' (Metaphysics) के बीच भेद किया जाता है। 'दर्शन' के स्वरूप के विषय मे कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध वैज्ञानिक ज्ञान के 'स्पष्टीकरण' से है। यहां 'स्पष्टीकरण' से अर्थ लगाया जाता है कि विज्ञान का विषय 'भाषा' तथा भाषा-विषयक भाषा-चिह्नो के जोड़ने के नियमो मे निहित है। इस मत के अनुसार प्राय लोग गलत समझते हैं कि मन-निरपेक्ष, अर्थात् मन से परे स्वतन्त्र पदार्थों की निजी सत्ता है, जिन्हें वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला मे खोज निकालते हैं। भाषामय सवेदनाओ को ही वैज्ञानिक जानते हैं और इसलिए 'भाषा' तथा भाषा-विषयक प्रतीको (Symbols) के जोडने के नियमों को हमे स्पष्ट करना चाहिए। इसलिए 'दर्शन' का सम्बन्ध भाषा-दर्शन (Linguistics) तथा न्यायदर्शन (Logistics) तक ही सीमित समझा जाता है। अब 'तत्त्व-मीमासा' का विषय स्वतन्त्र पदार्थों की निजी सत्ता से सम्बन्ध रखता है। परन्तु मन से परे, स्वतन्त्र तथा स्वसत्तात्मक पदार्थों का अस्तित्व समस्याहीन है, अर्थात् यह ऐसी समस्या ही नही है, जिसके विषय मे अर्थपूर्ण गवेषणा की जा सके। अत. तत्त्व-मीमासा, दर्शन-विषय नही है। इसलिए कहा जाता है कि 'दर्शन का इतिहास' 'दर्शन' से सम्बन्ध रखता है, न कि तत्त्व-मीमासा से।

यदि समसामयिक 'तर्कनिष्ठ अनुभववाद' (Logical Empiricism) का कथन सत्य हो, तब 'दर्शन' का मुख्य काम भाषा-विश्लेषण कहा जायगा। इस अर्थ मे बर्कले ने वास्तव मे 'जड-पदार्थ' के अनस्तित्व की शिक्षा हमे नही दी है। उन्होंने केवल उस भाषा का विश्लेषण किया है जिसे हम जड-पदार्थ (matter) कहते हैं। फिर ईश्वर, अमर आत्मा इत्यादि भ्रान्तिपूर्ण समस्याएं है, क्योंकि इनकी वैज्ञानिक अध्ययन नही हो सकता है।

मै समझता हू कि तर्कनिष्ठ अनुभववाद संकीर्ण क्षेत्र को सीमित समस्या का ही समाधान करता है और इसका सम्बन्ध हमारे जीवन की सम्पूर्ण अनुभूति से नहीं है। हम भारतीयो को इसकी जानकारी अवश्य करनी चाहिए क्योकि भाषा-दोष के कारण दार्शनिक विचारो मे अनेक त्रुटियां चली आती हैं। परन्तु मैंने इस पुस्तक मे

भारतीय परम्परा का ही अनुशीलन किया है, जिसके अनुसार जीवन-तत्त्व नामक मोती 'गहरे पानी' मे डुबकी मारने पर ही मिल सकता है। दार्शनिक ज्ञान, इस परम्परा के अनुसार, 'सूझ', 'पैठ' इत्यादि पर निर्भर करता है।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है :—

". ... If we are careful we will notice that the great metaphysical systems which are worked out in a logical way are really points of view, darsanas as they are called in India, visions of reality for which we discover reasons" (Recovery of Faith—P. 1)*

मैने इसी परम्परा को अपनाया है।

× × ×

पाठक स्वय समझ लेंगे कि मैने इस पुस्तक को सरल बनाने की कोशिश की है। ऊँची कक्षा के विद्यार्थियो के लिए यत्र तत्र छोटे अक्षरो मे समसामयिक देन का उल्लेख कर दिया है। काण्ट पाश्चात्य दार्शनिको मे सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत हुए है। इसलिए उनके 'दर्शन' को कुछ अधिक विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

\+ + +

मैने इस पुस्तक के लिखने मे अनेक पुस्तको तथा पत्र-पत्रिकाओ की सहायता ली है। श्री गुलाब राय, डाक्टर शशधर दत्त तथा डाक्टर 'देवराज' की पुस्तको से मैने अनेक पारिभाषिक शब्दो को प्राप्त किया है। तोभी शब्दो को बिना गढ़े काम नही चल सकता है। हिन्दी पर भाषा पर मेरा अधिकार नही है। मैने अग्रेजी के शब्दो को अनेक स्थलो पर ज्यो-का-त्यो छोड दिया है। यह, बात विशेष रीति से काण्ट के दर्शन मे देखने मे आयगी।

हिन्दी-विभाग के अध्यापक श्री हरिनन्दन चौधरी जी ने लॉक-बर्कले-सम्बन्धी लिपि को जाँचकर भाषा-सुधार किया है, जिसके लिए मै और पाठक उनके आभारी हैं। फिर भी भाषा की त्रुटियो के लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ।

खबडा रोड, मुजफ्फरपुर

या० मसीह

---

* फिर देखें 'Philosophy of Sarvepalli Radhakrishnan' पृ० ८२४, 'An Idealist view of life', पृ० ७५२, 'My Search after Truth', पृ० १५२।

संशोधित तथा सर्वद्धित सस्करण के सम्बन्ध में

इस पुस्तक मे दर्शन को वैचारिक कला माना गया है और इसी दृष्टिकोण से दार्शनिको की देन का मूल्याकन किया गया है । फिर पाश्चात्य दर्शन मे विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक वाक्यो के बीच के भेद पर विशेष प्रकाश डाला गया है । काण्ट के दर्शन की समीक्षा को एकदम समसामयिक बना दिया गया है । पारिभाषिक शब्दो मे भी हेर-फेर कर दिया गया है । यथासभव रचना-सुधार पर भी ध्यान दिया गया है ।

मै अनेक विश्वविद्यालयो और उनके अध्यापको का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को अपनाया है ।

या० मसीह

विषयानुक्रमणिका

विषय-प्रवेश

फ्रान्सिस बेकन
(सन् १५६१-१६२६ ई०)

रेने देकार्त
(सन् १५९६-१६५० ई०)

विषय-प्रवेश

'फिलॉसफी' तथा 'दर्शन' की शाब्दिक व्याख्या—पाश्चात्य भाषा मे जिसे 'फिलॉसफी' (Philosophy) कहते हैं, उसे हिन्दी मे 'दर्शन' नाम से पुकारते हैं। इन दोनो शब्दो के इतिहास से प्राच्य और पाश्चात्य विचारको के दृष्टिकोणो पर अच्छा प्रकाश पडता है। इसलिए मैं यहाँ इनकी सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार करना अच्छा समझता हूँ। पाश्चात्य 'फिलॉसफी' शब्द दो खडो के योग से बना है, अर्थात् Philos + Sophia। 'Philos' से अर्थ होता है प्रेम का और 'Sophia' शब्द का अर्थ है प्रज्ञा या बुद्धि का। इसलिए फिलॉसफी का शाब्दिक अर्थ है बुद्धि-प्रेम। अत· पश्चात्य दार्शनिक बुद्धिमान् या प्रज्ञावान व्यक्ति बनना चाहता है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास से यह बात झलक जाती है कि पाश्चात्य दार्शनिक ने ज्ञान के आधार पर ही विशेषतया बुद्धिमान होना चाहा है। इसके विपरीत कुछ उदाहरण अवश्य मिलेंगे, जिनमे आचरण-शुद्धि तथा मनस् की परिशुद्धता के आधार पर परम सत्ता के साथ साक्षात्कार करने का भी आदर्श पाया जाता है। परन्तु यह आदर्श प्राच्य है, न कि पाश्चात्य। यदि कुछ पाश्चात्य विचारको मे प्राच्य आदर्श पाया जाय तो इससे सिद्ध हो जाता है कि प्राच्य और पाश्चात्य का अन्तर छिछला है और वास्तव मे दर्शन के सभी पुजारियो को विश्व-प्रजातन्त्र का समकक्षी सदस्य समझना चाहिए। फिर भी यदि हम रहस्यवादी (Mystics) और समाधिवादी विचारको को अपवाद समझ लें, तो हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य दार्शनिक 'ज्ञान' पर अधिक जोर देता है और अपने ज्ञान के अनुरूप वह अपने चरित्र का सचालन करना अनिवार्य नही समझता है। ठीक इसके विपरीत हम भारतीय 'दर्शन' की परम्परा को देखते है।

परम सत्ता के साथ साक्षात्कार करने का ही दूसरा नाम 'दर्शन' है। जिस प्रकार अपनी आँखो से देखकर हमे विश्वास हो जाता है कि नदी, पहाड, कुर्सी, मेज इत्यादि वास्तविक पदार्थ हैं, उसी प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार हमे परम सत्ता का साक्षात् ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार के साक्षात्कार के लिए योग, भक्ति तथा ज्ञान के मार्ग बताये गये हैं। परन्तु दार्शनिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से बिलकुल भिन्न कहा गया है। इसकी व्याख्या कुछ ही पृष्ठो के बाद मिलेगी। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने मे हमे अपने आलोच्य विषय मे परिवर्त्तन करना पडता है ताकि उसे हम अपनी इच्छा के अनुसार अपने वश मे कर लें। जैसे विद्युत्-सम्बन्धी प्रयोगो के आधार पर हम बिजली की शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार चक्की चलाने, प्रकाश फैलाने, पखा चलाने इत्यादि

कामो मे ला सकते है। परन्तु प्राच्य दर्शन के अनुसार दार्शनिक ज्ञान जीवन-साधना है। ऐसे ज्ञान से स्वय दार्शनिक मे ही परिवर्त्तन हो जाता है। उसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा वह समस्त प्राणियो को अपनी समष्टि-दृष्टि के अन्तर्गत देखता है। वह स्वय बदल जाता है। इसलिए वेदान्त मे कहा गया है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' इसी प्रकार कहा गया है कि—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल॥

इसलिए भारतीय परम्परा के अनुसार दार्शनिक एक तपस्वी, खोजी तथा साधक होता है।

समसामयिक विचारधारा मे प्राच्य दर्शन को धर्म-दर्शन माना जाता है और पाश्चात्य दर्शन को भाषा-सुधार तथा प्रत्ययो का स्पष्टीकरण कहा जाता है। प्राय प्राच्य परम्परा से मेल खानेवाली पाश्चात्य तत्त्व-मीमासा को लोग भाषा-रोग, शब्द-जाल और भाषा का गडबड-घोटाला की सज्ञा देते है। अब समसामयिक विचारधारा मे कितना बल है और कितनी दूर तक हमे इसे मानना चाहिए, इत्यादि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न है, जिनकी तह मे जाने का यहाँ काम नही है। हमे दर्शन के इतिहास को ध्यान मे रखकर दर्शन की उपयुक्त व्याख्या करनी चाहिए। परन्तु इसके पहले दर्शन के सम्बन्ध मे समसामयिक विचार को भी स्पष्ट कर देना उचित है।

दर्शन के सम्बन्ध मे समसामयिक विचार

दर्शन के दो मुख्य अग हैं—ज्ञान-मीमासा (Epistemology) और तत्त्व-मीमासा (Ontology)। समसामयिक परम्परा के अनुसार 'दर्शन' शब्द को प्राय ज्ञान-मीमासात्मक अर्थ मे समझा जाता है और मेटाफिजिक्स (अतिभौतिकी) को तत्त्वमी-मासा के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है। इसलिए समसामयिक विचारधारा के अनुसार दर्शन का लक्ष्य विचार का सचालन करनेवाले प्रत्ययो का सुधार करना है। प्रत्यय (Concept) भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, इसलिए प्रत्ययात्मक सुधार का अर्थ लगाया गया है कि दर्शन भाषा का स्पष्टीकरण करे अर्थात् प्रत्येक स्थल पर परम तत्व, ईश्वर, आत्मा इत्यादि के अनुरूप अनुभूतियो का उल्लेख करे। फिर, साथ-ही-साथ बताये कि हम भाषा को किस प्रकार, किस नियम औरकि न-किन आधारो पर प्रयुक्त करें, जिससे पारस्परिक विचार-विनिमय मे गडबडी न हो।

अब तत्त्वमीमासा का उद्देश्य है कि वह परम सत्ता की खोज करे, और उसके सम्बन्ध मे हमे ज्ञान दे। यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ है 'वैज्ञानिक ज्ञान'। वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने मे विधि, प्रयोग, तर्क इत्यादि अनेक बातें हैं। परन्तु उसकी एक विशेष विशेषता है कि उसमें ऐन्द्रिय अनुभूति अथवा प्रयोग का स्थान अवश्य रहता

है। इसकी सामग्रियां ऐसी होनी चाहिए, जिन्हें हम आँख, नाक, कान इत्यादि इन्द्रियो से जान सकते हैं। परन्तु यदि ईश्वर, परम सत्ता या आत्मा इत्यादि तत्त्व-मीमासा के विषय को हम इस ऐन्द्रिय अनुभूति के आधार पर जाँचना चाहें तो हमे कहना पडेगा कि तत्त्व-मीमासा की विषय-वस्तु ऐन्द्रिय नही है। अब यदि विज्ञान मे प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियात्मक अनुभूति का रहना अनिवार्य हो तो हमे कहना पडेगा कि तत्त्व-मीमासा विज्ञान नही है। अब चूँकि 'ज्ञान' से अर्थ विज्ञान का होता है और चूँकि तत्त्व-मीमासा विज्ञान नही है, इसलिए समसामयिक विचार मे तत्त्व-मीमासा को ज्ञान-विहीन शास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। फिर यदि तत्त्व-मीमासा का यही उद्देश्य हो कि वह परम सत्ता का विज्ञान हो और इस प्रकार के विज्ञान होने की उसकी सभावना हो नही, तो इसे विफल प्रयास ही कहा जायगा। इसलिए समसामयिक विचारधारा मे तत्त्वमीमांसा को अर्थहीन विफल प्रयास माना जाता है।

पर यदि हम तत्त्व-मीमासा को छोड दें और ज्ञान-मीमासात्मक दर्शन को ही दर्शन का शुद्ध रूप समझें तो क्या इस अर्थ मे दर्शन से किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है? समसामयिक विचारधारा के अनुसार विज्ञानो को छोडकर कही भी ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए 'दर्शन' मे भी ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता है। तो क्या तत्त्व-मीमासा के समान दर्शन भी निरर्थक विफल प्रयास है? हाँ, यदि हम सोचें कि दर्शन मे किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, तो क्या दर्शन का अध्ययन-अध्यापन छोड दिया जाय? नही। दर्शन का एक मुख्य काम रह जाता है। किसी भी विज्ञान मे भाषा को काम मे लाया जाता है और इसी को उपकरण (Instrument) मानकर किसी भी क्षेत्र की घटनाओ का अध्ययन किया जाता है। परन्तु यद्यपि हम भाषा के द्वारा सभी घटनाओ की खोज करते, उनके सम्बन्ध मे नियमो की स्थापना करते और उनके सम्बन्ध मे विचार-विनिमय करते, तो भी हम विज्ञान मे वैज्ञानिक रहकर भाषा पर विचार नही करते हैं। अब दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि वह भाषा पर ही विचार करे। इसी बात को हम दूसरे प्रकार से भी कह सकते है।

भाषा-विज्ञान और भाषा-दर्शन :—विज्ञान अपने क्षेत्र-विशेष की घटनाओ पर विचार करता है, परन्तु दर्शन विचार पर विचार करता है। विज्ञानो के लिए भाषा और विचार गौण हैं और घटना-विशेष ही मुख्य है। परन्तु दर्शन के लिए भाषा ही मुख्य विषय है। अब चूँकि ज्ञान घटनाओ का होता है और इसका सम्बन्ध साक्षात् रीति से विज्ञान के साथ होता है, इसलिए कहा जा सकता है कि विज्ञानो के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। फिर चूँकि दर्शन मे घटनाओ का उल्लेख साक्षात् रीति से नही होता, इसलिए कहा जाता है कि दर्शन मे ज्ञान नही होता है। यहां एक प्रश्न आपत्ति के रूप मे उठाया जा सकता है क्या भाषा-विज्ञान (Philology) विज्ञान नही है? सर्वप्रथम दर्शन भाषा विज्ञान नही है, क्योकि भाषा-

विज्ञान का काम है कि वह बताये कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई, और प्रत्येक शब्द और भाषा के अन्यान्य तथ्यो का कैसे विकास हुआ, और किस शब्द को किस अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है, इत्यादि। भाषा-विज्ञान विज्ञान है, क्योंकि इसके द्वारा भाषा-सम्बन्धी घटनाओ का साक्षात् रीति से अध्ययन किया जाता है। परन्तु, जब हम कहते है कि दर्शन का काम है कि भाषा या विचार पर विचार करे तो यहाँ इसका सही अर्थ होगा कि दर्शन भाषा-तर्कशास्त्र है। यह भाषा कोई हिन्दी, बँगला या जर्मन के समान भाषा-विशेष नही है। यह भाषा स्वय सभी भाषाओ के प्रति विचार करने के लिए तैयार की जाती है। यह उस व्यापक और सर्वोपरि तल की भाषा है, जिसके नियमो के अनुसार किसी भी विज्ञान मे किसी भी भाषा को काम मे लाया जाता है। यहाँ पर भाषा-विशेष और भाषा-दर्शन के बीच के अन्तर को एक-दो उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे, 'सिह सभी वन्यपशुओ का राजा है' और 'ईश्वर समस्त राजाओ का राजा है'। ये दोनों वाक्य व्याकरण के नियम के अनुसार एक ही प्रकार के वाक्य है, परन्तु भाषा-दर्शन के दृष्टिकोण मे इनमे अन्तर है। सिह हमारे प्रत्यक्ष अथवा निरीक्षण का विषय है, पर 'ईश्वर' हमारी ऐन्द्रिय अनुभूति का विषय नही है। इसलिए यदि हम 'सिह वन्यपशुओ का राजा है' को वर्णनात्मक वाक्य कहें, तो हम इसी प्रकार से 'ईश्वर समस्त राजाओं का राजा है' को वर्णनात्मक नही कह सकते हैं। इन दोनो वाक्यो को एक ही प्रकार का समझ लेने से दर्शन और धर्मदर्शन मे अनेक दोष आ गये हैं। उसी प्रकार यदि हम कहें कि 'गणित विद्यामन्दिर स्कूल मे पुरस्कार-वितरण करेगा' तो यह हिन्दी-व्याकरण के दृष्टिकोण से शुद्ध वाक्य कहा जायगा, परन्तु भाषा-दर्शन के दृष्टिकोण से इसे दोषपूर्ण वाक्य कहा जायगा। यदि हम 'पुरस्कार-वितरण' शब्दो को सही रीति से काम मे लायें तो कोई व्यक्ति इस कार्य के उपयुक्त हो सकता है, परन्तु गणित नही। भाषा-दर्शन के दृष्टिकोण से सही वाक्य होगा, गणित 'विद्यामन्दिर स्कूल मे पढाया जाता है,' और इसी प्रकार से सही वाक्य होगा कि 'शिक्षामन्त्री विद्यामन्दिर स्कूल मे पुरस्कार-वितरण करेंगे।' इसलिए दर्शन भाषा-दर्शन के रूप मे भाषा-विज्ञान से भिन्न है। इसलिए भाषा-दर्शन के रूप मे दर्शन विज्ञान नही है और यदि यह विज्ञान न हो तो इससे ज्ञान भी नही प्राप्त किया जा सकता है। तो क्या दर्शन भी तत्त्व-मीमासा के समान विफल प्रयास है ? इसके उत्तर देने के लिए हमे 'ज्ञान' प्रत्यय का थोडा विश्लेषण करना चाहिए।

दर्शन और ज्ञान :—वैज्ञानिक ज्ञान मे हमे किसी विषय की सूचना मिलती है, जो सत्य या असत्य ठहरायी जा सकती है। प्राय सत्यापन (Verification) का काम ऐन्द्रिय अनुभूति के ही आधार पर किया जाता है। जैसे, यदि कोई कहे कि इस कमरे मे एक काला कुत्ता है, तो इस कथन की पुष्टि या इसका मिथ्यापन आँख, हाथ, नाक इत्यादि के ही द्वारा ठहराया जा सकता है। परन्तु दर्शन मे साक्षात् रीति

से घटनाओ अथवा वस्तुओ से हमारा सम्पर्क नही होता है। इसलिए साक्षात् रीति मे घटनाओ की हमे ऐसी सूचना नही मिलती है, जिसे सत्य या असत्य ठहराया जा सके। इसलिए दार्शनिक प्रकथनो के विषय मे सत्यता या असत्यता का प्रश्न नही उठाया जा सकता।

यदि दर्शन को भाषा का तर्कशास्त्र या व्यापक व्याकरण माना जाय तो यह ठीक है कि इसमे सत्यता-असत्यता नही प्राप्त की जा सकती और इसलिए न तो वैज्ञानिक ज्ञान ही। पर क्या वैज्ञानिक ज्ञान मे केवल ऐन्द्रिय प्रदत्त (Data) या सामग्रियाँ ही पायी जाती हैं? कम-से-कम किसी भी विज्ञान मे वाक्य-रचना के नियम, वाक्यो के रूपान्तर करने की विधियाँ, वाक्यो की सश्लेषण-विधियाँ इत्यादि पायी जाती है। इन नियमो और विधियो के आधार पर सामग्रियो का तो नही, पर इन सामग्रियो को व्यवस्थित कर इनके सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसी प्रकार गाणितीय भाषा और उसके नियम है। गणितीय भाषा का भी साक्षात् सम्बन्ध घटनाओ से नही होता, पर किसी भी आनुभविक विज्ञान मे इसे काम मे लाकर वैज्ञानिक नियम को परिशुद्ध (Precise) भाषा मे व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए यद्यपि दर्शन मे सामग्रियो का ज्ञान नही पाया जाता तथापि इसके द्वारा भाषा-सुधार किया जा सकता है, ताकि इसके द्वारा विचार-विनियम या विचारो का आदान-प्रदान विना किसी गडबडी, दोष या गडबड-घोटाले के हो। दर्शन का यह उद्देश्य भी कम महत्त्व नही रखता, क्योकि यदि वास्तव मे भाषा परिशुद्ध हो जाय तो विचारो का आदान-प्रदान ऐसा हो सकता है कि आपस का मतभेद बहुत दूर तक मिट जाय। शायद धर्म-सम्बन्धी भेद विशेषतया कल्पना-रजित भाषा, उपमा, प्रतीक इत्यादि के व्यवहारो से हो गया है। यदि धर्म-भाषा को लोग समझने लगें और उस भाषा को परिशुद्ध कर पायें तो सभव है कि धर्म के नाम पर लगाये जानेवाले अनेक नारे फीके पड जायँ और पारस्परिक मेल मे योगदान प्राप्त हो जाय।

तत्त्वमीमासा के सम्बन्ध में विचार

उपर्युक्त जो बातें दर्शन और तत्त्व-मीमासा के सम्बन्ध मे कही गयी हैं, वे समसामयिक अनुभववाद से सम्बन्ध रखती है। अब अनुभववाद समसामयिक विचार-धारा मे प्रमुख स्थान अवश्य रखता है, पर अस्तित्ववाद (Existentialism) भी कम प्रभावशाली नही है। यदि अनुभववादी मत के अनुसार तत्त्व-मीमासा अर्थहीन कही जा सकती है, तो अस्तित्ववाद के अनुसार तत्त्व-मीमासा ही दर्शन का वास्तविक रूप है। मोटे तौर पर अस्तित्ववाद के अनुसार कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतत्र है कि वह अपने व्यक्तित्व का सच्चा विकास स्वय अपने कार्य-निर्णयो के आधार पर करे। जो व्यक्ति दूसरे की नकल करता, या बिना अपनी स्वतत्र

छान-बीन किये हुए आँख मूँदकर दूसरे के बताये मार्गो पर चलता है, वह औथेण्टिक*, जिन्विन व्यक्ति नही हो सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने मूलरूप को जान कर स्वतन्त्र रीति से उन्ही निर्णयो को अपनाना चाहिए, जिनमे वह सद्रूपी या औथेण्टिक व्यक्ति बन जाय।

दर्शन का स्वरूप —

अब अस्तित्ववादी भी परम्परागत तत्त्व-मीमासा की सभावना को नही मानते हैं। वे व्यक्ति के अपने सही रूप को जानने और साकार करने को ही जीवन और दर्शन का एकमात्र उद्देश्य गिनते हैं। परन्तु साधारणतया उन लोगो का मत वैसा तत्त्व-मीमासा-विरोधी नही कहा जा सकता जैसा तर्कनिष्ठ अनुभववादियों का है। इस पुस्तक मे दर्शन के उस स्वरूप को मान्यता दी गयी है, जिसमे परम्परागत, अस्तित्ववादी तथा अनुभववादी मतो का समन्वय हो जाय। 'परम्परागत मत को ध्यान मे रखकर समस्त अनुभूतियो को बुद्धि तथा मूल्यो के आधार पर समीकरण के प्रयास' को दर्शन माना गया है, अर्थात् दर्शन मानव-प्रयास माना गया है, जिसके द्वारा हमारी वैज्ञानिक, सास्कृतिक, दैनिक, नैतिक इत्यादि सभी प्रक्रियाओ को हम एक सूत्र मे बाँधकर उन्हें अपनी पकड मे ले आयें। फिर यहाँ यह भी माना गया है कि अस्तित्ववादी मत के अनुसार दर्शन को उस प्रकार की उत्प्रेरणात्मक प्रक्रिया माना जाय, जिसके द्वारा आत्म-विकास हो। इसलिए कहा गया है कि दर्शन सम्पूर्ण विश्व या उसके प्रति सर्वपटी अनुभूतियो का वह बौद्धिक चित्रण है, जिसके द्वारा मानवो के अन्दर समस्त प्राणियो तथा जगत् के प्रति स्थायी अभिवृत्ति ऐसी हो, जिससे व्यक्ति के अपने विकास मे और समस्त प्राणियो के विकास मे कल्याणकारी सहायता मिले। यह मत विशेषतया पूर्वीय है और यहाँ इस पुस्तक मे इसे विशेष स्थान दिया गया है। हाँ, अनुभववादियो के इस कथन को भी यहाँ माना गया है कि इस रूप मे दर्शन न तो वैज्ञानिक है और न इसके प्रकथन तर्कशास्त्र तथा गणित के समान परिशुद्ध (Precise) हो सकते हैं। परन्तु दर्शन को उपन्यास के समान कल्पना-रचना भी नही कहा गया है, क्योकि विश्व-चित्रण मे तर्कशास्त्र तथा विज्ञानो को आधार माना गया है। चूँकि अनुभववादी परम्परा मे वैज्ञानिक भाषा को आदर्श भाषा माना गया है, इसलिए तर्कशास्त्र तथा विज्ञानो को दर्शन का आधार मान लेने पर अनुभववादी पक्ष को भी स्थान देने का प्रयास किया गया है। अन्तर इतना अवश्य है कि अनुभववादी यह नही मानते कि दर्शन का उद्देश्य आत्म विकास है और इसलिए वे तर्कशास्त्र तथा विज्ञान-भाषा को दर्शन का मुख्य विषय मानते है। परन्तु

---

*प्रत्येक व्यक्ति का अपना मूल रूप होता है, जिसे अपने सस्कार के अनुसार साकार किया जाता है। इसलिए जो व्यक्ति अपने इस मूलरूप को पहचानकर इसके ही अनुसार इसे साकार करता है, उसे औथेण्टिक (authentic) प्राणी कहा जाता है।

इस पुस्तक मे आत्म-विकास को उद्देश्य और विश्व-चित्रण को मुख्य विषय माना गया है। इसलिए यहाँ तर्कशास्त्र तथा विज्ञान को गौण, लेकिन आवश्यक विषय माना गया है। इस पुस्तक मे कहा गया है कि दर्शन का उद्देश्य व्यक्तियो मे सभी वस्तुओ और प्राणियो के प्रति दिव्यदृष्टि उत्पन्न करना है अर्थात् उनमे एक ऐसी स्थायी अभिवृत्ति (attitude) हो जिससे उनमे और समस्त मानवो मे कल्याणकारी मूल्यो को चरितार्थ करने की उत्प्रेरणा हो सके। यह मत पूर्वीय दर्शन के स्वरूप के अनुसार है। यहाँ कहा जाता है कि इसमे परिशुद्ध प्रकथनो की भी आवश्यकता होती है और युक्तियो का भी पूरा स्थान है। पर, अनुभववादी परिशुद्ध प्रकथनो को अनिवार्य समझते और भाषा-दर्शन को ही दर्शन की सज्ञा देते हैं, परन्तु यहाँ भाषा-दर्शन को दर्शन का साधन-मात्र माना गया है। इसलिए इस मत के अनुसार युक्तियो के आधार पर न तो तत्वमीमासा को, न ईश्वर इत्यादि के अस्तित्व को निर्विवाद रीति से सिद्ध किया जा सकता है। दर्शन मे हम युक्तियो अथवा तर्क-वितर्क को उसी प्रकार काम मे लाते हैं जिस प्रकार न्यायाधीश के सामने वकील अपने पक्ष मे फैसला करवाने के लिए बहस करते हैं। अभियोग और सफाई के लिए दोनो पक्षो की ओर से घटनाओ का विवरण दिया जाता और उनके आधार पर जज किसी एक पक्ष मे फैसला देता है। उसी प्रकार विज्ञानो के निष्कर्षों तथा विधियो के आधार पर युक्तियो की सहायता से हम दार्शनिक रचना करते हैं, चाहे वे भौतिकवादी हो, प्रत्ययवादी हो या तटस्थवादी हो, इत्यादि। जिस प्रकार जज का फैसला कभी भी निर्विवाद तथा अनिवार्य नही कहा जा सकता, उसी प्रकार किसी भी दार्शनिक रचना को हम असदिग्ध और प्रमाणित नही कह सकते हैं। परन्तु, यहाँ कहा जा रहा है कि बिना दर्शन के मानवो की गतिविधि सचालित नही हो सकती और सभी को चेतन या अचेतन रीति से दर्शन को अपनाना पडता है। दूसरी बात यह कि आत्म-विकास और सर्वोदय ऐसे मूल्य है, जिन्हें हम किसी तर्क से सिद्ध नही कर सकते कि इन्हें सबको स्वीकार करना चाहिए, पर इन्हें हम मानवो के स्वतत्र निर्णय का परिणाम मानते है। इसलिये अन्तिम रीति से दर्शन मानवो की अपनी स्वतत्र रचना है और यह उनके अन्तिम निर्णय का परिणाम है। इन सारी बातो को ध्यान मे रखकर हम दर्शन की व्याख्या इस प्रकार कर सकते है

विश्व-दर्शन का स्वरूप—उपर्युक्त बातो के आधार पर दर्शन की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—अनवरत तथा प्रयत्नशील चिन्तन के आधार पर विश्व की समस्त अनुभूतियो की बौद्धिक व्याख्या तथा उनके मूल्याकन (Evaluation) के प्रयास को दर्शन कहा जा सकता है।*

* Philosophy is an unusually resolute and persistent attempt to understand and appraise our experiences of the world as a whole.

I सर्वप्रथम, दर्शन को चिन्तन कहा गया है, न कि ज्ञान या कल्पना। दर्शन को ज्ञान इसलिए नही कहा गया है कि 'ज्ञान' शब्द का अब प्रयोग वैज्ञानिक ज्ञान के लिए ही किया जाता है और दर्शन विज्ञान नही है। इसका कारण है कि विज्ञान का विशेष उद्देश्य है कि वह अपने क्षेत्र के विषय के सम्बन्ध मे हमे सूचना दे, जिसे सत्य या असत्य कहा जा सके। इसके लिए वैज्ञानिक कसौटियाँ है, जिनके द्वारा किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष की सत्यता जाँची जा सकती है। ठीक इसके विपरीत, दर्शन मे वे बातें हैं, जिन्हें देखकर हम कह सकते है कि दर्शन विज्ञान नही है।

(क) दर्शन मे हम समस्त अनुभूतियो अथवा समस्त विषयो के सम्बन्ध मे प्रकथन करते हैं। हम न तो समस्त अनुभूतियो को एक साथ लेकर उनकी वैज्ञानिक जाँच कर सकते हैं और न उनको एक-एक करके प्राप्त कर सकते है। शायद ही कोई ऐसा विचारक हो सकता है, जो वनस्पतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र, साहित्य इत्यादि सभी विषयो को एक-एक करके अधिकारी रूप मे जान ले। चूँकि दर्शन के अन्तर्गत समस्त अनुभूतियाँ आ जाती हैं, इसलिए यह विज्ञान नही हो सकता है।

(ख) दूसरी बात है कि दर्शन मे हम अपनी अनुभूतियो का मूल्याकन करते हैं और इसके लिए हमे आदर्श को अपना मापदड बनाना पडता है। परन्तु आदर्शो की वर्णनात्मक व्याख्या नही हो सकती है। कोई साहित्यिक भी पूर्णतया इसकी व्याख्या नही कर सकता कि वह क्यो कालिदास की रचना को, न कि शेक्सपीयर की रचना को अधिक प्रिय समझता है। उसी प्रकार दार्शनिक भी यह अभ्युपगम (Assumption) मानता है कि हमारी अनुभूतियाँ बोधगम्य हैं, अर्थात् वे हमारी समझ मे आ सकती हैं और परम सत्ता विचार-शून्य तथा मनमानी नही है। पर इस अभ्युपगम को क्यो सत्य माना जाय या क्यो स्वीकार किया जाय? शायद इसकी कोई युक्तिपूर्ण व्याख्या नही हो सकती है। यहाँ दार्शनिको को स्वतन्त्रता है कि वे किसी भी मान्यता को अपनाये। इस प्रकार दर्शन मे जैसी स्वतन्त्रता है वैसी स्वतन्त्रता विज्ञानो मे नही। इसलिए दर्शन को विज्ञान नही कहा जा सकता है।

अधिकाश दार्शनिक अब इस बात को मानेंगे कि दर्शन को विज्ञान नही कहा जा सकता है, चाहे पूर्वोक्त युक्तियाँ इस मत के समर्थन के लिए सतोपजनक कही जायँ या नही। अब यदि मान भी लिया जाय कि दर्शन विज्ञान नही है तो भी हम इसे कोरी कल्पना की उपज नही मान सकते। प्राय., कल्पना और विचार दोनो को रचनात्मक प्रक्रिया समझा जाता है। दोनो मे अन्तर यह है कि कल्पना मे दबी और दमित (Repressed) गाँठो (Complexes) से, बिना वास्तविकता पर ध्यान दिये हुए अधूरी युक्तियो से, रचना सचालित होती है। अब चूँकि एक व्यक्ति की दबी और दमित गाँठें अन्य व्यक्तियो की मानसिक गाँठो और आवश्यकताओ से भिन्न होते

हैं, इसलिए काल्पनिक रचनाओ मे अधिक छूट और आत्मनिष्ठता का पूरा स्थान आजाता है। इसके विपरीत, विचार-रचना मे वास्तविकता, परिशुद्ध युक्तियो तथा ज्ञानात्मक समस्याओ का हाथ रहता है। काल्पनिक रचना को आत्मनिष्ठ और विचार को अतिव्यक्तिक (Objective) अथवा सार्वजनिक (Public) कहा गया है। सार्वजनिकता और अतिव्यक्तिकता की मात्रा जितनी अधिक रहेगी उतनी ही वह रचना कम काल्पनिक कही जायगी। इसलिए इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि दर्शन कोरी काल्पनिक रचना नही है, हमे दिखाना पडेगा कि इसमे सार्वजनिकता, अतिव्यक्तिकता तथा समस्याओ पर भी ध्यान दिया जाता है। हाँ, दर्शन मे कल्पना तथा मानसिक गाँठो और आवश्यकताओ की भी अवहेलना नही की जा सकती है। अत, निम्न-लिखित कारणो से दार्शनिक रचना पूर्णतया आत्मनिष्ठ तथा कोरी कल्पना नही हो सकती है।

(क) सर्वप्रथम, दार्शनिक समस्त मानव-अनुभूतियो का चिन्तन करता है ताकि वह इनकी गुत्थियो को सुलझा सके। अब चूँकि आधुनिक काल मे मानव-अनुभूतियाँ विज्ञानो मे स्पष्ट तथा निर्विवाद रूप से मौजूद है, इसलिए दार्शनिक अपने मसालो को विज्ञान से ही लेता है। चूँकि विज्ञान किसी की मन-तरग पर निर्भर नही रहता है, इसलिए विज्ञानो (अर्थात् वैज्ञानिक, विधि और निष्कर्ष पर) आधारित रहने के कारण दार्शनिक का चिन्तन सार्वजनिक (Public) हुआ करता है।

(ख) द्वितीय, यह हो सकता है कि कोई दार्शनिक अपनी रुचि तथा विचारधारा के अनुकूल विज्ञानो की कुछ बातो को ले ले और अन्य महत्त्वपूर्ण बातो को छोड दे। शायद दार्शनिक की इस मनमानी को हम पूर्णतया कभी भी नही हटा सकते है। परन्तु फिर भी दार्शनिक की स्वतन्त्रता दर्शन के ऐतिहासिक निष्कर्षों से नियन्त्रित हो जाया करती है। दर्शन का इतिहास पुराना है और इसके विकास मे मे प्रमुख मनीषियो का हाथ है। अत, इसके विकास मे अनेक मौलिक सिद्धान्तो (Fundamental principles) की रचना हो चुकी है। इसलिए यदि आज कोई दार्शनिक चिन्तन करना चाहे तो उसे इन सब सिद्धान्तो पर पूरा ध्यान देना पडता है।

(ग) फिर दर्शन के इतिहास मे कुछ विचारधाराएँ निर्मूल सिद्ध हो चुकी है, कम-से-कम आधुनिक दार्शनिक को इन विचारधाराओ को छोडना ही पडता है। जिस प्रकार कोई अपने सस्कार को नही छोड सकता, उसी प्रकार दार्शनिक दर्शन के इतिहास से अपना पिण्ड नही छुडा सकता है। अत, दार्शनिक को अधिकार अवश्य है कि वह अपने इच्छानुसार अनुभूतियो को चुने या छोडे, किसी को कम और किसी को अधिक महत्त्व दे, पर उसकी यह स्वतत्रता दर्शन के इतिहास से नियन्त्रित, मार्गीकृत तथा अनुशासित होती है। तृतीय, दर्शन चिन्तन है और चिन्तन के अपने सर्वव्यापी (Universal) मन्तव्य (Postulates) और सिद्धान्त हैं। ये ऐसे सिद्धान्त

है कि प्रत्येक व्यक्ति ध्यानपूर्वक विचारने पर उन्हें स्पष्ट रूप से जान लेता है।' चिन्तन के नियम सभी विचारशील व्यक्तियो मे पाये जाते हैं और इसलिए किसी भी दार्शनिक को अपने चिन्तन मे मनमानी करने का अवसर नही मिलता है; क्योंकि उसे इन सब नियमो का पालन करना पडता है।

अत, दार्शनिको मे कितना ही अधिक मतभेद क्यो न हो, दार्शनिक रचना को वैयक्तिक तथा आत्मनिष्ठ मन-तरग नही समझा जा सकता है।

II. फिर हमलोगो ने दर्शन को 'अनवरत चिन्तनशील प्रयास' कहा है। इसका कारण है कि दर्शन के तर्क और इसके निष्कर्ष कोशी नदी की धाराओ के समान बदलते रहते हैं। दर्शन अतिव्यक्तिक (objective) रहने पर भी मत-मतान्तरों का घर है। शायद हम यही कह सकते है कि दर्शन-इतिहास के पाठ से हम गलतियो को सुधारना सीख लेते हैं, परन्तु हम किसी भी सिद्धात तथा स्थापित सत्यता को निश्चित रूप से नही अपना सकते हैं। अत, दर्शन का अध्ययन हमारे अज्ञान को दूर करता है और असाक्षात् रूप से ही ज्ञान-वृद्धि कर सकता है। इसका लाभ अभावात्मक है, न कि भावात्मक (Positive)।* इसका कारण है कि दर्शन अनुभूतियो के प्रति चिन्तन है। पर मानव-अनुभूतियाँ एक रूप मे नही पायी जाती हैं। प्राचीन काल मे धर्म तथा ईश्वर सम्बन्धी अनुभूतियाँ महत्त्वपूर्ण थी, परन्तु अब तो विज्ञान ही की तूती बोलती है। फिर यदि हम अपने देश और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर ध्यान दें तो अब समाज के आदर्श सगठन की ही चर्चा विशेष मालूम देती है। अत, युगो की अपनी माँगो के अनुसार विचारको को अनुभूतियाँ विभिन्न मालूम देती हैं और इसलिए दार्शनिक निष्कर्ष भी विभिन्न हुआ करते है। जो व्यक्ति दर्शन की इस विशेषता को नहीं समझते है, वे प्राय कहते है कि दर्शन समय और बुद्धि का अपव्यय है, क्योकि वे दर्शन की रचना को केवल हवाई किला मानते है। कुछ चतुरभाषी तो ऐसा भी कहते हैं कि दार्शनिक अँधेरे मे उस काली टोपी को धर-पकडना चाहते हैं, जो वहाँ है ही नही। परन्तु दार्शनिक इन तिरस्कारपूर्ण छीटो से खिन्न नही होता है। वह जानता है कि उसकी रचना से मानव का रास्ता साफ होता है। मानव के अपने विकास मे बल आता है, मानव का बौद्धिक क्षितिज बढता जाता है, मानव-समाज एक यात्री-झुण्ड के समान है। केवल आँख मूँदकर चलने से लाभ नही होता है। यात्री-झुण्ड के नेता को प्रत्येक पग पर टोह लगानी पडती है, ताकि वह जाने कि वह कितनी दूर तक पहुँचा है, किस दिशा मे जा रहा है, उसकी

* The gain from the study of philosophy is negative rather than positive It helps us to remove our errors but helps us little in having positive knowledge According to the *Advaita Vedanta* by emptying our mind of all empirical thoughts and feelings we can attain to the absolute *Chit* or consciousness.

यात्रा मे किस प्रकार की कठिनाइयाँ आ सकती हैं। उसी प्रकार मानव को अपने लक्ष्य की टोह लगानी पडती है और इस प्रकार दर्शन अपना महत्त्व रखता है। चूँकि रात अँधेरी है, रास्ता बीहड और गन्तव्य दूर है, इसलिए हमे पग-पग फूँक-फूँककर चलना है। दर्शन की खिल्ली उडानेवाले कहते हैं कि मानव आँखें मूँदकर ही चल सकता है और कही-न-कही, कभी-न-कभी उसे रास्ता मिल जायगा। दार्शनिको का कहना है कि मानव को रास्ता तय करना अवश्य है, पर सावधानी से टोह ले-लेकर चलने से मानव अनेक सकटो से अपने को बचा सकता है। चूँकि मानव को चलना ही है, चाहे आँख मूँदकर अटकल पच्चू रीति मे या सावधानीपूर्वक बुद्धि-विवेक से। पर वह हाथ-पर-हाथ धरकर या माथा टेककर बैठा नही रह सकता है। इसलिए दार्शनिको का कहना हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का कोई-न-कोई दर्शन अवश्य होता है, चाहे वह दर्शन समकालीन ज्ञानो पर आधारित समालोचनात्मक दर्शन हो, किंवा अबौद्धिक भित्ति पर आधारित हो, परन्तु दार्शनिक चिन्तन मानवो के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना सांस लेना या भोजन करना। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक है, चाहे वह आलोचनात्मक तथा जागरूक रीति से हो या रूढिग्रस्त समाज, जाति तथा टुकडियो से प्रभावित दर्शन को अपनाकर हो। अब यदि ऐसी बात हो तो दर्शन अनिवार्य है। अतः, चतुरभाषी चाहे कितना ही अधिक उसके इस प्रयास की हँसी क्यो न उडायें, परन्तु दार्शनिक अपनी समस्या को महत्त्वपूर्ण समझता है और उसके समाधान मे निरत रहता है।

III अभी तक हमलोगो ने इसे दिखाने की कोशिश की है कि क्यों दार्शनिक युगो से अनवरत प्रयत्नशील रहता है और क्यो एक युग का दर्शन दूसरे युग, देश और समय मे लोगो के हृदय मे नही चुभता है। प्रत्येक युग की अपनी विशेष समस्या होती है और उस युग के दार्शनिक को नये सिरे से समयानुकूल दर्शन की इमारत खडी करनी पडती है। हम यह भी जानते है कि वर्त्तमान काल मे विज्ञान मानव-अनुभूति का अमूल्य सग्रह है। यही कारण है कि जबसे विज्ञान की नीव जम गयी है तबसे दर्शन उससे बहुत प्रभावित हुआ है। कभी दर्शन विज्ञान के चमकते हुए **निष्कर्षो** से प्रभावित हुआ है, तो कभी वह **वैज्ञानिक विधि** (Method) से ही ओत-प्रोत हुआ है। परन्तु, विज्ञान का प्रभाव दर्शन के लिए हर समय कल्याण-कारी नही रहा है। इसका कारण है कि विज्ञान सभी प्रकार की अनुभूतियो का अध्ययन नही करता है। वे ही अनुभूतियाँ, जिन्हें हम गाणतिक (Mathematical) सांचो मे ढाल सकते हैं, विज्ञानो के अन्तर्गत आती हैं। विज्ञान इस प्रकार आशिक है, परन्तु दर्शन समस्त अनुभूतियो के पूर्णत्व अथवा समग्रत्व (wholeness) को आश्रय देता है और इसलिए दर्शन का क्षेत्र अति विस्तृत है। इसलिए दर्शन की कसौटी अधिक पूर्ण और व्यापक है। यही कारण है कि दर्शन विज्ञानो का समा-लोचनात्मक अध्ययन कर सकता है, परन्तु विज्ञानो के निष्कर्ष और विधि से दर्शन

के निष्कर्षों की माप नही हो सकती है। जब दार्शनिक विज्ञानो की सफलता मे चकाचौंध हो जाता है तब प्राय वह दर्शन को विज्ञान की कसौटी से जाँचने लगता है और ऐसा करने पर उसमे पूर्ण को अश से मापने का दोष आ जाता है। वर्त्तमान दार्शनिको मे अनेक ऐसे विचारक हैं, जो इस दोष से मुक्त नही है। इस प्रकार के विचारक प्राय दर्शन को भी एक प्रकार का विज्ञान ही समझते हैं। उनके अनुसार यदि दर्शन और विज्ञान मे कोई अन्तर है तो केवल विषय क्षेत्र का। विज्ञान का विषय विश्व के किसी विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रहता है, जैसे, वनस्पति-विज्ञान केवल वनस्पति का अध्ययन करता है, जीव-शास्त्र (Biology) जीवो का अध्ययन करता है, इत्यादि। परन्तु दर्शन का विषय मानव की सभी प्रकार की अनुभूतियाँ हैं। परन्तु विज्ञानो की यदि यह विशेषता हो कि वह आशिक (Partial) हो और दर्शन की यह विशेषता हो कि वह सम्पूर्ण हो, तो दर्शन और विज्ञान मे प्राकारिक (Kind) अन्तर हो जाता है, क्योकि 'आशिक' निरीक्षणीय हो सकता है और 'सम्पूर्ण विश्व' निरीक्षणीय नही हो सकता है। केवल निरीक्षणीयो को ही विज्ञान का विषय माना जा सकता है। और, इसलिए सम्पूर्ण विश्व को विषय बनानेवाले दर्शन को विज्ञान नही समझा जा सकता है।

अब यदि दर्शन विज्ञान न हो और फिर भी विज्ञानो के निष्कर्षो और विधि से प्रभावित हो तो हम दर्शन के स्वरूप को विज्ञान के सम्बन्ध मे किस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं ? शायद हम कह सकते हैं कि दर्शन विज्ञानो का विज्ञान है। कुछ अशो मे दर्शन का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है, परन्तु इस वाक्य से यह नही समझना चाहिए कि दर्शन का अध्ययन कर लेने से कोई व्यक्ति सभी विज्ञानो का भी ज्ञाता हो जाता है। इस वाक्य से केवल हम यही समझ सकते हैं कि सभी विज्ञानो के आधार मे कुछ सामान्य (Common) मन्तव्य तथा सिद्धान्त है और दर्शन का काम इनका अध्ययन करना है। जो मन्तव्य और सिद्धान्त सभी विज्ञानो मे सामान्य पाये जाते है वे, विज्ञानो का ढाँचा या रूप या आकार (Form) कहलाते हैं और आकार या रूप विज्ञानो की विषय-वस्तु (Content or matter) से भिन्न होता है। अत, दर्शन का काम है कि विज्ञानो के रूप का पता लगाये और उसके स्वरूप का अध्ययन करे। प्राय, दर्शन की इस शाखा को तर्कशास्त्र (Logic) तथा भाषा-वस्तु-सम्बन्धी शास्त्र (Semantics) कहते है और वर्त्तमान दर्शन मे इसके तार्किक भाववाद (Logical positivism), भाषा-विश्लेषणशास्त्र (Linguistics) इत्यादि प्रमुख अग हैं। चूंकि दर्शन विज्ञानो के सामान्य रूप का अध्ययन करता है, इसलिए इसे विज्ञानों का विज्ञान कहा जा सकता है। परन्तु विज्ञानो की कथा-वस्तु (Matter) को जानने का भार विज्ञान का है और उसके विषय मे दर्शन कुछ नही बता सकता है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि दर्शन विज्ञानो का विज्ञान कहा जा सकता है। परन्तु दर्शन को इस प्रकार समझने मे भी कुछ दोष आ जाते हैं, जिनसे पाश्चात्य दार्शनिको को बचाना कठिन है। इसका कारण है कि विज्ञान पूर्णतया वैचारिक या बौद्धिक (Intellectual)* व्यायाम है और इसमे मानव-सवेगों (Emotions) और मानव-लक्ष्यो की अवहेलना की जाती है। मान लीजिए कि हमे नक्षत्रो का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना हो तो हम मानव-इच्छाओ, सवेगो और उसके आदर्श का तिरस्कार कर नक्षत्रो का अध्ययन करेंगे। अत, वर्त्तमानकालिक विज्ञान को अवैयक्तिक-कृत (Depersonalised) ज्ञान कहते हैं। इसे समझने के लिए आदि-मानवो (Primitive people) के ज्ञान से विज्ञान की तुलना की जा सकती है। आदि-व्यक्ति पेड-पौधो, नदी-नालो इत्यादि मे देवी-देवता तथा नर-तुल्य शक्ति समझता है। वह प्रकृति का मानवीकृत (Humanised) तथा वैयक्तिककृत (Personalised) ज्ञान प्राप्त करता है।

विज्ञानो का अवैयक्तिककरण (Depersonalisation) जड पदार्थों के समझने के लिए ठीक है। पर, चूँकि वैज्ञानिक परम्परा अवैयक्तिककरण पर आधारित है, इसलिए या तो इसके अनुसार मानव भी जड-रूप मे समझे जाते है या मानव-आदर्शों को महाभ्रम समझकर छोड दिया जाता है। परन्तु दर्शन का काम है कि वह मानव-सम्बन्धी अनुभूतियो को उसी प्रकार अपने ध्यान मे रखे, जिस प्रकार वह वैज्ञानिक स्थितियो पर ध्यान देता है। दर्शन के प्रजातत्र मे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ समान महत्त्व नही रखती हैं। यह बात दर्शन के लिए विचारणीय है, क्योकि दर्शन तथा विज्ञान दोनो मानव की लक्ष्यपूर्ण तथा आदर्शपूर्ण प्रतिक्रियाएँ है और इसलिए किसी भी दर्शन मे मानव-लक्ष्य और उसके आदर्श की अवहेलना नही होनी चाहिए।

उस परम्परा के अनुसार, जिसमे विज्ञान के विचारवाद को पूर्णतया अपनाया जाता है, दर्शन को वैचारिक (Intellectual) ज्ञान-राशि समझा जाता है। इस परम्परा के अनुसार दर्शन का ध्येय हमारी समस्त अनुभूतियो को समझना या उनकी विचारशील व्याख्या करना है, परन्तु दर्शन की यह परम्परा अधूरी है। हमे अपनी अनुभूतियो को समझना ही नही है, बल्कि हमे उनका मूल्याकन भी करना है।

---

* बुद्धि (Reason) और विचार (Thought या Intellect) के बीच सूक्ष्म भेद है। बुद्धिवाद का अपना विशेष स्वरूप है, जिसकी व्याख्या पीछे की जायगी। उसी प्रकार विचार और सकल्प (Will) के बीच के अन्तर को समझने के लिए विचारवाद (Intellectualism) की अपनी व्याख्या है। मध्ययुगी दार्शनिकों में विचार और सकल्प का भेद विशेष महत्त्व रखता है, परन्तु यह भेद आधुनिक तथा समसामयिक दर्शन में भी कम महत्त्व नहीं रखता है। सभी विचारवादी को बुद्धिवादी (Rationalist) कहा जा सकता है, परन्तु सभी बुद्धिवादी को विचारवादी कहने में कठिनाई हो जाती है।

मूल्याकन करने के लिये हमे किसी कसौटी तथा मापदड (standard) की आवश्यकता पड जाती है। दर्शन में अनुभूतियो का मूल्याकन करने के लिए हमे आदर्शो (Ideals) को मापदण्ड बनाना पडता है। ये परम आदर्श सत्य, शिव तथा सुन्दरम् के नाम से विख्यात हैं। उदाहरणार्थ, हमे अपने दर्शन मे जानना होता है कि विश्व का नि श्रेयस् (Summum Bonum) क्या है और यदि विश्व का कोई नि श्रेयस् न हो तो क्या कोई मानव का भी नि श्रेयस् हो सकता है। इसी प्रकार का मूल्याकन 'सत्य' और 'सुन्दर' के आदर्शों के आधार पर भी किया जाता है। अत , दर्शन केवल मानव की समस्त अनुभूतियो की बौद्धिक व्याख्या ही नही है, अपितु इसमे उनका मूल्याकन भी किया जाता है।

यदि दर्शन का मुख्य उद्देश्य अनुभूतियो का मूल्याकन करना हो तो दर्शन का असली स्वरूप कलात्मक होगा, न कि वैज्ञानिक। मान लीजिए कि हमे किसी चित्र की सुन्दरता जाँचनी हो तो हम उसकी सुन्दरता को किसी तराजू पर तौल नही सकते या किसी गज-फुट से नाप नही सकते हैं। उसकी सुन्दरता को जानने के लिए हमे अपनी कलात्मक दृष्टि की आवश्यकता पड जाती है। उसी प्रकार समस्त अनुभूतियो के मूल्याकन मे दार्शनिक को कलात्मक ढग से देखना पडता है। अत , दर्शन कला है, परन्तु यह वैचारिक कला या विश्व-कविता है।

बौद्धिक या वैचारिक कला के रूप मे दर्शन का महत्त्व—दर्शन को वैचारिक कविता कहा जाता है और इसलिए इसे साहित्यिको की कविता से भिन्न समझना चाहिए। साहित्यिको की कविता का सम्बन्ध प्राय मानव-सवेगो (Emotions) से रहता है, इसलिए दोनो प्रकार की कविता के बीच के भेद को बताने के लिये कहा जाता है कि साहित्यिक कविता का स्थान हृदय है, परन्तु दर्शन-कविता का स्थान मस्तिष्क है। सुबोध होते हुए भी साहित्यिक और बौद्धिक कविता के बीच के भेद को हम इस रीति से व्यक्त नही कर सकते हैं। इसका कारण है कि 'हृदय' और 'मस्तिष्क' वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सतोषजनक शब्द नही हैं और इसलिए उनके माध्यम से कोई सतोषजनक भेद नही बतलाया जा सकता है। परन्तु शायद इसका मौलिक कारण यह है कि साहित्य-दर्शन और विश्व-दर्शन मे ही कोई मौलिक भेद नही है। अब जो भी भेद साहित्यिक कविता और वैचारिक कविता के बीच हो, हम कम-से-कम यहाँ वैचारिक कविता के स्वरूप को निम्नलिखित ढग से बता सकते हैं :

दर्शन-कविता को वैचारिक इसलिए कहा गया है कि इसका उपादान (Matter) विज्ञानो से लिया जाता है। फिर बहुत कुछ अशो मे दर्शनविधि वैज्ञानिक परम्परा से प्रभावित रहती है। अस्तु, इसके पारिभाषिक शब्द भी वैज्ञानिक पद्धति के समान परिशुद्ध (Precise) रहा करते हैं। कम-से-कम समसामयिक दर्शन मे भाषा-

परिमार्जन पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। इसलिए दर्शन को अपने युग की वैज्ञानिक सत्यता के अनुकूल होना चाहिए और आद्यन्त उसमे आत्म-विरोध का अभाव होना चाहिए। इन सब कारणो मे हम दर्शन मे बौद्धिक तथा वैचारिक आदर्श का पालन करते हैं। परन्तु साथ-ही-साथ इसमे कला का भी हाथ चला आता है। दार्शनिक विज्ञान के सभी निष्कर्षों का एक ही मूल्य नही लगता है। उसके लिए कुछ निष्कर्ष अन्य वैज्ञानिक सत्यता की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखते हैं। जैसे देकार्त के लिए गाणतिक स्पष्टता और परिशुद्धता (Clearness and Distinctness) विशेष महत्त्वपूर्ण थी और अरस्तू, हेगेल तथा ह्वाइटहेड के लिए जीव (Organism) का स्वरूप ही विशेष स्थान रखता है। फिर बर्ग्सों के लिए विकासवाद अपना विशेष महत्त्व रखता है। अब किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष को महत्त्वपूर्ण समझना, बनाना और उसके आधार पर अपना दर्शन रचना कलात्मक प्रयास है। अत, हम कह सकते हैं कि दर्शन वैचारिक कला है।

यदि दर्शन कला हो तो दर्शन मे मत-मतान्तर का रहना उसी प्रकार होगा, जिस प्रकार कला की रचनाओ मे देखा जाता है। यदि दस कवि 'कोयल' या 'मेघ' के ऊपर रचना करें तो विषय के एक रहने पर भी दस प्रकार की कविताए होगी। उसी प्रकार अनेक चित्रकारो ने आदर्श सुन्दर नारी का चित्र खीचा है, परन्तु उनके चित्र उतने ही हैं, जितने चित्रकार हैं। अब यदि धर्म, नीति, विश्व इत्यादि के विषय मे वैचारिक कला करनी हो तो यहाँ भी विभिन्नता देखने मे आयगी। यही कारण है कि दर्शन मे यदि उसी प्रकार की समरूपता खोजी जाय, जिस प्रकार की समरूपता (Uniformity) भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन-शास्त्र (Chemistry) इत्यादि विज्ञानो मे पायी जाती है तो यह अनुचित बात होगी। अतः, दर्शन की विविधता इसका दोष नहीं है, पर इसकी विशेषता है।

यदि हम कला के स्वरूप पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि कला मे किसी एक वस्तु-विशेष का निर्माण किया जाता है—जैसे, गोस्वामी तुलसीदास ने एक ग्रन्थ-विशेष की रचना की, जिसे हम 'रामचरित-मानस' कहते हैं या एप्स्टाइन ने नेहरू की मूर्त्ति बनायी, जो एक वस्तु-विशेष है। परन्तु कला-वस्तु का महत्त्व सर्वव्यापी (Universal) होता है। नेहरू की मूर्त्ति का महत्त्व मूर्त्तिकला (Sculpture) के दृष्टिकोण से तभी होगा, जब उस मूर्त्ति से नेहरू के जीवन और उनके सम्पूर्ण चरित्र पर पूरा प्रकाश पड जाय। उसी प्रकार 'रामचरित-मानस' का महत्त्व इसी मे है कि इससे मानव-धर्म और मानव-चरित्र-चित्रण के शाश्वत अगो पर प्रकाश पडे। अत कला-वस्तु सर्वदा कोई एक या विशेष वस्तु होगी, परन्तु इसका महत्व और मूल्य सर्वव्यापी होता है*। इसलिए वास्तव मे

* A work of art is an individual or a particular entity but its significance is truly universal and so goes much beyond it.

कलाकार अपनी कला मे गागर मे सागर भर देता है। इसमें विशेष और सामान्य (Universal) का बेजोड मेल देखने मे आता है। यदि दर्शन कला हो तो इसमे भी विशेष और सामान्य के सम्मिश्रण का सजीव उदाहरण मिलेगा।

चूँकि दर्शन मानव की समस्त अनुभूतियो से सम्बन्ध रखता है, इसलिए इसके निष्कर्ष व्यापक होते हैं। परन्तु किसी भी प्रकार के दर्शन को घटना-विशेषो (Particular events) के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए दर्शन मे विशेष और सामान्य का सम्मिश्रण रहना अनिवार्य है। पर हमे कला के रूप मे दर्शन के विशेष और सामान्य के सम्मिश्रण पर प्रकाश डालना चाहिए।

दर्शन मे हमे मानव की समस्त अनुभूतियो पर प्रकाश डालना चाहिये। परन्तु कोई भी दार्शनिक एक ही जीवन और समय मे गणितज्ञ, साहित्यिक, भौतिक शास्त्रज्ञ आदि नही हो सकता है। परन्तु समस्त अनुभूतियो के विषय दार्शनिक को कम-अधिक जानने पडते है। ऐसी दशा मे दार्शनिक का अपना कोई विशेष क्षेत्र होता है, जिसकी उसे विशेष जानकारी होती है। प्राय: अपने इस क्षेत्र में उसे कोई सृजनात्मक प्रत्यय या धारणा (Creative notion or concept) मिलती है और सृजनात्मक धारणा के आधार पर दार्शनिक समस्त अनुभूतियों की व्याख्या करता है, जैसे, न्यूटन ने सेव को नीचे गिरते देखा या वाट ने भाप से वरतन के ढक्कन को हिलते देखा या डार्विन ने पशु-पालको मे चयनात्मक (Selective) प्रक्रिया देखी, इत्यादि, और इन सृजनात्मक धारणाओ के आधार पर इन वैज्ञानिको ने अपनी रचनाएँ की है। उसी प्रकार दार्शनिक भी किसी एक क्षेत्र की कुछ प्रभावोत्पादक धारणाओ को ले लेता है और उनके आधार पर मानव की समस्त अनुभूतियो की व्याख्या और मूल्याकन करता है। प्राय उस धारणा-विशेष को, जिसके आधार पर अन्य सभी अनुभूतियो की व्याख्या की जाती है, रौढिक उपमा (Root metaphor) कहते हैं। अब रौढिक उपमा, जिसके आधार पर दर्शन की रचना होती है, दार्शनिक की सृजनात्मक प्रक्रिया पर निर्भर करती है और जब वह अपने किसी एक क्षेत्रविशेष मे आसानी से रौढिक उपमा के आधार पर घटना-विशेषो की व्याख्या कर लेता है तव वह इसकी व्याख्या-क्षमता (Explanatory capacity) को अन्य सभी क्षेत्रो मे सामान्यीकृत (Generalised) कर देता है, अर्थात् अन्य सभी घटना-विशेषो की व्याख्या इसी उपमा के आधार पर करने लगता है। अत, किसी भी दर्शन मे सृजनात्मक धारणा-विशेष का रहना अनिवार्य है और फिर इसे व्यापक रूप देने के लिए सामान्यीकरण भी नितान्त आवश्यक होता है। इसलिए वैचारिक कला के रूप मे दर्शन मे धारणा-विशेष और सामान्यीकरण का अनूठा मेल देखने मे आता है और इसलिए दर्शन को वास्तव मे कला समझना चाहिए।

परन्तु यदि हम दर्शन को कला मान लें तो इसमे सत्यता-असत्यता का प्रश्न उसी प्रकार नही उठता, जिस प्रकार किसी कविता के मूल्याकन करने मे सत्यता-असत्यता का विचार नही आता है । हम किसी कविता को अच्छी या असतोषजनक कहते हैं और उसी प्रकार से हम किसी के दर्शन को अच्छा, प्रभावशील, महत्त्वपूर्ण इत्यादि रीति से मूल्याकित कर सकते हैं । महत्त्वपूर्ण दर्शन वही होगा, जिसमे उपमा की ऐसी क्षमता हो कि उसके आधार पर अधिक से अधिक क्षेत्रो की घटनाओ पर अधिक-से-अधिक प्रकाश पड जाय । प्राय हम देखते हैं कि जिस क्षेत्र से सृजनात्मक धारणा-विशेष को लिया जाता है, उस क्षेत्र पर धारणा-विशेष विशेष प्रकाश डालती है और अन्य क्षेत्र जितने प्राथमिक (Primary) क्षेत्र से दूर होते हैं, इस उपमा से उनपर उतना ही कम प्रकाश पडता है । यहाँ हमे 'स्पष्ट करना' या 'प्रकाश डालना' की भी व्याख्या कर देनी चाहिए ।

जेनरल स्मट्स (Smuts) ने 'Holism and Evolution' नामक पुस्तक में दिखाया है कि अणु तथा जीवाणु से लेकर मानव की बौद्धिक प्रक्रियाओ तक मे एक सामान्य तथा व्यापक प्रवृत्ति है, जिसके अनुसार सभी वस्तुओ मे पूर्णत्व बनने का प्रयास देखने मे आता है । यदि छिपकिली की दुम कट जाय तो अपने अगो को पूर्ण करने के प्रयास-स्वरूप इसमे पुन दुम निकल आती है । ड्रिश (Driesch) ने इसके पहले दिखलाया था कि जीवो के भ्रूण (Embryo) मे पूर्णत्व की प्रवृत्ति है । यदि भ्रूण-विकास मे किसी अग की क्षति हो जाय तो इसी पूर्ण-प्रवृत्ति (Tendency to wholeness) के कारण उस क्षति की पूर्त्ति हो जाती है । जो बात भ्रूण-विज्ञान (Embryology) मे देखी जाती है, उसी पूर्णत्व के सिद्धान्त को पीरो (Pieron) ने मस्तिष्क (Brain) की कार्यवाही मे भी सिद्ध किया है। उन्होने और तत्पश्चात् लेश्ली (Lashley) ने दिखाया है कि मस्तिष्क के क्षेत्र-सीमन (Localisation) के साथ इसमे समक्रिया-क्षमता (Equipotentiality) भी है । परन्तु शायद पूर्णत्व अथवा समग्रत्व-प्रक्रिया के प्रति गेस्टाल्टवादियो के सिद्धान्त को इस समय विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जायगा । इस मनोविज्ञान-सम्प्रदाय ने प्रामाणिक प्रयोगो के आधार पर दिखलाया है कि मानव की दैहिक (Physiological) प्रक्रिया, चेतन-प्रक्रिया तथा व्यक्तित्व-विकास मे समग्रत्व (Wholeness) का नियम देखने मे आता है । फिर युङ्ग (Jung) ने अपने व्यक्तिकरण-प्रक्रिया (process of individuation) मे सिद्ध किया है कि प्रत्येक मानव मे चेतन और अचेतन के बीच सामजस्य के आधार पर व्यक्ति का पूर्णत्व प्राप्त होता है । अतः, उपर्युक्त अधिकारी विचारको के मत से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णत्व-प्रवृत्ति मानव की मौलिक प्रवृत्ति है और दार्शनिको की प्रक्रिया, जिससे मानव की समस्त अनुभूतियो की व्याख्या की जाती है, इसी मौलिक पूर्णत्व-प्रवृत्ति का बौद्धिक विकास है। अब दार्शनिको की पूर्णत्व-प्रवृत्ति तभी सतुष्ट समझी जायगी, जब उसकी बौद्धिक खुजलाहट समाप्त हो जाय । अत, दर्शन

के दृष्टिकोण से अनुभूतियो का स्पष्टीकरण (Explanation) तभी समझा जायगा जब दार्शनिक समाज की बौद्धिक खुजलाहट समाप्त हो जाय। फिर दार्शनिक मूल्याकन तभी सतोपजनक समझा जायगा, जब दार्शनिक को समाज के रागो, सवेगो और उनके आदर्शों की सतुष्टि हो जाय।

अत, दर्शन वैचारिक कला है, जिसमे दार्शनिक को बौद्धिक स्तर पर समाज के रागो, सवेगो, आदर्शों इत्यादि की सतुष्टि पूर्णत्व-प्रवृत्ति के अनुसार होती है।

दर्शन के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता —यदि दर्शन वैचारिक कला हो तो प्रत्येक युग और देश के उपयुक्त इसकी रचना करनी पडती है, ताकि इसके आधार पर उस युग और देश के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश पड सके और सामान्य रूप से लोगो की प्रक्रियाओ का मार्गीकरण हो सके। इसलिए यदि कोई इस समय के भारत मे पुरातन दर्शन से ही काम लेना चाहे, या पाश्चात्य पडितो की गवेपणाओ को दर्शन का मुख्य विषय समझ ले, तो उसका दर्शन फीका होगा और वह समसामयिक भारतीयो को प्रेरणा नही दे सकेगा। अत, भारतीयो के लिए भारतीय दार्शनिक ही पर्याप्त दर्शन दे सकते हैं, जो समयानुकूल हो। इसलिए मेरी समझ मे न तो वैज्ञानिक भौतिकवाद (Scientific materialism) ही, न शुद्ध शकरवाद ही और न बौद्ध-दर्शन इस समय के लोगो को पूर्ण ग्राह्य हो सकता है। शायद समय के तकाजे के आधार पर गाधीवाद तथा सर्वोदय-दर्शन भारतीयो के अधिक काम की चीज हो। पर जो भी उपयुक्त समसामयिक दर्शन हो, उसे इतिहास से पाठ सीखना होगा।

(क) पहली बात यह है कि मानव की समस्या एकाएक बदल नही जाती है। समस्या का पक्ष और पट बदलते हैं। इसलिए यह जानने के लिए कि मानव की चिरन्तन समस्याएँ क्या हैं, हमे दर्शन के इतिहास के पन्नो को उलटना पडता है। हमे जानना पडता है कि समस्याओ की कितनी व्याख्याएँ हो चुकी हैं। कुछ व्याख्याएँ इतनी भ्रमात्मक है कि हम इस समय उनकी मदद नही ले सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसी व्याख्याए भी है, जिन्हें हम पर्याप्त समझते है और उन्हें समयानुकूल बनाने मे केवल समसामयिक वेषभूषा की आवश्यकता है। इस प्रकार की व्याख्या को हम क्लासिक या उच्चकोटिक कहते है। प्लेटो, काण्ट, शकर, गौतम इत्यादि क्लासिक दार्शनिक हैं और उनकी रचनाए सभी दार्शनिको को जाननी चाहिए।

(ख) फिर दर्शन के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि विचार की भी गति-दिशा है और हमे जानना पडता है कि दार्शनिक धारा किस ज्ञात या अज्ञात दिशा मे जा रही है और इसे समझकर अपनी दर्शन-प्रक्रिया को उस गति-दिशा की ओर मोडना पडता है। शायद देवी-देवता, ईश्वर-सम्बन्धी विचार तथा वैयक्तिक साधना दर्शन की भावी मुख्य धाराओ मे विशेष स्थान नही रखेगी और दार्शनिक को अपने

विचार को सजीव बनाने के लिए उन्हें कम स्थान देना पडेगा या उनका रूप बदल देना पडेगा ।

प्राय लोग गति (Action or movement) पर अधिक ध्यान देते हैं और मानव-इतिहास मे सिकन्दर महान्, नेपोलियन, चगेज खाँ इत्यादि विजेताओ की गति का विशेष उल्लेख किया करते हैं। परन्तु वास्तव मे इतिहास की गति विभिन्न धारणाओ की गति है । सिकन्दर ने देशो को विजित इसलिए किया कि यूनानी सभ्यता का प्रसार किया जाय और नेपोलियन की विजय-आकाक्षा मे भी यही वात पायी जाती है । अत, इतिहास की गति विचारो का इतिहास है और इस दृष्टिकोण से दर्शन का इतिहास विशेष स्थान रखता है, क्योकि इसमे उन विचारों का जीता-जागता इतिहास है, जो मानव को उद्वेलित करते आये हैं । यही कारण है कि एच० जी० वेल्स ने अशोक को विश्व सम्राटो मे अग्रगण्य समझा है, क्योकि उन्होने विचार-पराक्रम के आधार पर विश्व-विजय की नीव डाली थी ।

(ग) फिर, प्राय दर्शन के इतिहास के अध्ययन से कभी-कभी नूतन धारणाएँ निकल आती हैं, जो विचारो मे क्रान्ति उत्पन्न कर देती है । हेगेल की द्वन्द्वात्मक विधि (Dialectic method) की धारणा सुकरात की प्रश्नोत्तर-विधि मे, प्लेटो की प्रेम विकास की सीढियो मे तथा काण्ट के अतिदर्शन[1] (Transcendental) द्वन्द्व (dialectics) मे अस्फुट रूप मे पायी जाती है, परन्तु शायद दर्शन के इतिहास मे मत-मतान्तर को सुलझाने के लिए ही हेगेल ने द्वन्द्वात्मक विधि को सफल समझा था। उसी प्रकार से समसामयिक (Logical positivist) तार्किक प्रत्यक्षवादी ने दर्शन के मत-मतान्तर से ऊबकर तत्त्व-मीमासा (Metaphysics) के प्रति 'अर्थहीन' प्रयास का सिद्धान्त खोज निकाला है । अत, दार्शनिको के लिए दर्शन का इतिहास विचारो की अमूल्य खान है, जिससे उसे मूल्यवान् मसाला मिलता है ।

(घ) अन्त मे दर्शन के इतिहास मे सिद्ध होता है कि मानव की ज्ञान-प्राप्ति की क्रिया उसकी रचनात्मक प्रक्रिया पर आधारित रहती है । यह बात अब विज्ञान-विधि के अध्ययन मे स्पष्ट हो जाती है कि मानव रचनात्मक ढाँचो (Moulds or forms) की स्थापना करता है और जो कुछ भी उसकी ज्ञान-प्रक्रिया के अन्दर आये, वह उसी प्रकार रूपान्तरित हो जाता है, जिस प्रकार खाद्य-पदार्थ पाचन-प्रक्रिया से रूपान्तरित होकर मास, मज्जा तथा रुधिर हो जाता है । इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य रूप से मानव ज्ञान तथा दर्शन को वैचारिक कला समझना ठीक है ।

---

१ 'Transcendent' शब्द दर्शन में कई अर्थों में लाया गया है। परन्तु काण्ट ने इस शब्द को अनूठे अर्थ में व्यवहार किया है और इसका अनुवाद मेरी समझ में 'अतिदर्शन' से किया जा सकता है। इसकी पूरी व्याख्या काण्ट के दर्शन के प्रसग में की जायगी ।

इस पुस्तक मे पाश्चात्य आठ प्रमुख दार्शनिको का सक्षिप्त, पर समीक्षात्मक अध्ययन है और उनमे निम्नलिखित बातो पर ध्यान दिया गया है .

(अ) सर्वप्रथम, प्रयास किया गया है कि प्रत्येक विचारक की अपनी समस्याएँ समझी जायँ और फिर देखा जाय कि उसने किस प्रकार से उनका समाधान किया है।

(ब) फिर दर्शन के काल-क्रम के साथ दिखाया गया है कि बाद के आनेवाले दार्शनिको पर पूर्व-दार्शनिको का किस प्रकार गहरा प्रभाव पडा है। इन आठ दार्शनिको का अध्ययन शृ खलाबद्ध रूप से ही हो सकता है। हम देखेंगे कि बेकन के सुधार-नारे का प्रभाव देकार्त और लॉक पर पडा है। फिर लॉक की गवेषणाओ को बर्कले ने एक पग बढा दिया और ह्यू म ने उन्हें एक दिशा मे चरमसीमा तक पहुँचा दिया है। इस प्रकार का क्रमबद्ध सम्बन्ध देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्स मे भी पाया जाता है। अन्त मे, हम देखेंगे कि काण्ट मे लॉक, बर्कले और ह्यू म के अनुभववाद (Empiricism) तथा देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्स के बुद्धिवाद (Rationalism) का अपूर्व सम्मिश्रण और रूपान्तरण है।

(स) फिर हम देखेंगे कि इन आठ पाश्चात्य दार्शनिको का प्रभाव समसामयिक पाश्चात्य दर्शन मे भी बहुत अधिक है। परन्तु इस पुस्तक मे केवल उनका सकेत-मात्र कर दिया जायगा।

(द) अन्त मे, हम पायेंगे कि इन आठ दार्शनिको के अध्ययन से हमारे सम-सामयिक जीवन पर भी प्रभाव पड सकता है और इसलिए इनका दर्शन अन्तर्राष्ट्रीय तथा सामयिक महत्त्व रखता है।

दर्शन के इतिहास का विभाजन—प्राय पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन मे निम्न-लिखित विभाजन किये जाते हैं :

(१) **प्राचीन दर्शन** (Ancient Philosophy)

(क) थेलस से लेकर अरस्तू का यूनानी दर्शन,

(ख) यूनानी-रूमी दर्शन,

(ग) अलेक्जेण्ड्रिया-सम्प्रदाय का नव-प्लेटोवाद।

(२) पाँचवी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक का **मध्ययुगीन दर्शन** (Mediaeval philosophy)

(३) **आधुनिक दर्शन**

(क) १५वी से १७वी शताब्दी तक का विचार-स्वातन्त्र्य, जिसे नवजागरण-काल (Renaissance) के नाम से पुकारा जाता है।

(ख) लॉक से काण्ट तक का प्रदीप्ति या प्रबुद्धकाल (Age of enlightenment)

(ग) अनुकाण्ट से लेकर हेगेल तक का जर्मन दर्शन।

(४) सन् १८६० से लेकर अबतक का समसामयिक या वर्त्तमानकालीन (Contemporary) दर्शन।

इस पुस्तक मे आधुनिक दर्शन का उल्लेख किया जायगा और यह भी काण्ट तक ही सीमित रहेगा।

आधुनिक दर्शन की विशेषताएँ :

आधुनिक दर्शन भूतपूर्व दर्शन के निष्कर्प और विधि का विरोधी है। हम देखेंगे कि वेकन ने पुरानी पद्धति को, जो विशेषतया निगमनात्मक (Deductive) थी त्यागने का नारा लगाया; साथ ही आगमन के प्रति विचारको का ध्यान खीचा है। यही बात देकार्त मे पायी जाती है और उन्होने नये सिरे से दर्शन की नीव डालने की घोषणा की है। फिर लॉक ने ज्ञान-मीमासा के लिए रास्ता साफ किया और काण्ट ने लॉक की इस समस्या को पूरा किया है।

मध्ययुगीन दर्शन की परम्परा के प्रति आधुनिक दार्शनिको के विद्रोह को देख-कर लोग समझते हैं कि मध्ययुगीन दर्शन वास्तव मे जर्जर हो चुका था। यह बात ठीक नही है। यदि मध्ययुगीन दर्शन बिलकुल क्षीण और निर्वल रहता, तो आज नव-टाम्सवाद के प्रति लोगो का इतना ध्यान नही जाता। फिर मध्ययुगीन दर्शन मे इतनी सूक्ष्म बातें छिपी हुई हैं कि हम कह सकते हैं कि मध्ययुगीन दार्शनिक अपने समय से आगे थे और इसीलिए उनकी खोजो की पूछ नही हुई थी। फिर मध्ययुगीन दर्शन मे सूक्ष्म विश्लेपण के आधार से बुद्धि को काफी तेज कर दिया गया था, ताकि भविष्य मे इससे अच्छा काम लिया जा सके। मध्ययुगीन दर्शन की विशेप त्रुटि इसी मे थी कि वह धर्म-केन्द्रित था और उस धर्म मे इतनी शिथिलता आ गयी थी कि वह लोगो को अनुप्राणित करने मे असमर्थ हो गया था। इसीलिए जब केप्लर, गैलीलियो, न्यूटन इत्यादि वैज्ञानिको ने दर्शन के लिए नया मसाला तैयार कर दिया तब दार्शनिको को मध्ययुगीन दर्शन फीका मालूम देने लगा। विज्ञान ने मानव को नया रास्ता दिखाया, उसे नयी आशा दिखायी और उसके मानव-क्षितिज का विस्तार किया। अत आधुनिक दर्शन विज्ञान-पोपित होने के कारण मध्ययुगीन दर्शन के निष्कर्षो और विधि का तिरस्कार करता हुआ प्रतीत होता है।

विज्ञान-पोषित होने के कारण दर्शन मे नवीन जागृति और अनुपम प्रगति आने लगी। विज्ञान मे व्यक्ति अपनी बुद्धि के आधार पर अनेक प्रयोग कर सकता है और अनेक नये-नये आविष्कार कर सकता है। परन्तु यह बात धर्म के लिए और विशेपकर सगठित धर्म के लिए लागू नही हो सकती है। धर्म-पद्धति मे रूढिवाद का रहना अनिवार्य है। यही कारण है कि आधुनिक दर्शन विज्ञान-पोषित होने के कारण बुद्धि की स्वाधीनता को स्वीकार करता हुआ रूढिवाद और सब प्रकार के आप्त (Authority) का विरोध करता है। पाश्चात्य परम्परा मे सर्वप्रथम यूनान ही मे

बुद्धि को जीवन की एकमात्र अधिष्ठात्री बनाकर एक सतोषजनक सभ्यता को कायम किया गया था। इसीसे आधुनिक दर्शन को इसी यूनानी परम्परा की पुनर्जागृति (Renaissance) कहा जाता है। अब जिस भी नाम से हम आधुनिक दर्शन को पुकारे, इसमे मानव-बुद्धि को, न कि किसी भी प्रकार के आप्त को, स्थान दिया गया है। अत, आधुनिक दर्शन व्यापक अर्थ मे बुद्धिवादी है। इस अर्थ मे अनुभववादी भी बुद्धिवादी कहे जा सकते हैं।

चूँकि सर्वप्रथम, बुद्धि नवीन आविष्कार करने मे समर्थ होती है, इसलिए बुद्धि पर आश्रित होने के कारण इस युग को आशावादी भी कहा जा सकता है। परन्तु यह आशावाद स्थायी नही रह पाया, क्योकि यदि व्यक्ति अपनी ही बुद्धि पर भरोसा रखे और व्यक्तिगत बुद्धि सत्यता की कसौटी हो तो व्यक्ति जितने प्रकार के होगे उतने ही प्रकार का दर्शन होगा और तब फिर उनकी सत्यता का कौन निर्णय करेगा? निरी बुद्धि ही के आधार पर दर्शन की रचना करने पर पहले अनुभववाद (Empiricism) और बुद्धिवाद का भेद हुआ। फिर स्वय अनुभववादियो और बुद्धिवादियो के बीच मत-मतान्तर खडा हो गया। लॉक के अनुसार भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार के पदार्थ हैं, परन्तु उनका स्वरूप नही जाना जा सकता है। इसी परम्परा के बर्कले के अनुसार आध्यात्मिक पदार्थ यथार्थ है, परन्तु भौतिक पदार्थ अयथार्थ। अन्त मे, अनुभववादी ह्यूम के अनुसार किसी भी प्रकार का पदार्थ यथार्थ नही है। इसी प्रकार बुद्धिवादी देकार्त का कहना है कि परम पदार्थ द्वैत है, स्पिनोजा के अनुसार अद्वैत है और लाइबनित्स के अनुसार विशिष्टाद्वैत है। अब ये जितने मत-मतान्तर हैं, सब बुद्धि पर अवलम्बित हैं और बुद्धि को छोडकर आधुनिक दर्शन के लिए कोई दूसरी कसौटी नही है, जिससे इन सब मतो की सत्यता जाँची जाय। अत, बुद्धि पर भरोसा रखने पर आधुनिक दर्शन मे निराशावाद की परिछाया देखने मे आती है। इस निराशावाद से आधुनिक दर्शन यूनानी-रूमी दर्शन के समान पगु इसलिए नही बना कि विज्ञान की निरन्तर प्रगति मानव की आशा को नित्य हरी किये हुए रही। इसलिए निराशावाद का एकमात्र यही परिणाम हुआ कि दार्शनिको ने अपनी समस्याओ को तत्त्व-मीमासा और ज्ञान-मीमासा (Epistemology) मे बाँट दिया। उन्होने देखा कि हम 'क्या' जानते हैं, यह बहुत अशो मे इसी बात पर निर्भर करता है कि हम किस प्रकार से सही जान सकते हैं। अब क्या हम जानते है, यह प्रश्न तत्त्व-मीमासा (Metaphysics or Ontology) के अन्तर्गत आता है। पर कैसे और क्या हम सही जान सकते हैं, ये प्रश्न ज्ञान-विवेचना के अन्तर्गत आते है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे पहली बार ज्ञान-समीक्षा की बात आधुनिक दर्शन ने उठायी है और इसलिए ज्ञान-समीक्षा आधुनिक दर्शन की भी विशेषता कही जायगी। अब जब बुद्धि-स्वातन्त्र्य ने निराशावाद की नीव डाली तो आधुनिक दार्शनिक इसके

झोके से परास्त नही हुआ। उसने आशा को न छोडकर नये सिरे से सोचना शुरू किया। विज्ञानो मे प्रगति जारी रहने के कारण आधुनिक दार्शनिको का बुद्धि में विश्वास जमा रहा। अत, यदि मत-मतान्तर हो और उनके बीच किसी प्रकार का निर्णय नही किया जा सके तो हमे ज्ञान के स्वरूप की ही विवेचना कर देखना चाहिए कि किस प्रकार से और किन मन्तव्यो पर ज्ञान सभव होता है। अत, आधुनिक दर्शन मे ज्ञान-समीक्षा विशेष रूप मे देखने मे आती है।

ज्ञान-समीक्षा के आधार पर दार्शनिको ने इस बात का निर्णय किया कि यदि दर्शन की रचना बुद्धि करे तो यह वैयक्तिक बुद्धि नहीं हो सकती है। काण्ट ने अपनी ज्ञान-मीमामा मे दिखाया है कि सभी ज्ञान मे कुछ पूर्वानुभविक (A priori) तथा सर्वव्यापी (U. iversal) अश हैं, जिनके आधार पर ज्ञान की रचना होती है। और, इसलिए वैयक्तिक बुद्धि से ज्ञान की व्याख्या नही हो सकती है। फिर अनुकाण्टीय (Post-Kantian) धाराओ मे दिखाया गया है कि वह बुद्धि, जिससे मानव-ज्ञान की रचना होती है, वही बुद्धि विश्व की भी रचना करती है। इस विचारधारा को अध्यात्म (Spiritualism) तथा प्रत्ययवाद (Idealism) भी कहा जाता है। अत, आधुनिक दर्शन प्रगाढ अर्थ मे बुद्धिवाद कहा जा सकता है और हम पाते हैं कि समसामयिक दर्शन उग्र रूप मे इसी बुद्धिवाद का प्रतिवाद करता हुआ दिखायी देता है।

आधुनिक दर्शन के आठ मुख्य दार्शनिको को प्राय दो सम्प्रदायो मे बाँटा जाता है। एक को अनुभववादी और दूसरे को बुद्धिवादी कहते हैं। शायद बेकन और काण्ट को इस विभाजन मे नही गिनना चाहिए। बेकन को अनुभववादी कहा जाता है, परन्तु वास्तव मे बेकन ने वास्तविक अर्थ मे किसी दर्शन की रचना नही की है। उन्होने केवल अपनी लेखनी मे भावी दर्शन के होने की घोषणा-मात्र की है। फिर काण्ट ने अनुभववाद और बुद्धिवाद के झगडे को मिटाने का प्रयास किया है और इसलिए उनके मत को समीक्षावाद (Criticism) कहना अधिक उपयुक्त होगा। अत, छह ही दार्शनिक बच जाते हैं। इनमे तीन ब्रिटिश है और तीन यूरोपीय। लॉक, बर्कले और ह्यूम तीनो ब्रिटिश अनुभववादी हैं और देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइब-नित्स बुद्धिवादी हैं। पाश्चात्य दर्शन मे अनुभववाद और बुद्धिवाद का झगडा पुराना और महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इन पारिभाषिक शब्दो की सही व्याख्या कर देनी चाहिए।

साधारण बोधात्मक और तर्कनिष्ठ अथवा गणितीय ज्ञान (Common-sense and Logico-Mathematical Knowledge)

हमलोगो ने दर्शन को उपमामूलक कहा है और यही बात बुद्धिवाद (Rationalism) और अनुभववाद के सिद्धान्तो मे भी लागू की जा सकती है। प्राय, अनुभव-वादी दैनिक और तथ्यात्मक (Factual) वैज्ञानिक ज्ञान को अपने दर्शन का आधार

मानते है और इसलिए उनके सिद्धान्त के मूल मे वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकार देखने मे आते है । यह बात विशेषकर समसामयिक अनुभववाद मे साफ स्पष्ट है । आधुनिक अनुभववादी ज्ञान-मीमासा की व्याख्या दैनिक ज्ञान को ही विशेष ध्यान मे रखकर करती है । इसके विपरीत, बुद्धिवादी गणितीय ज्ञान को ही अपने सिद्धान्त का मौलिक रूप मानते है । अब इन दोनो प्रकार के ज्ञान मे विशेष अन्तर है और यही कारण है कि आधुनिक ज्ञान मीमासा मे बुद्धिवाद और अनुभववाद का झगडा उठ खड़ा हुआ है । साधारण-बोधात्मक (Common-sense) ज्ञान प्राय इन्द्रियो पर आधारित होता है । मेज-कुर्सी, नदी-नाले इत्यादि का ज्ञान हम अपनी इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त करते है । साधारणबोधात्मक ज्ञान कामचलाऊ होता है और इसमे कोई अनिवार्यता (Necessity) नही पायी जाती । जैसे साधारणतया यह कहना ठीक है कि रोटी से प्राण-रक्षा होती है । पर, हम यह नही कह सकते कि रोटी से अवश्य ही प्राणो की रक्षा होगी । फिर यह कोई सोचना भी नही है कि जनसाधारण ज्ञान को असंदिग्ध माना जाय । हमे अनेक प्रकार के भ्रम होते ही रहते है । सर्प-रज्जु-भ्रम का उदाहरण सबको मालूम ही है । यह ठीक है कि आगे चलकर अनुभववादियो ने साधारणबोधात्मक ज्ञान को छोडकर वैज्ञानिक तथ्यात्मक ज्ञान को ज्ञान-मीमासा का मूलाधार बनाया है । इनमे तो साधारण और वैज्ञानिक ज्ञान के बीच विशेष अन्तर नही किया जाता है । कहा जाता है कि प्रचलित ज्ञान के सशोधित और परिशुद्ध (Precise) रूप को ही विज्ञान की सज्ञा दी जाती है । परन्तु साधारणबोधात्मक और वैज्ञानिक ज्ञान मे समता रहते हुए भी भेद है और इसी भेद के कारण ही आधुनिक और समसामयिक अनुभववाद मे भी अन्तर चला आता है । इस बात का उल्लेख बाद मे किया जायगा ।

प्रचलित अथवा साधारणबोधात्मक ज्ञान से विपरीत गणित के प्रकथन देखने मे आते है । इन प्रकथनो मे अनिवार्यता झलकती हुई दीखती है, जैसे, दो और दो मिलकर अवश्य ही चार होगे । इसी प्रकार की बात ज्यामिति के प्रमेयो (Theorems) मे है, जैसे किसी भी त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर अवश्य ही दो समकोण के बराबर होगे । परन्तु आधुनिक बुद्धिवादियो ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि गणितीय प्रकथनो का सम्बन्ध वास्तविकता से नही होता है । यद्यपि सम्पूर्ण ससार मे कोई गिनती की जानेवाली वस्तु नही भी हो तो भी दो और दो का योग चार वैध [1]

---

[1] वैध और सत्य (True) में बहुत का अन्तर है । सत्य वह प्रतिज्ञप्ति (Proposition) है, जिसे वास्तविक घटना या वस्तु के आधार पर जाँचा गया है । परन्तु 'वैध' में हमें इतना ही भर देखना है कि विचारने, बोलने अथवा निष्कर्ष निकालने के विधि-नियमों का पालन हुआ है । अरस्तू द्वारा वर्णित न्यायवाक्य (Syllogism) यदि सही हो तो इसे वैध और गलत हो तो अवैध कहा जायगा । अत वैध युक्तियों में वास्तविकता का प्रसग ही नहीं उठता है ।

(Valid) माना जायगा। फिर हम जानते है कि ज्यामिति के अनुसार रेखा वह है, जिसमे चौडाई न हो और धरातल वह है, जिसमे मोटाई न हो। परन्तु बिना चौडाई की रेखा और बिना मोटाई का धरातल किसी ने देखा नही है। हम कितनी ही सूक्ष्म रेखा क्यो न खीचें, लेकिन कुछ-न-कुछ चौडाई उसमे अवश्य होगी। अब ज्यामिति भ्रमपूर्ण नही है। ज्यामिति का उद्देश्य यह नही है कि यह देखी अथवा निरीक्षित रेखा, धरातल, विन्दु इत्यादि का अध्ययन करें। इसका काम इतना ही है कि परिभाषा के द्वारा दी गई रेखा, धरातल, विन्दु, त्रिभुज इत्यादि रूपो या आकारो के लक्षणो का अध्ययन करे। वास्तविकता मे परे परिभाषित शब्दो का खेल समझने मे दर्शन के प्रारम्भिक पाठको को कुछ आपत्ति हो सकती है। यदि वे किसी भी त्रिभुज के तीनो कोणो को नापें तो वे पायेंगे कि वे तीनो कोण मिलकर कभी भी ठीक-ठीक १८०° नही होते है। परन्तु, ज्यामिति का प्रमेय इससे असत्य नही हो जाता, क्योकि ज्यामिति का विषय कोई वास्तविक त्रिभुज नही है। ज्यामिति मे चित्रो की मदद केवल समझने और समझाने के लिए ली जाती है। परन्तु ज्यामिति की युक्तियाँ चित्रो के निरीक्षण पर आधारित नही रहती हैं।

अब गणितीय ज्ञान अथवा प्रकथनो के सम्वन्ध मे अनेक वातें की जा सकती है, परन्तु यहां इतना कहना पर्याप्त होगा कि गणितीय प्रकथन अवैध-वैध, अनिवार्य होता और यह वास्तविकता से परे रहता है। इसके विपरीत, तथ्यात्मक प्रकथनो मे असत्यता-सत्यता, सभाव्यता (Probability) और वास्तविकता देखने मे आती है। चूंकि आधुनिक अनुभववादियो ने तथ्यात्मक (Factual) प्रकथनो को ही ध्यान मे रखा, इसलिए उन्होने तर्कशास्त्र और गणित के प्रकथनो की पूरी व्याख्या नही की और वुद्धिवादियो ने तर्कशास्त्र और गणित के प्रकथनो पर अधिक ध्यान दिया, परन्तु उनकी भी व्याख्या अधूरी ही रह गयी है। इन लोगो ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि गणितीय अनिवार्यता इसीलिए है कि गणित मे वास्तविकता का प्रश्न नही उठता है। अब ससार मे कोई वस्तु हो या न हो, लाल हो या पीली, परन्तु हर समय मे यह युक्तिसगत होगा कि दो और दो मिलकर चार होंगे। अव यदि वास्तविकता से परे गणितीय प्रकथनो की भित्ति पर दर्शन की इमारत वुलन्द की जाय तो वह इमारत ठोस नही समझी जायगी। यह दार्शनिक इमारत केवल शब्द या प्रत्ययो की इमारत होगी। यही कारण है कि वुद्धिवादी देकार्त का (Cogito ergo sum (मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ), स्पिनोजा का द्रव्यनिष्ठ एकवाद (Monism) और लाइबनित्स का मोनडवाद (अध्यात्म-अणुवाद) केवल प्रत्ययात्मक किलेबन्दी हैं और उनके न कहने या स्वीकार न करने पर भी उनके दर्शन को यथार्थता अथवा वास्तविकता से कोसो दूर समझा जायगा। इसका कारण है कि वास्तविक वह है, जो इन्द्रियो के द्वारा देश-काल की परिमिति मे पाया

जाय। इस परिभाषा के अनुसार कोरा प्रत्यय ऐन्द्रिय नही है। इसलिए बुद्धिवादी दर्शन इन्द्रियो की अवहेलना कर केवल विचारो या प्रत्ययो की उधेड़-बुन मे ही रमा जाता है। अत, कहा गया है कि बुद्धिवादी अपने ही द्वारा ही रचे मकड़ी के जाल मे झूलता-झूमता रहता है।

परन्तु, यदि वास्तविकता का तथा तथ्यात्मक ज्ञान केवल सभावित ही हो सकता है तो इसमे अनिवार्यता की खोज भी भ्रमात्मक है और फिर अनुभव के आधार पर अनिवार्यता प्राप्त करना भी भ्रमपूर्ण ही कहा जायगा। इसलिए ह्यूम का सदेह-वाद (Scepticism) या अनुभववादी लॉक के अनुसार ईश्वर, आत्मा या नीति के सम्बन्ध मे अनिवार्य ज्ञान की सभावना अयुक्तिसगत है।

अनिवार्यता की व्याख्या—बुद्धिवाद और अनुभववाद को मिलाकर मतोपप्रद-वाद बनाने की कोशिश आधुनिक दर्शन मे काण्ट ने की और समसामयिक धारा मे अनेक विचारको ने की है। काण्ट के दर्शन को समीक्षावाद (Criticism) और समसामयिक सिद्धान्त को तर्कनिष्ठ अनुभववाद (Logical Empiricism) कहा जाता है। समीक्षा मे बहुत-कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं और मानना पड़ेगा कि बिना इस समीक्षावाद के समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद सभव नहीं होता, परन्तु काण्ट के दर्शन मे एक भ्रमात्मक रहस्यवाद की आधारभूमि है, जिसके कारण समीक्षा-वाद की देन अब उतनी बड़ी नही समझी जायगी जितनी ४० वर्ष पूर्व समझी जाती थी। इसका मुख्य कारण है कि बुद्धिवादी इस बात को सही नही समझ पाये कि गणितीय अनिवार्यता किस प्रकार प्राप्त की जाती है। देकार्त बहुत बड़े गणितज्ञ थे, परन्तु उनका गणित-दर्शन रहस्यवादी है। उनके अनुसार अनिवार्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई विशेष तर्कना या तर्कशक्ति (Faculty) है और इससे जन्मजात प्रत्यय (Innate ideas) प्राप्त किये जाते है। अब सार्वजनिक जांच न तो प्रज्ञात्मक मन-शक्ति की हो सकती है और न जन्मजात प्रत्ययो की और इसलिए इनके सम्बन्ध मे केवल मत-मतान्तर ही हो सकते है।

इसके विपरीत समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद के अनुसार किसी भी प्रकथनो की अनिवार्यता शब्दो की परिभाषाओ को सगत रीति से काम मे लाने पर प्राप्त की जाती है। यदि हम 'वध्या' का अर्थ समझते हो तो राम को वध्या माता का पुत्र कहना अवश्य ही अवैध होगा। उसी प्रकार यह अनिवार्य रीति से सत्य है—'लाल घोड़े मे विस्तार है' या 'बरसाती दिन आर्द्र होते हैं'। किसी भी शब्द की परिभाषा रुढि या परिपाटी पर निर्भर करती है। इसलिए कहा जा सकता है कि **किसी भी प्रकथन मे व्यवहृत पदो को उनकी रूढ (Conventional) परिभाषाओं के अनुसार संगत व्यवहार से अनिवार्यता प्राप्त की जाती है।** यदि हम 'बरसाती' और 'आर्द्र' की परिभाषा जानते हो और यह भी जानते हो कि किस प्रकार इन दोनो पदो को

एक साथ मिलाकर किसी प्रकथन की रचना कर सकते है, तो हमे मानना पडेगा कि हम कह सकते हैं कि 'बरसाती दिन अवश्य ही आर्द्र होगे'।

अब यदि हम तर्कनिष्ठ अनुभववाद और आधुनिक अनुभववाद के अन्तर को समझाने के लिए कह सकते है कि चूँकि उनकी प्रारम्भिक उपमाएँ (अर्थात् वे उपमाएँ, जिनके आधार पर उनकी ज्ञान-मीमासा प्रारम्भ होती है) विभिन्न हैं, इसलिए उनकी ज्ञान-मीमासा भी भिन्न हो जाती है। तर्कनिष्ठ अनुभववादी ने साधारण बोधात्मक ज्ञान को नही, बल्कि वैज्ञानिक ज्ञान को अपनी उपमा माना है और रसायनशास्त्र या भौतिकपदार्थ विज्ञान मे निरीक्षण और गणित तर्कशास्त्र का अविभाज्य सम्मिश्रण होता है। इसलिए गणितीय और तथ्यात्मक प्रकथनो मे से किसी एक को लेकर नही, वरन् दोनो को एक साथ लेकर उन्हें ज्ञान-मीमासा बनानी पडती है। यही कारण है कि गणित और तर्कशास्त्र के प्रकथनो की व्याख्या उन्होने रूढि या परिपाटी (Convention), न कि रहस्यपूर्ण जन्मजात प्रत्ययो के आधार पर की है। रूढि अनुभवजन्य मानव-व्यवहार है और इसकी मान्यता वही तक होगी, जहाँ तक इससे सतोषजनक उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। चूँकि रूढि अनुभव पर आश्रित है और परिवर्त्तनशील है, इसलिए वैज्ञानिक ज्ञान को आधार मान लेने से तर्कनिष्ठ अनुभववाद का क्षेत्र बढ जाता है और इसमे सगति के साथ ठोसपन भी चला आता है।

यह ठीक है कि तर्कनिष्ठ अनुभववाद मे बहुत बल है। परन्तु आधुनिक दर्शन मे अनुभववाद और बुद्धिवाद उस रूप मे नही समझे गये है, जिस रूप मे वे आधुनिक दर्शन मे देखने मे आते हैं, हमे उसी रूप मे उन्हें समझना होगा। इसलिए अब हम उनकी व्याख्या उसी रूप मे करेंगे।

बुद्धिवाद
(Rationalism)

'बुद्धिवाद' को व्यापक और उचित नामक दो अर्थों मे काम मे लाया जाता है। व्यापक अर्थ मे अब यह शब्द काम मे नही लाया जाता है, क्योकि इस अर्थ मे बुद्धिवाद वह दर्शन है, जिसमे आप्त (Authority) के बदले तर्कबुद्धि ही विचार की अन्तिम कसौटी है। प्राय, आप्त या आप्त-वचन शास्त्रो मे या शास्त्रियो के कथनों मे पाया जाता है। व्यापक अर्थ मे इस प्रकार बुद्धिवाद वह दर्शन है, जिसमे शास्त्रो, पवित्र ग्रन्थो या शास्त्रियो के कथनो को प्रामाणिक न मानकर स्वतन्त्र तर्कबुद्धि (Reason) को ही दार्शनिक ज्ञान की कसौटी माना जाता है। प्राय मध्ययुग मे बाईबिल, बाइबिल के टीकाकार तथा अरस्तू के ग्रन्थ इत्यादि को दार्शनिक ज्ञान का आधार माना जाता था। परन्तु इसके विपरीत आधुनिक दार्शनिको ने एकमात्र तर्कबुद्धि या तर्कना को ही दर्शन का आधार माना है। इसलिए इस व्यापक अर्थ मे आधुनिक दार्शनिको को

बुद्धिवादी कहा जाता है। परन्तु अब चूँकि पाश्चात्य दार्शनिक बाइबिल, वेद, शास्त्र या शास्त्रियो के मतो को दर्शन की कसौटियाँ नही मानते और न कोई अब इन्हें मापदण्ड मानने की आवश्यकता ही समझता है, इसलिए बुद्धिवाद को आप्तवचन-विरोध के अर्थ मे कोई स्वतन्त्रवाद नही गिना जाता है। इसलिए 'बुद्धिवाद' को इसके प्रचलित विशेष अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है।

फिर बुद्धिवाद को बौद्धिकता या वैचारिकता से भी अलग कर देना चाहिए। प्राय:, मनस् को ज्ञानात्मक (Cognitive), रागात्मक (Affective) तथा सकल्पात्मक (Conative) अधिकरणो (Faculties) या शक्तियो मे बाँट दिया जाता है। मनस् के इस विभाजन के प्रसग मे यदि कहा जाय कि दर्शन मे केवल ज्ञानात्मक प्रक्रियाओ का स्थान है, तो इस मत को भी प्राय. बुद्धिवाद कहा जाता है। परन्तु सही शब्द होगा—बौद्धिकता या विचारवाद (Intellectualism), न कि बुद्धिवाद। अत, इस अर्थ मे भी आधुनिक दर्शन मे बुद्धिवाद को नही लेना चाहिए। बुद्धिवाद की सही व्याख्या निम्नलिखित रीति से की जा सकती है —

बुद्धिवाद ज्ञानमीमासा का एक वाद है, जिसके अनुसार आदर्श ज्ञान गणित के सर्वव्यापी, असदिग्ध तथा अनिवार्य प्रकथन बुद्धिशक्ति के द्वारा प्राप्त आत्मगत प्रत्ययो के आधार पर सभव होते हैं।

उचित अर्थ मे बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि ही एकमात्र तर्कशक्ति है, जिसके द्वारा सर्वव्यापी (Universal) तथा असदिग्ध (certain) या अनिवार्य (Necessary) ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार का ज्ञान आत्मजात (Innate) प्रत्ययो (Ideas) पर आधारित रहता है। उदाहरणार्थ हम कहते हैं कि वे वस्तुएँ, जो किसी एक ही वस्तु के बराबर हो, तो वे आपस मे भी बराबर होगी। जैसे A और B मे से यदि प्रत्येक C के बराबर हो तो A और B भी एक-दूसरे के बराबर होगे। पर क्या कोई भी स्वयसिद्ध (Axiom) अनुभव के द्वारा प्राप्त अथवा प्रमाणित किया जा सकता है? यदि यह स्वयसिद्ध वाक्य मानव-अनुभव पर आधारित होता तो सार्वभौम या सर्वव्यापी नही हो सकता, क्योकि इसके अन्तर्गत असख्य उदाहरण आते हैं और असख्य उदाहरणो को किस प्रकार से अनुभव के द्वारा जाँचा जा सकता है? फिर हम यही कह सकते है कि अमुक घटना इस प्रकार घटती है, जैसे, सूर्य पूरब मे उगता है, पर हम यह नही कह सकते हैं कि सूर्य अवश्य ही पूरब मे उगेगा। अत, अनुभव के आधार पर सर्वव्यापी तथा अनिवार्य ज्ञान की स्थापना नही हो सकती है। इसका यह अर्थ नही है कि बुद्धिवाद मे अनुभव का कोई स्थान नही है। उसके अनुसार अनुभव से हमारे अन्दर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिससे हम आत्मजात प्रत्ययो को अपने मे जान लें। जैसे, बच्चे की प्रतिभा आत्मजात है, पर जब तक उपयुक्त परिस्थिति उसे नही मिले, उसकी प्रतिभा न तो निखरेगी और न किसी को इसका ज्ञान तक भी होगा। लेकिन अच्छा स्कूल हो, अनुकूल घर,

साथी और अन्य व्यवस्थाएँ हो तो वच्चे की आत्मजात प्रतिभा भी निखरेगी। इसी प्रकार वुद्धिवादियो का कहना है कि आत्मजात प्रत्यय सभी व्यक्तियो मे पाया जाता है। जव अनुभव के द्वारा व्यक्ति उपयुक्त उधेड-वुन मे पड जाता है और जव वह चिन्तन करने लगता है तव उसे उस समय ये आत्मजात प्रत्यय स्पष्ट होने लगते हैं। परन्तु वुद्धिवादी का कहना है कि आत्मजात प्रत्ययो के आधार पर जो सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान प्राप्त होता है, उसे अनुभव के द्वारा न तो प्राप्त किया जाता है और न प्रमाणित ही। अनुभव के द्वारा व्यक्तियो को इनसे केवल अवगत होने का अवसर-भर प्राप्त होता है और अनुभव के द्वारा न तो सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान की सामग्री (Materıal) मिलती और न उनसे इस प्रकार के ज्ञान की कसौटी ही प्राप्त की जा सकती है।*

आधुनिक दर्शन मे वुद्धिवाद के ये अग विशेप स्थान रखते है

(क) ज्ञान-प्राप्ति मे मन निष्क्रिय नही, परन्तु सक्रिय (Actıve) रहता है। इसलिए ज्ञान मे वाहर से कुछ नही मिलता है, परन्तु मन स्वय अपनी रचनात्मक प्रक्रिया से ज्ञान की रचना करता है। यह मन वडी स्पष्टता तथा उग्रता के साथ लाइवनित्स के दर्शन मे पाया जाता है।

(ख) मानव-मन मे कुछ आत्मजात प्रत्यय है, जिनकी पहचान यही है कि वे स्पष्ट (Clear) और परिस्पष्ट (Dıstınct) होते हैं। प्राय. ऐसे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट आत्मजात प्रत्यय गणितशास्त्र मे पाये जाते हैं। इसलिए ज्ञान का आदर्श गणित-शास्त्र मे पाया जाता है। वुद्धिवाद का यह लक्षण देकार्त, स्पिनोजा तथा काण्ट मे पाया जाता है।

(ग) फिर वुद्धिवाद के अनुसार अनुभव से सर्वव्यापी तथा अनिवार्य ज्ञान की स्थापना नही होती। यही नही, अनुभव की सम्भावना भी इन्ही आत्मजात प्रत्ययो के आधार पर होती है। इसलिए वुद्धिवादियो के अनुसार आत्मजात प्रत्ययो की व्याख्या अनुभव के आधार पर न होकर, स्वय अनुभव की ही व्याख्या इन प्रत्ययो के आधार पर की जा सकती है।

आगे चलकर काण्ट के दर्शन मे 'आत्मजात' शब्द की जगह पर 'पूर्वानुभविक' पद को काम मे लाया गया है और यह ठीक है कि 'पूर्वानुभविक' (A prıorı) की

---

* Experıence does not constıtute kkowledge but serves only an occasıon for the exercıse of reason as the faculty of ınnate ıdeas

इन सब वातों की व्याख्या देकार्त और काण्ट के दर्शन में विशेष रूप से की जायगी। इनका तो यह भी कहना है कि

Instead of 'experıence' valıdatıng ınnate ıdeas, ıt ıs the ınnate ıdeas which explaın the possıbılıty of experıence.

व्याख्या आत्मजात की भावना से भिन्न है तो भी बुद्धिवाद के प्रसग मे आत्मजात और पूर्वानुभविक को समकक्ष समझना चाहिए। इसलिए काण्ट को भी बुद्धिवादी परम्परा मे घसीटा जा सकता है। अब काण्ट के अनुसार चूँकि पूर्वानुभविक प्रत्यय आर साँचे अनुभव से पूर्व हैं, इसलिए उनसे अनुभव की व्याख्या होगी, न कि अनुभव से पूर्वानुभविक प्रत्ययो की व्याख्या हो सकती है।

(घ) बुद्धिवाद की सबमे बडी कठिनाई ज्ञान-कसौटी के सम्बन्ध मे देखी जाती है। किसी भी तथ्यात्मक विज्ञान मे सत्यता-असत्यता की जाँच यथार्थ घटनाओ के आधार पर की जाती है और यथार्थ घटनाओ को इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त किया जाता है। चूँकि सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान मे अनुभव की कोई रचनात्मक देन नही होती, इसलिए बुद्धिवादी ज्ञान-व्याख्या मे यथार्थ घटनाओ की चर्चा ही नही की जाती। हमलोगो ने पहले कहा है कि बुद्धिवादी ज्ञान-मीमासा मे गणितीय प्रकथनो को ही अपनी मूल उपमा मानते हैं और चूँकि गणितय प्रकथन वास्तविकता से परे होते हैं इसलिए बुद्धिवादी ज्ञान की कसौटी यथार्थ वस्तुएँ नही कही जा सकती हैं। प्रायः, अनुभववादी कहते हैं कि सत्य प्रकथन वे हैं, जो यथार्थ वस्तुओ के अनुरूप (Corresponding) हो। अब चूँकि बुद्धिवादी ज्ञान का आदर्श रूप गाणतिक प्रकथन हैं, जिनमे वास्तविक घटनाओ का निर्वाह नही किया जाता है, इसलिए अनुरूपता-सिद्धान्त को न मानकर आत्मसगति (Harmony or self-consistency) की ही कसौटी को बुद्धिवादी अपनाते है। इसे हम तर्कशास्त्र और गणित मे देख सकते हैं। इसलिए बुद्धिवाद के अनुसार वास्तव मे सत्यता का प्रश्न ही नही उठता। यहाँ केवल वैध-अवैध (Valid-invalid) का ही प्रश्न उठ सकता है। इसलिए बुद्धिवादियो के अनुसार सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान वह है, जिसमे प्रत्ययो की व्याघात-रहित आत्मसगत, सर्वग्राही व्यवस्था तथा सम्बद्धता (System) हो। यह बात उग्र रूप मे स्पिनोजा और लाइबनित्स के दर्शन मे पायी जाती है। आगे चलकर बुद्धिवाद की परिणति प्रत्ययवाद (Idealism) मे पायी जाती है और इस रूप मे हेगेल, ब्रैडले, बोसन्केट इत्यादि के दर्शन मे प्रत्ययो के व्याघात-रहित आपसी मेल या सगति को ही सत्यता की कसौटी समझा गया है।

अनुभववाद
(Empiricism)

अनुभववाद के अनुसार ज्ञान मानव-अनुभूति पर ही निर्भर होता है। इस शब्द 'अनुभूति' का एक ही अर्थ नही होता है। वास्तव मे कोई दार्शनिक ऐसा नही कह सकता है कि उसके ज्ञान का विषय ऐसा है, जिसका किसी को अनुभव नही हो। अतः, सभी दार्शनिको को अनुभव पर ही अपने ज्ञान की रचना करनी

पड़ती है। प्रश्न सिर्फ यह उठता है कि किस प्रकार की अनुभूति पर ज्ञान की रचना होती है ? जिसे हम अनुभववाद कहते हैं, उसके अनुसार ऐन्द्रिय ज्ञान ही मौलिक ज्ञान है।

अति सामान्य रूप से हम कह सकते है कि अनुभववाद वह दार्शनिकवाद है, जिसके अनुसार सभी भावनाएँ (Ideas) अनुभव (experience) से निगमित अथवा व्युत्पन्न (Derived) होती हैं। इसके तीन पद 'भावनाएँ', 'अनुभव' तथा 'निगमित' (Deduced) अथवा 'व्युत्पन्न' विवादास्पद हैं और बिना इनपर प्रकाश डाले अनुभव-वाद की व्याख्या एकदम अधूरी होगी। लेकिन यहाँ पर केवल इनसे सम्बन्ध रखने-वाली समस्याओ का ही उल्लेख-मात्र कर दिया जायगा।

'भावना' शब्द को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यक्ष, प्रत्यय (Concept), पद, निर्णय-वाक्य (Judgment), प्रतिज्ञप्ति (Proposition), प्रकथन (Statement), वाक्य (Sentence), मूलवाक्य (Basic proposition), अधिकृत कथन (Protocol statement) इत्यादि विषयो का उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार यह कहना कि भावना को अनुभव से व्युत्पन्न होना चाहिए, निश्चित नही कहा जायगा। 'व्युत्पन्न' को स्पष्ट करने के लिए प्रमाणीकरण, सत्यापन इत्यादि सिद्धान्तो की चर्चा की गयी है। फिर 'अनुभव' को स्पष्ट करने के लिए ऐन्द्रिय प्रदत्तो (Sense data) की व्याख्या की गयी है। परन्तु, यहाँ पर एक मौलिक प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या हम सभी प्रकथनो को ऐन्द्रिय अनुभव के द्वारा प्राप्त कर सत्यापित कर सकते हैं ? इसके सम्बन्ध मे दो प्रकार के अनुभववाद कहे जा सकते हैं—एक, आकृत्यन्तरवाद (Reductionism) (या तर्कनिष्ठ अनुभववाद) और दूसरा, मनोवैज्ञानिक अनुभववाद।

आकृत्यन्तरवाद (Reductionism)† —आकृत्यन्तरवाद की दो मुख्य मान्यताएँ हैं, अर्थात्

(१) सभी अर्थपूर्ण ज्ञानात्मक वाक्यो के दो ही वर्ग हो सकते है : (क) विश्लेपणात्मक (Analytic) और (ख) सश्लेषणात्मक (Synthetic)।

(२) सभी सश्लेषात्मक प्रकथनो की अर्थपूर्णता अन्तिम रूप से सरल ऐन्द्रिय प्रदत्तो अथवा भावनाओ (Ideas) के द्वारा ही निर्धारित की जा सकती है।

आकृत्यन्तरवाद की स्पष्ट मान्यता ह्यूम ने ही व्यक्त की थी कि जिनके अनुसार गणित के विश्लेषणात्मक और तथ्यात्मक विज्ञानो के संश्लेषणात्मक प्रकथन ही अर्थपूर्ण हो सकते हैं। अन्यथा सभी प्रकथन अर्थहीन कहे जा सकते हैं। उनकी उक्ति इस प्रसंग मे इस प्रकार है

---

* 'The most general formulation of empiricism is all ideas have been derived from experience'

† उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए · साधारण रीति मे इसे छोड़कर 'मनोवैज्ञानिक अनुभववाद', को पढ़ा जाय।

"यदि हम अपने हाथो मे किसी पुस्तक को लें (तब)—हम पूछें, क्या इसमे परिमाण या सख्या-सम्बन्धी अमूर्त्त तर्क है ? नही । क्या इसमे तथ्य तथा वास्तविकता-सम्बन्धी प्रयोगात्मक तर्क है ? नही । तब इसे अग्नि-विसर्जन कर दो, क्योकि इसमे वितर्क (Sophistry) और भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता है" ।*

अर्थात् ह्यूम के अनुसार अर्थपूर्ण प्रकथन या तो गणित के विश्लेषणात्मक प्रकथन हो सकते या तथ्यात्मक विज्ञानो के सश्लेषात्मक वाक्य हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त सभी प्रकथन केवल अर्थहीन हो सकते हैं। ह्यूम के इस मत को तर्कनिष्ठ भाववाद (Logical positivism) ने बाद मे चलकर दुहराया है।

फिर आकृत्यन्तरवाद का कहना है कि सवेदित छाप या ऐन्द्रिय प्रदत्त ही ऐसी सरल भावना है, जो ज्ञान का आरम्भ-बिन्दु कही जा सकती है। सभी प्रकार का ज्ञान यही से प्रारम्भ होता और फिर उनकी अन्तिम कसौटी भी यही है। इसलिए, आकृत्यन्तरवादी अनुभववादियो का कहना है कि सभी तथ्यात्मक जटिल ज्ञान की रचना अन्त मे इन्ही सरल सवेदित छापो के द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। बर्कले ने कहा था कि अन्त मे सभी पदार्थों का सार उनका प्रत्यक्ष-मात्र है (esse est percipi)। परन्तु, इस बात को लॉक और ह्यूम ने और अधिक स्पष्टता से कहा है:

'ये सभी उत्तुग विचार, जो मेघो के ऊपर मँडराकर स्वर्ग की ऊँचाई तक पहुँचते हैं, उनकी उत्पत्ति और नीव सवेदन और आत्म-निरीक्षण से प्राप्त भावनाओ से एक बिन्दु भी आगे नही बढ सकती हैं† ।

उसी प्रकार ह्यूम ने लिखा है

"हम अपनी कल्पना को स्वर्ग या ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक क्यो न दौडायें, वास्तव मे हम एक पग भी आगे नही बढते और न प्रत्यक्षो की सकीर्ण सीमा को छोडकर किसी भी प्रकार की वास्तविकता सोच सकते है।"

इसलिए ह्यूमी अनुभववाद के अनुसार सश्लेषात्मक प्रकथनो की अर्थपूर्णता अन्त मे प्रत्यक्षो की कसौटी से ही आँकी जाती है।

ह्यूमी आकृत्यन्तरवाद जिसके, अनुसार ज्ञान का रचनात्मक अग केवल प्रत्यक्षो से ही प्राप्त होता हैं, और मिल के अनुभववाद मे बहुत कुछ समानता है। मिल इस बात पर और अधिक जोर देते हैं कि सवेदनो के अतिरिक्त और किसी प्रकार प्रकथनो की व्युत्पत्ति हो ही नही सकती है, अर्थात् इनके अनुसार गणित तथा तर्कशास्त्र के प्रकथन भी प्रत्यक्षो के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। मिल ने यह

---

* An enquiry concerning Human Understanding—Edited by A L Selby Bigge, P 165

†Locke, J 'Essay on Human Understanding' की पक्ति के आधार पर लिखित ।

दिखाने की कोशिश की है कि प्रकृति-समरूपता (Uniformity of nature) तथा गणित के प्रकथन भी आनुभविक सामान्यीकरण (Empirical generalisations) हैं। इनके अनुसार हमलोगो ने अनेक बार दो और दो आम, केले, कुर्सियाँ इत्यादि पदार्थों को गिनकर चार पाया है और इसलिए गणित मे इन्ही अनुभूत उदाहरणो के आधार पर सामान्य प्रकथन करते है कि दो और दो मिलकर चार होगे, अर्थात् मिल विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक प्रकथनो मे भेद नही मानते है।

अब समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद को आकृत्यन्तरवाद (Reductionism) के रूप मे माना जाता है, और मिल के कठोर अनुभववाद का यह कहना कि गणित और तर्कशास्त्र के प्रकथन भी आनुभविक हैं, सही नही माना जाता है। इन दोनो प्रकार के भेदो को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है .

आकृत्यन्तरवाद (ह्यूम)	उग्र या कठोर अनुभववाद (मिल)
१. इसके अनुसार गणित और तर्कशास्त्र के विश्लेषणात्मक और तथ्यात्मक विज्ञानो के सश्लेषणात्मक प्रकथनो मे प्राकारिक अन्तर है और विश्लेषणात्मक वाक्यो की व्याख्या प्रत्यक्षो के द्वारा नही हो सकती हैं।	१ मिल के अनुसार विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक वाक्यो के बीच कोई प्राकारिक अन्तर नही है और विश्लेषणात्मक वाक्यो की भी व्याख्या प्रत्यक्षो के द्वारा की जा सकती है।
२. आकृत्यन्तरवाद का मुख्य उद्देश्य प्रकथनो की अर्थपूर्णता पर यथोचित प्रकाश डालना है और ज्ञान की सत्यता-असत्यता का प्रश्न इसके लिए गौण है। इसलिए इसमे सश्लेषणात्मक प्रकथनो का प्रामाणीकरण, सत्यापन इत्यादि पर अधिक जोर दिया गया है।	२ मिल के अनुसार ज्ञान की सत्यता-असत्यता का प्रश्न ही प्रमुख है और अर्थपूर्णता की समस्या प्रमुख नही है। इसलिए इसमे ज्ञान-प्राप्ति तथा उसकी मनोवैज्ञानिक व्युत्पत्ति पर अधिक जोर दिया गया है।

इन बातो को ध्यान मे रखकर हम आधुनिक अर्थात् मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें बता सकते हैं

मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के अन्तर्गत ये मुख्य अग हैं—

(क) जन्म के समय मन एक कोरे कागज या साफ प्लेट के समान रहता है और जो कुछ भी ज्ञान बाद मे प्राप्त किया जाता है, वह अनुभव के द्वारा ही इसपर अकित होता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि लाइबनित्स और काण्ट ने दिखा दिया है कि यदि हम मान भी लें कि जन्म के समय मन कोरा रहता है, तोभी अनुभववादियो का मत इससे स्पष्ट नही होता है। शायद स्वय लॉक भी, जिसने इस कथन की नीव डाली थी, इस बात को पूर्णतया स्वीकार नही करते हैं कि मन पूर्णतया कोरा सफेद कागज के समान रहता है। फिर भी अनुभववादी आत्मजात प्रत्ययो को

नही मानने के कारण मन के कोरेपन की कल्पना करते दिखाई देते हैं।

(ख) फिर हमलोगो ने देखा है कि अनुभववादियो के अनुसार ऐन्द्रिय अनुभव ही यथार्थ अनुभव है। इसमे आत्म-निरीक्षण (Reflection) या अन्तर्निरीक्षण को भी जोड लिया जाता है। अत, अनुभववादियो के अनुसार सवेदन (Sensation) और आत्म-निरीक्षण दो प्रकार की खिडकियाँ है, जिनसे मन-कूप मे ज्ञान-रश्मियाँ पहुँचती हैं।

(ग) अपितु, सवेदन और आत्म-निरीक्षण से जो ज्ञान के अश मिलते हैं, वे अति सरल (Simple) होते हैं और उनका आपसी सम्बन्ध आन्तरिक रीति से नही पाया जाता है। यदि उन्हें किसी प्रकार सम्बद्ध किया जाय तो सम्बद्धता वाह्य ही हो सकती है। अत, हम अनुभव के ही आधार पर यह नही कह सकते कि सूर्य और ताप मे अनिवार्य सबध है। यह सम्बन्ध अनुभववाद के अनुसार वाह्य सम्बन्ध है और इसके अनुसार ऐसी कल्पना की जा सकती है कि सूर्य से ताप न मिलकर ठढक मिले।

(घ) ज्ञान मे कोई भी आत्मजात अग नही है। यदि कोई सर्वव्यापी अग है, तो यह अनुभव का केवल विस्तार-मात्र है।

(ङ) चूँकि वाह्य परिस्थिति का ज्ञान अनुभववादियो के लिए विशेप स्थान रखता है, इसलिए इनके लिए सत्यता की कसौटी वस्तु-अनुरूपता (Correspondence) मे पायी जाती है।

'वुद्धिवाद' तथा 'अनुभववाद' इत्यादि के अतिरिक्त भी अनेक पारिभाषिक शब्द है, पर उनकी व्याख्या यथास्थान की जायगी। हमलोग अब वेकन का उल्लेख करेंगे, और तव वुद्धिवादियो की चर्चा करके अनुभववादियो की व्याख्या की जायगी और अन्त मे काण्ट का दर्शन इन सब मतो के समन्वय के रूप मे लिया जायगा।

(१) फ्रासिस वेकन (१५६१—१६२६)

वेकन अपने पेशे से वकील थे, परन्तु उनकी रुचि विज्ञानो मे थी। वे अग्रेजी भाषा के आदर्श गद्य-लेखक थे और आज भी लोग 'Bacon's Essays' वडे चाव से पढते है। उनका गद्य और उसकी शैली इतनी प्रतिभापूर्ण है कि कभी-कभी लोग समझते हैं कि वही वास्तव मे शेक्सपियर थे। परन्तु जितनी उनकी प्रतिभा थी, उतना उनका चरित्र उज्ज्वल नही था। जव वे न्यायाधीश के पद पर अधिष्ठित हुए थे तो घूस भी लिया करते थे। अन्त मे वे घूस लेने के अपराध मे पकड़े गये और उच्च पद से हटा दिये गये। उन्होने अपनी सफाई मे वताया था कि "मैं घूस अवश्य लेता हूँ, परन्तु घूस लेकर मैंने न्याय को नही छोडा है।" इन सब विरोधी गुणो के रहने पर 'पोप' नामक कवि ने उन्हें 'The greatest, brightest, meanest of mankind' का खिताव दिया है।

FRANCIS BACON (1561 to 1626)

वेकन का युग आशावाद का युग था। उसी समय चुम्बक लोहे और कम्पास को पता लगा था, जिसके सहारे नाविको को आशा हो गयी थी कि वे ससार-भर का भ्रमण आसानी से कर लेंगे। बारूद बनाने तथा छापाखाने का भी आविष्कार हो गया था, जिससे लोग समझते थे कि ज्ञान का प्रसार कुछ ही दिनो का खेल है। हार्वी ने रुधिर-सचालन के नियमो को सिद्ध कर दिया था और लोग समझने लग गये थे कि मानव अब दीर्घायु हो जायगा। ये सब बातें विज्ञानो के ही द्वारा प्राप्त की गयी थी। यही कारण है कि वेकन को विज्ञानो पर पूरी आस्था हो गयी थी। अत, वेकन के दर्शन मे दो बातें अवश्य मुख्य है, अर्थात् (१) प्रकृति को समझने के लिए हमें इसके नियमो को जानना चाहिए, और (२) प्रकृति तथा मानव के प्रति वैज्ञानिक ज्ञान का एकमात्र उद्देश्य है कि उससे मानव-कल्याण हो। चूँकि दूसरी बात पहली बात पर निर्भर करती है, इसलिए इसे पहले समझना चाहिए।

वेकन की आगमन-विधि (Inductive Method)

वेकन का नाम अगर किसी देन के लिए विख्यात है तो वह देन आगमन-विधि है। यह वह आगमन-विधि है, जिसके द्वारा प्रकृति-सम्बन्धी अज्ञात नियमो को ढूँढ निकालने की बात वेकन ने बताई थी। वेकन की आगमन-विधि दोषयुक्त अवश्य है, परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि दर्शन के इतिहास मे अग्रगण्य उन्हें समझा जाता है, जिन्होने कोई नया रास्ता दिखाया है। वेकन की प्रतिष्ठा इसी तथ्य मे है। यह बात दूसरी है कि कोई पथ-प्रदर्शक स्वयं निर्विघ्न रूप से पूरी मजिल तय करता है या नही। शायद पूरी मजिल तय करने मे पथ-प्रदर्शक अपने को पूरा सफल नही पाता है। वेकन के बारे मे भी यही बात सच है। समसामयिक मापदण्ड के आधार पर वेकन की विधि अधूरी जँचती है, पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उनकी विधि अपना विशेष महत्त्व रखती है।

वेकन के समय मे अनुमान की मुख्य विधि निगमनात्मक (Deductive) थी, जिसका आदर्श रूप अरस्तू के न्यायवाक्य (Syllogism) मे पाया जाता है, परन्तु हम जानते हैं कि न्यायवाक्य के निष्कर्षों की वास्तविक सत्यता उसके आधार-वाक्यो (Premises) पर निर्भर करती है, जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
राम एक मनुष्य है,
∴ राम मरणशील है।

यदि 'सभी मनुष्य मरणशील हो' और राम वास्तव मे 'मनुष्य' हो, तो 'राम मरणशील है' अवश्य ही सत्य होगा। परन्तु निष्कर्ष की वास्तविक सत्यता के लिए दोनो आधार वाक्यो को भी वास्तविक होना चाहिए। इसलिए प्रश्न उठता है कि हम किस प्रकार से आधार-वाक्यो की वास्तविक सत्यता को प्रमाणित कर सकते हैं?

वेकन के समय मे तार्किक तथा दार्शनिक किसी भी आधार-वाक्य को वास्तविक रूप से समझने के लिए धर्मग्रन्थो, अरस्तू की पुस्तको या अन्य अधिकारी लेखको की पुस्तको का अध्ययन करते थे। यदि आधार-वाक्य उन लेखो मे सही पाये जाते थे तो ये लोग उन्हें वास्तविक समझते थे, अन्यथा नही। जैसे, उस समय के दार्शनिक समझते थे कि सभी नक्षत्रो का परिक्रमा-पथ गोल है, क्योकि अरस्तू तथा प्लेटो ने यही लिखा था। परन्तु आधार-वाक्यो की वास्तविकता को सिद्ध करने की यह प्रणाली सर्वथा निन्दनीय है। प्रकृति-सम्बन्धी वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए प्रकृति का निरीक्षण करना चाहिए और वेकन ने जब निगमन की आलोचना कर आगमन के महत्त्व को दिखाना चाहा तो इस प्रसग मे उनके कथन मे विशेष बल दीखता है। वेकन ने तत्कालीन दर्शन की अप्रगतिशीलता के निम्नलिखित कारणो को बताया है —

(क) यथार्थ घटनाओ के निरीक्षण तथा प्रयोग के प्रति दुराग्रह तथा उदासीनता,

(ख) धर्म के प्रति अति झुकाव के कारण तथा धर्म-कठोरता से यथार्थ निर्णय तक पहुँचने मे अडचन का होना,

(ग) आचार, देशनीति तथा ईश्वरवाद मे ही सारे श्रम को खर्च कर देना और प्रकृति की ओर से मुँह मोडना,

(घ) आप्त या शास्त्रो के प्रति अतिशय आस्था रखना,

(ङ) प्रकृति-गवेषणा के प्रति कठिनाइयों को दूर न कर सकना।

यदि अरस्तू की विधि को पुराना नियम कहा जाय तो वेकन ने अपनी विधि को नया नियम (Novum organum) कहा है*। इस विधि के अनुसार हमे अधिकारियो से आधार-वाक्य नही प्राप्त करना चाहिए, परन्तु मन-मुकुर को सुधारकर पक्षपात-रहित रूप से प्रकृति के सम्बन्ध मे प्रश्न करना चाहिए। विना किसी कल्पना की सहायता से हमे इस प्रकार का प्रश्न रखना चाहिए कि जिसका समाधान होने से प्रकृति के रहस्यो का पता मिल जाय।† वेकन का मत था कि यदि हम पूर्वकल्पना (Hypothesis) वनाकर प्रकृति का अध्ययन करेंगे तो हमारा मन पहले से दुराग्रह (Prejudice) से भर जायगा और हमें प्रकृति-सम्बन्धी पक्षपात-रहित ज्ञान नही प्राप्त हो सकेगा। इसलिए वेकन ने दुराग्रहो से बचने के लिए हमे सावधान कर दिया है। उनके अनुसार निम्नलिखित दुराग्रहो से बचने पर ही हमे प्रकृति का निष्पक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

---

* अरस्तू ने भी आगमन-विधि की व्याख्या की है, परन्तु वेकन के समय यह लुप्तप्राय हो हो गयी थी।

† अंग्रेजी में वेकन का महत्त्वपूर्ण कथन है 'We must not *anticipate but interrogate nature*'.

जाति-दोष या भ्रम (Idola Tribus)— यह वह दोष है, जो मानव-जाति मे प्राय व्यापक रूप मे पाया जाता है। प्राय. लोग समझते है कि प्रकृति मे उसी प्रकार का उद्देश्य पाया जाता है जैसा मानव-प्रक्रियाओ मे रहता है। फिर लोग प्रकृति मे मानव लक्ष्यो को देखने की कोशिश करते है। इसलिए वे समझते हैं कि चाँद, सूर्य, पेड, पौधे इत्यादि सभी मानव के लिए ही बनाये गये है। इसलिए जब बेकन ने कहा कि बिना भांपे हुए ही प्रकृति को समझने की कोशिश करनी चाहिए तो बेकन चाहते थे कि प्रकृति को निष्पक्ष रूप से जानने के लिए मानव-लक्ष्य का आरोप प्रकृति मे नही होना चाहिए। हम आगे चलकर देखेंगे कि स्पिनोजा ने भी प्रकृति के मानवीकरण की कडी आलोचना की है। अत', स्पिनोजा की आलोचना की पूर्वछाया बेकन के कथन मे भी पायी जाती है।

शिक्षा-दोष (Idola Specus)—यह दोष जाति-दोष से कम व्यापक है, परन्तु दार्शनिको के लिए उपादेय है। यह व्यक्तिगत (Personal) दोष है, जो उनके अपने विशेष सस्कार से उत्पन्न होता है।* प्रत्येक दार्शनिक की शिक्षा-दीक्षा किसी विचार-सम्प्रदाय मे हुआ करती है और इस कारण से दार्शनिक कूप-मण्डूक के समान सोचता है कि जो कुछ उसकी विचार-शैली से ही मेल नही खाता है, वह असत्य है। कहा भी गया है कि 'सावन के अन्धे को सभी कुछ हरा दीखता है'। प्रायः विज्ञान की सफलता से चकाचौध होकर दार्शनिक समझते है कि जो कुछ वैज्ञानिक परम्परा के अनुकूल न हो वह असत्य और भ्रमात्मक है। अत दर्शन मे सकीर्णता के आने का विशेष कारण इसी कोटरी दोष (Idola of the cave) से स्पष्ट हो जाता है।

चलती भाषा से उत्पन्न दोष (Idola fori)† — अपने व्यावहारिक जीवन मे हम अनेक शब्दो और मुहावरो को काम मे लाते है। यदि हम सतर्क न रहें तो इन चलते मुहावरो से भी हमारे विचार मे दोष आ जाते है।‡ प्राय. हम समझते हैं कि विचार से भाषा नियन्त्रित होती है, परन्तु वास्तव मे भाषा मे ही विचार नियन्त्रित हो जा सकता है। जैसे, हम जानते हैं कि सूर्य उदय-अस्त नही होता है, पर फिर भी व्यवहार मे उदय-अस्त होने की बात कहते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि लॉक और बर्कले ने भी शब्द-जाल से बचने के लिए हमे चेतावनी दी है। वर्त्तमानकाल मे तार्किक भाववादी (Logical positivist) हमे

---

* The Idola of the cave take their rise in the peculiar constitution, mental or bodily, of each individual, and also in education, habit and accident

† इसे 'The idola of the market place' भी कहते है। 'Fori' शब्द Forum से निकला है, जिसका अर्थ है 'बाजार'।

‡ बेकन ने लिखा है कि 'the ill and unfit choice of words wonderfully obstructs the understanding'

बताते हैं कि दर्शन मे भाषा ही सब कुछ है। जिस जाति में जैसे शब्द होंगे, उस जाति मे उसी प्रकार की विचार-परम्परा पायी जायगी। तार्किक भाववादियों के कथन मे अतिशयोक्ति हो, पर फिर भी दर्शन के इतिहास मे स्पष्ट हो जाता है कि भाषा को सही रीति से काम मे न लाने पर अनेक प्रकार की गड़बड़ियाँ आ गयी हैं। अत, बेकन ने जो कुछ भाषा-दोष के सम्बन्ध मे कहा है वह सामयिक चेतावनी है।

दार्शनिको की परिकल्पना का दोष (Idola Theatri)— यह दोष शिक्षा-दोष के समान ही है, पर इसका प्रकोप दार्शनिको मे विशेष रूप मे बताया गया है। इसका सकेत बेकन के समकालीन दार्शनिको की ओर है, जो कोरी युक्तियो को मानव-अनुभूतियो से श्रेष्ठ समझते थे। फिर बिना परीक्षा किये गये अनुभवजन्य (Empirical) नियमो को सत्य मान लेने से इस प्रकार का दोष हो जाता है। जैसे—खुरवाले पशु पागुर करते हैं। इस नियम को कामचलाऊ समझा जायगा न कि असदिग्ध। अपितु, अधविश्वास पर आधारित ज्ञान को अपनाने से भी यह दोष हो जाता है, जैसे, 'सभी नक्षत्रो का परिक्रमा-पथ गोलाकार ही है'। परन्तु इसे अधविश्वास तथा मनगढन्त ही समझना चाहिए।

आगमन-विधि का लक्ष्य— जब हम सभी प्रकार की भ्रान्तियो और दोषो से अपने मन को शुद्ध कर लेते है तब हम इस योग्य हो जाते हैं कि प्रकृति का पक्षपात-रहित अन्वेषण कर लें। प्रकृति-अन्वेषण की मुख्य विधि निरीक्षण (Observation) है। प्राय, आगमन मे घटनाओ का कारण खोज निकाला जाता है, परन्तु बेकन अरस्तू के कारण-सम्बन्धी सिद्धात से प्रभावित थे। अरस्तू के अनुसार कारण चार भागो मे बाँटा जा सकता है, अर्थात् (१) रूप-विषयक (Formal), (२) द्रव्यवाची (Material), (३) निमित्त कारण (Efficient) (४) परिमाणवाची (Final cause)। बेकन ने अरस्तू के केवल रूप-विषयक कारण ही को अपनी विधि मे स्थान दिया है। अत, निरीक्षण के द्वारा आगमन-विधि का उद्देश्य है कि वस्तुओ के रूपो को जान लिया जाय। परन्तु, प्रश्न उठता है कि वस्तुओ का रूप किसे कहते है, जिन्हें बेकन खोज निकालना चाहते हैं? यहाँ बेकन का मत स्पष्ट नही है और इसके सम्बन्ध मे कई अटकलें लगायी गयी हैं। सर्वप्रथम, रूप से समझा जाता है वस्तुओ का वह गुह्य (Hidden) या छिपा हुआ आधार, जिससे इनका प्रतिभास (Appearance) या लक्षण उत्पन्न होता है। द्वितीय, वस्तुओ के उत्पादक स्वरूप को रूप कहा जाता है, और तृतीय, घटनाओं के नियम को उनका रूप समझा जा सकता है, क्योकि बेकन के अनुसार जो कोई वस्तुओ का रूप जान लेता है वह वस्तुओ के गौण (Secondary) गुणो[1] को भी समझ लेता है कि वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं[2]। फिर रूप

१ वस्तुओं के लक्षणों का प्राथमिक (Primary) और गौण भागों में देकार्त, लॉक, इत्यादि के अनुसार बाँटा गया है। इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या यथास्थान होगी। ठढा, गरम,

से अर्थ निकाला जाता है कि यह वस्तुओ का वह गुण है, जिसके रहने से उनके अन्य सभी गुणो के भाव (Presence) या मौजूदगी का बोध कराया जा सके। पुन 'रूप' से वह सारतत्त्व (Essence) समझा जाता है, जिसे अणु (Atoms) भी कहा जा सकता है।[3] अब जो कुछ भी वेकन के 'रूप' की व्याख्या हो, कम-से-कम उससे हम निम्नलिखित ये बातें नही समझ सकते हैं

१ वस्तुओ का बाहरी दिखलाव या प्रतिभास

२ फिर 'रूप' प्लेटो के 'प्रत्ययो' से भिन्न है।

३ यद्यपि 'रूप' का अर्थ 'नियम' किया गया है तोभी 'रूप' का अर्थ कम-से-कम 'वैज्ञानिक नियम' नही समझा जा सकता है।

शायद वेकन के 'रूप' का अर्थ है वस्तुओ का छिपा हुआ वह अणुसम तत्त्व, जिसके परिवर्त्तन से वस्तुओ मे सभी प्रकार के परिवर्त्तन होते हैं। हम कह सकते है कि Bacon's forms are not abstract ideas, but are highly general physical properties which cause actions in simple bodies By knowing them, he believed, that the control of nature will be greatly increased अत, 'रूप' से अरस्तू के 'सर्वव्यापी प्रत्यय' तथा वैज्ञानिक नियम के बीच की धारणा की अर्थ-व्यजना होती है, जिसे निश्चित रीति से बताना कठिन है। इसका मुख्य कारण है कि स्वय वेकन की धारणा वैज्ञानिक आगमन के सम्बन्ध मे वर्त्तमानकालिक दृष्टिकोण से पिछडी हुई है और यही कारण है कि वेकनीय रूप' के सही अर्थ का बोध नही होता है। खैर, जो कुछ भी अर्थ वेकन के रूप का लगाया जाय, वेकन ने इसे जानने की उन विधियो का उल्लेख किया है, जिन्हें मिल की प्रयोगात्मक विधियो की पूर्वछाया कहा जा सकता है। सबसे पहले, वेकन के अनुसार हमे उन उदाहरणो को इकट्ठा कर लेना चाहिए, जिनमे खोज के विषय की घटनाएँ पायी जायँ। जैसे, यदि हमे ताप का रूप जानना हो तो हमे उन सब वस्तुओ की तालिका (Table) बनानी चाहिए जिनमे ताप पाया जाय। उदाहरणार्थ, अग्नि, सूर्य, मोमबत्ती, दहकता हुआ शीशा इत्यादि। इस विधि को उन्होने Tabula Presentiae या भावात्मक तालिका कहा है। यह विधि मिल की 'अन्वय-विधि' (Method of agreement) से मिलती है। परन्तु वेकन के अनुसार केवल भावात्मक उदाहरणो के सकलन से 'रूप' का निर्णय नही किया जा सकता है। भावात्मक उदाहरणो के आधार पर निर्णीत किये गये नियम की पुष्टि अभावात्मक (Negative) उदाहरणो से होनी चाहिए।

लाल-पीला इत्यादि गुण गौण कहलाते हैं। देश-काल, आकार, सख्या इत्यादि प्राथमिक गुण कहलाते हैं।

(२) Erdmann, "History of Philosophy", P 680

(३) Hoffding, 'History of Modern philosophy', P. 202

जैसे, ताप के अभावात्मक उदाहरण हैं—मिट्टी, पत्थर, पृथ्वी इत्यादि, जिनमे ताप नही पाया जाता है। इसे वेकन ने अभावात्मक तालिका या Tabula Absentiae कहा है, जो मिल की 'व्यतिरेक विधि' (Method of difference) से मिलती-जुलती मालूम देती है। उन दोनो विधियो मे वेकन ने Tabula graduum या अनुक्रम-तालिका की विधि भी जोड दी है, जिसके अनुसार घटनाओं को उनकी तीव्रता या मात्रा (Intensities) (अर्थात् कम-अधिक अंश) के अनुसार व्यवस्थित किया जाता है। यह विधि मिल की सहचारी वैभिन्य विधि (The method of Concomitant Variation) से मिलती है। इन तीन विधियों के अतिरिक्त वेकन ने ग्यारह सहायक विधियो का उल्लेख किया है, परन्तु उनमे से केवल तीन ही की व्याख्या की है, अर्थात् वहिष्करण (Exclusion), निर्णायक उदाहरण (Crucial instance) और First vintage।

वेकन ने वताया है कि हमे पूर्वकल्पना को छोडकर धीरे-धीरे आगे वढना चाहिए। पहले विशेष (Particulars) से कुछ ही व्यापक नियम (Lesser axioms) स्थापना करनी चाहिए। अन्त मे, क्रमश आगे वढते-वढते अति सामान्य तथा व्यापक नियमो की स्थापना करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रगति मे, वेकन के अनुसार, पूर्वकल्पना (Anticipations) की आवश्यकता दूर हो जायगी।

उपर्युक्त तीन विशेष विधियो और सहायक प्रणालियों को, वेकन ने बहिष्करण की मुख्य विधि के अन्तर्गत है। अत, वेकन के अनुसार निरीक्षण तथा सावधानतापूर्वक विश्लेपण (Analysis) के आधार पर हमे सभी उदाहरणो की सर्व-ग्राही (Exhaustive) तालिका वना लेनी चाहिए। फिर हमे उन सव विशिष्ट गुणो को देखना चाहिए, जो अन्वेषण की रूपवाली घटनाओ मे नही पाये जाते हैं। जैसे, ताप के रूप के साथ ठढक, रंग, घ्राण इत्यादि के गुण सभी स्थलो पर नही देखे जाते हैं। इस प्रकार के अनावश्यक गुणो का परित्याग या वहिष्करण कर देना चाहिए। अत, वेकन की आगमन-विधि वैकल्पिक (Disjunctive) न्यायवाक्य का रूप लेती हुई दिखाई देती है, जिसे निम्नलिखित रीति से साफ कर दिया जा सकता है :

ताप का रूप है क या ख या ग या घ इत्यादि,
परन्तु क या ख या ग ताप के साथ नही पाया जाता है,
∴ 'घ' ही ताप का रूप है।

यहाँ लघु आधारवाक्य (Minor premise) पर सभी कुछ निर्भर करता है। 'क' या 'ख' इत्यादि का इसलिए वहिष्करण कर दिया जाता है कि ये Tabula Absentiae मे हैं और फिर भी ताप नही पाया जाता है। यदि सभी सम्भव आवश्यक लक्षणो का वहिष्करण कर लें, तो निष्कर्ष अवश्य ही अनिवार्य होगा। पर सभी सभव अनावश्यक लक्षणो को जमा करना और उनका वहिष्करण करना असभव है। वेकन इसलिए इसे सभव सोचते थे कि उनके अनुसार सरल रूप (simple

forms), जिनसे सभी घटनाओ की व्याख्या हो सकती है, सीमित सख्या मे पाये जाते है। अत, उनके अनुसार इनका संकलन तथा आवश्यकतानुसार वहिष्करण हो सकता है।

फिर यदि हम वेकन की वहिष्करणात्मक विधि पर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि वह वास्तव मे निगमनात्मक (Deductive) मिश्र न्यायवाक्य है। वेकन निगमन से अपना पिंड छुडाना चाहते थे और अन्त मे उसके ही जाल मे फँसकर रह गये हैं। इसका कारण है कि वेकन समझते थे कि आगमन का निष्कर्ष (Conclusion) असदिग्ध (Certain) होना चाहिए। यही कारण है कि उन्होने अपनी विधि मे Exhaustive analysis तथा सभी आवश्यक वातो के वहिष्करण (Exculsion) की बात कही है। फिर अपनी विधि को असाक्षात् रीति से निगमनात्मक वनाया है, क्योकि निगमन का ही निष्कर्ष निश्चित तथा अनिवार्य होता है। परन्तु, वास्तव मे निरीक्षण पर आधारित आगमन का निष्कर्ष केवल प्रायिक (Probable) ही हो सकता है और आगमन के इस लक्षण को वेकन ने न तो समझा और न इसके अनुसार अपनी विधि को स्पष्ट किया है। यही कारण है कि निगमन को छोडते हुए भी निगमन के आदर्श के जाल मे पडकर उन्होने आगमन की सही व्याख्या नही की है।

वेकन का मत था कि आगमन-विधि के आधार पर सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए उन्होने इस विधि को समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा आचार-शास्त्र (Ethics) इत्यादि के लिए भी उपयुक्त समझा था। अत, वेकन मे विज्ञानवाद की पूर्वछाया देखने मे आती है, जिसके अनुसार जो भी विषय विज्ञान-विधि से नही जाना जा सकता वह मानव-ज्ञान के अन्दर नही गिना जा सकता है। अन्त मे, वेकन का मत था कि सभी प्रकार के ज्ञान का केवल एक ही लक्ष्य है, अर्थात् मानव-समाज की रक्षा और उसका सवर्द्धन हो।

यह ठीक है कि वेकन की विधि सरल गणनात्मक (Induction by simple Enumeration) नही है। स्वय उन्होने कहा है कि सरल गणनात्मक निगमन कच्चे धागे के समान कमजोर है तथा वह वच्चो का खेल है। पर हम निम्नलिखित युक्तियो के आधार पर उसे वैज्ञानिक विधि नही समझ सकते हैं

आगमन-विधि की आलोचना —वेकन ने अपनी आगमन-विधि को अपने समय की और विशेषकर न्यायवाक्य-विधि की तुलना मे तीन बातो मे श्रेष्ठ वताया है, अर्थात्

(क) इसके द्वारा ज्ञान-वर्द्धन होता है; क्योकि यहाँ वस्तुओ के रूप की जानकारी प्राप्त की जाती है,

(ख) इसके आधार पर न्यायवाक्य और जल्दीवाजी के साथ किये गये निरीक्षण का परित्याग किया जाता है,

(ग) फिर इस विधि मे मन को शुद्ध कर प्रकृति की पक्षपात-रहित खोज की जाती है।

सक्षेप मे वेकन की 'आगमन-विधि' घटनाओ के पूर्ण निरीक्षण, उनके सर्वग्राही विश्लेषण तथा अनावश्यक लक्षणो के अनुक्रमिक वहिष्करण पर निर्भर करती है। परन्तु अनावश्यक लक्षणो का सर्वग्राही वहिष्करण करना असम्भव है। फिर, वेकन पूर्वकल्पना (Hypothesis) वनाने का आदेश नही देते है, क्योकि उनका कहना है कि 'I do not *anticipate* nature'. पुन, उन्होने वताया है कि गणितशास्त्र महत्त्वपूर्ण है, पर फिर भी उन्होने गणित को अपनी आगमन-विधि मे कोई स्थान नही दिया है।

परन्तु यदि हम वेकन की 'आगमन-विधि' पर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि यह 'वैज्ञानिक विधि' नही है। इसका सवसे पहला कारण यह है कि वेकन की 'आगमन-विधि' का लक्ष्य है कि इसके द्वारा वस्तुओ का 'रूप' खोजा जाय। परन्तु विज्ञानो मे वस्तुओं का रहस्यमय रूप नही खोजा जाता है, वल्कि विज्ञानो मे सार्यकीय नियमो की ही स्थापना की जाती है। अत, रूप-विषयक होने के कारण वेकनीय विधि वैज्ञानिक न होकर मध्ययुगीन परम्परा से लिपटी रह गयी है।[१]

फिर वेकन के अनुसार हमे घटनाओ की सर्वग्राही तालिका वनानी चाहिए। परन्तु किसी भी विषय की घटनाओ की सर्वग्राही तालिका वनाना असभव है। भला, कौन व्यक्ति सभी मनुष्यो की मरणशीलता की तालिका वना सकता है? कौन भविष्य के मनुष्यो की सख्या निर्धारित कर सकता है कि वे मरणशील हैं? फिर यदि कोई जान भी ले कि सभी मरणशील मनुष्यो की सख्या x है तो कोई यह कैसे कह सकता है कि यही सख्या x मरणशील व्यक्तियो की हो सकती है? इसलिए वास्तविकता तथा तार्किक दृष्टिकोण, दोनो ही के आधार पर सर्वग्राही तालिका वनाने की वात असभव और अवैज्ञानिक है। हमे तो निरीक्षण ही मे चुन-चुनकर कुछ ही उदाहरणो का लेखा लेना पडता है। यदि डाक्टर किसी रोग की जाँच करते हैं तो वे रोगी के प्रत्येक अग की जाँच नही करते हैं। वे केवल रोगी के कुछ ही अगो को रोग के अनुसार महत्त्वपूर्ण समझकर जाँचते हैं। यही वात विज्ञानो के नियम की स्थापना मे पायी जाती है। अत, वेकनीय विधि सर्वग्राही निरीक्षण के आदेश पर अवलम्बित हो जाने के कारण निकम्मी हो जाती है।

पुन, विना पूर्वकल्पना को वनाये हुए वैज्ञानिक नियम की स्थापना करना असम्भव है। जव वैज्ञानिक कोई प्रयोग करता है तो वह किसी मत को सिद्ध या असिद्ध ठहराने के लिए ही करता है। यह मत पूर्वकल्पना का काम करता है। उसी

१ Windelband 'History of Philosophy,' P. 385

प्रकार निरीक्षण भी विना किसी पूर्वकल्पना के सम्भव नही है। इसका कारण है कि वैज्ञानिक निरीक्षण इसलिए उद्देश्यपूर्ण और सम्बद्ध रहा करता है और निरीक्षण इसलिए उद्देश्यपूर्ण होता है कि इसमे पहले से ही किसी मत को पुष्ट या निराधार करने की बात रहती है। जब दारोगा चोरी के सम्बद्ध मे किसी महल्ले की छानवीन करता है तो वह सब घरो की तलाशी नही करता है। उसके मन मे चोर के सम्बन्ध मे धारणा रहती है और इसी धारणा के अनुसार वह कुछ ही घरो की छानवीन करता है। इसलिए, दारोगा का निरीक्षण भी एक प्रकार की पूर्वकल्पना से नियन्त्रित होता है। अत, वेकनीय विधि पूर्वकल्पना की अवहेलना करने के कारण अवैज्ञानिक और निकम्मी है।[१]

वात यह है कि वेकन ने वैज्ञानिक विधि को जानने की कोशिश नही की। यह वात इसी मे स्पष्ट हो जाती है कि अपनी विधियो को स्पष्ट करने के लिए उन्होने विज्ञान के उदाहरणो की मदद नही ली है, परन्तु अपने समय की लिखी हुई पुस्तको मे दिये गये उदाहरणो की मदद ली है। फिर यदि वे विज्ञान की विधियों पर ध्यान देते तो उन्हें गणित को भी अपनी विधि मे स्थान देना होता, और गणित वास्तव मे शुद्ध निगमन (Deduction) है। अत, आगमन मे भी निगमन की आवश्यकता पड जाती है। परन्तु चूँकि वेकन न्यायवाक्य के विरोधी थे, इसलिए उन्होंने निगमन के किसी अश को आगमन मे स्थान नही दिया है। इसलिए भी वेकनीय आगमन अधूरा है।

वेकन का प्रयोजनवाद — हमलोगो ने पहले ही देखा है कि ज्ञान को वेकन ने मानव-कल्याण के लिए परम शक्ति माना है। उनका कथन है कि Knowledge is power and the only lasting power अर्थात् ज्ञान की सत्यता इसी पर आधारित है कि उसके द्वारा मानव-उद्देश्य की पूर्ति हो। वेकन ने ठीक ही प्रकृति के मानवीकरण के विरोध मे आवाज उठायी थी, परन्तु ज्ञान को मानव प्रयोजन (Human utility) मे मढकर उन्होने विज्ञान का गला घोटने की बात कही है। विज्ञान मे अनेक आविष्कार इसलिए होते आये है कि वैज्ञानिक अपनी धुन मे लगा रहता है कि ज्ञान का प्रसार ज्ञान के लिए हो। ज्ञान स्वलक्ष्य है और व्यवहार की कसौटी से जाँचने पर इसकी प्रगति मन्द हो जाती है। यह दूसरी वात है कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के आधार पर मानव-व्यवहार मे मदद मिले। परन्तु वैज्ञानिक का अपना धर्म है कि विना व्यावहारिक फल की आकाक्षा किये हुए वह अपने प्रयोग मे लीन रहे। उदाहरणार्थ अणुवाद का सिद्धान्त अति प्राचीन है और इसकी प्रयोगात्मक सत्यता लगभग ५० वर्ष पहले सिद्ध हो चुकी है और अब इसे व्यावहारिक रूप मे लाया जा रहा है। यदि व्यावहारिक फल की आकाक्षा रहती तो ५० वर्ष तक अणु-

१. Schiller, F. C S.. 'Formal Logic', P 258

सम्बन्धी अनुसधान को छोड दिया जाता। इसी प्रकार कई प्रकार की ज्यामितिक धारणाएँ १९वी शताब्दी मे स्थापित हो चुकी थी। पर उन्हें उस समय से लेकर सन् १९१७ ई० तक व्यवहार मे न लाया जा सका और तब सन १९१७ ई० मे सापेक्षता नियम (Theory of relativity) मे इनमे से कुछ को काम मे लाया गया है। यदि वैज्ञानिक केवल व्यवहार-लाभ की वात सोचते, तो ये सब धारणाएँ लुप्त हो गयी होती। व्यवहार की वात छोडकर केवल ज्ञान-लाभ के लिए ही वैज्ञानिक प्रयत्नशील रहते है। अत ज्ञान को प्रयोजनात्मक कहकर वेकन ने विज्ञान-प्रसार की कोई मदद नही की है।

वर्त्तमानकाल मे पियर्स, जेम्स इत्यादि दार्शनिको ने प्रयोजनवाद को प्रचलित करने की कोशिश की थी। इसलिए, समसामयिक प्रयोजनवाद को दृष्टिकोण मे रखकर कहा जाता है कि ज्ञान मे व्यावहारिकता पर जो जोर वेकन ने दिया है, उसमे वह प्रयोजनवाद (Pragmatism) या कार्यसाधनतावाद का आदि पथप्रदर्शक कहा जा सकता है। परन्तु, वास्तव मे यह ठीक नही है, क्योंकि समसामयिक प्रयोजनवाद ज्ञान-मीमासा पर अवलम्बित है और ज्ञान-मीमासा वेकन के दर्शन मे नही आती है। अत, वेकन का प्रयोजनवाद मध्ययुगीन कल्पना की उपज है। यही कारण है कि प्रकृति को पक्षपात-रहित समझने का आदेश न देकर उन्होंने प्रकृति को मानव-हित के अधीन करने की वात कही है और उस कल्पना से प्रेरित होकर Novum Atlantis मे वे दिवास्वप्न (Day-dreaming) के शिकार वन गये है। वेकनीय प्रयोजनवाद मनगढन्त तथा काल्पनिक प्रेरणाओ से रचा गया है, न कि यह विज्ञान, तत्त्व तथा ज्ञान-समीक्षा पर आधारित हुआ है। अत, वेकन समसामयिक प्रयोजनवाद के आदि कर्णधार नही है। इस स्थल पर अब यह मौलिक प्रश्न उठता है कि क्या वेकन आधुनिक युग के आदि पिता कहे जा सकते है, क्योंकि इनके वाद आधुनिक विचारधारा अति प्रवल हो उठती है ?

क्या वेकन आधुनिक दर्शन के प्रवर्त्तक या आदिपिता थे ?

मेकॉले ने वेकन को आधुनिक दर्शन मे उच्च स्थान दिया गया है, इसलिए नही कि उन्होने आगमन-विधि की नीव डाली, पर इसलिए कि उन्होंने विज्ञान की ओर लोगो का ध्यान मोडा है। वास्तव मे यदि वेकन के लेख से कोई नयी लीक निकलती या नयी दिशा मे दार्शनिको की विचारधारा ढुलक जाती तो अवश्य ही वे आधुनिक युग के प्रवर्त्तक या कर्णधार कहलाते। परन्तु वास्तव मे ऐसी वात नहीं है। विज्ञान का पोषण केवल वेकन के लेख से ही नही वढा है। वेकन के समय से लगभग ५० वर्ष पहले ही से विचारको का ध्यान विज्ञान की ओर आकृष्ट हो रहा था और वहुत दिनों तक वेकन के वाद भी विज्ञान की यह प्रगति विना वेकन के लेख से प्रभावित हुए जारी रही। इसलिए विज्ञान की प्रगति का सम्वन्ध वेकन से नही दीखता है। द्वितीय, यदि वेकनीय आगमन-विधि वैज्ञानिक विधि होती तो हम कह सकते कि कम-से-कम

आधुनिक युग मे वेकन ने एक नयी विधि की देन दी है। परन्तु हमलोगो ने देखा है कि वेकन की विधि न पुरानी है और न आधुनिक। यह आधा तीतर आधा बटेर है। फिर, यदि वैज्ञानिक वेकन की व्यवहार-पक्षीय बातो पर ध्यान देते तो विज्ञान बढने के बदले आज लुप्तप्राय हो जाता। अत दर्शन मे कोई नयी गति-दिशा न दिखाने के कारण वेकन को आधुनिक युग का कर्णधार मान लेना आपत्तिजनक है।

फिर दर्शन के इतिहासकारो ने वेकन के बताये भ्रम-सिद्धात (Doctrine of idolas) मे काण्टीय सिद्धात की पूर्वछाया कही है। हम आगे चलकर देखेंगे कि काण्ट का मुख्य कथन है कि प्रकृति-ज्ञान की स्थापना मे मन की प्रक्रिया रचनात्मक होती है। वेकन ने अपने भ्रम-सिद्धात मे कहा है कि यदि हमारा मन-मुकुर अनेक दोषो से धुँधला हो जायगा तो इसके द्वारा जो कुछ जाना जाय, वह भी धुँधला ही दीखेगा। इसलिए लोगो ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि वेकन भी मन की प्रक्रिया को ज्ञान की स्थापना मे रचनात्मक समझते थे। परन्तु वेकन मे काण्टीय ज्ञान-समीक्षा की प्रतिच्छाया नही देखने मे आती है। वेकन के भ्रम-सिद्धात से स्पष्ट हो जाता है कि वे मन को निष्क्रिय समझते थे, न कि रचनात्मक। उनके अनुसार वस्तु-ज्ञान मे मन की कोई देन नही होनी चाहिए। फिर वेकन के भ्रम-सिद्धान्त मे लोग काण्ट के Transcendental Illusion की झलक देखते है। यह भी ठीक नही है, क्योकि वेकनीय भ्रम विषयीगत (Subjective) तथा व्यक्तिगत है। परन्तु काण्टीय Transcendental Illusion (अनुभवातीत भ्रम) सभी मानवो मे अनिवार्य रूप से पाया जाता है। यह बात वेकनीय भ्रम के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती है, क्योकि व्यक्तिगत होने के कारण वे अनिवार्य नहीं है।

कुछ हद तक यह ठीक है कि वेकन को आदि-अनुभववादी कहा जा सकता है, क्योकि ज्ञान की स्थापना मे उन्होने 'अनुभव' पर जोर दिया हैं[1], पर यहाँ भी वेकन के प्रभाव को वढा-चढा नही देना चाहिए। पहली बात यह है कि लॉक प्रभृति अनुभववादी वेकन का उल्लेख नही करते हैं और वे देकार्तवादियो से वेकन की अपेक्षा अधिक प्रभावित हुए थे। फिर वेकन अवश्य 'अनुभव' पर जोर देते हैं, पर वे हमे वताते नही हैं कि किस प्रकार अनुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

---

(१) यह वेकन की निम्नलिखित उक्ति से झलक जाता है:

"Man, being the servant and interpreter of nature, can do and understand so much only as he has *observed* in fact or in thought of the course of nature; beyond this he never knows anything nor can do anything." वेकन की यह उक्ति, लॉक तथा ह्यूम के अनुभववाद से बहुत मिलती-जुलती है।

अत , वेकन को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता मानना निराधार है। उन्होंने अपने समय की चलती हुई धाराओ को सुसम्वद्ध रूप दिया है। उन्होंने किसी नये दर्शन की रूपरेखा नही दी है, परन्तु नये दर्शन की स्थापना के लिए हमारे सामने प्रस्ताव-मात्र रखा है। ऐसे व्यक्तियो को, जो आनेवाली घटनाओ की घोषणा किया करते है, भारतीय नाटक मे सूत्रधार कहते हैं। अत , वेकन अपने युग के सूत्रधार थे और उन्होने आधुनिक दर्शन के सूर्य-पराक्रम का वोध प्राच्य की उषा-लालिमा के रूप मे किया है। उन्होने अपने समय का अपने को 'Trumptcr' अर्थात् दुन्दुभी फूंकने वाला कहा है और वास्तव मे वात भी वही थी। वेकन के विचार मध्य और आधुनिक युग के वीच के है और अन्तर्कालीन होने के कारण आप उभयकालीन थे। आधुनिक दृष्टिकोण से आप मध्ययुगीन और मध्ययुग के दृष्टिकोण से आप आधुनिक थे। ऐसी दशा मे आधुनिक युग का जन्मदाता न समझकर उन्हें मध्ययुगीन आलाप का अन्तिम स्वर समझना चाहिए।

वेकन ने वताया है कि आधुनिक दर्शन का क्या स्वरूप होना चाहिए और फिर उसकी विधि किस प्रकार नयी होनी चाहिये। परन्तु जो कुछ उन्होंने कहा है, वह आधुनिक दर्शन की भूमिका ही है, न कि कोई दर्शन। अत., वेकन को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता नही कहा जा सकता है।

उपसहार—हमलोगो ने प्रारम्भ मे कहा है कि दर्शन वैचारिक कला है और कला का जन्म परमसत्ता की पैठ पर निर्भर करता है। पैठ सृजनात्मक धारणा मे अभिव्यक्त होकर दर्शन की सृष्टि करती है, परन्तु वेकन की पैठ उतनी गहरी नही है। उनका दर्शन गहराई तक पहुँचने मे असमर्थ है। उनका दर्शन जीवन के अन्तराल का दार्शनिक चित्रण न होकर जीवन के कुछ वाह्य पक्षो की झांकी-मात्र है। कल्पना के कगारो पर वैठकर दर्शन की सृष्टि का प्रयास दर्शन की केवल भूमिका होकर रह गया। बेकन सतोषप्रद दर्शन की सृष्टि मे असफल रहा। जहाँ तक देकार्तीय दर्शन का सवाल है, देकार्त की पैठ वेकन की अपेक्षा वहुत ही गहरी और सतोषप्रद है। देकार्त आधुनिक दर्शन के प्रवर्त्तक और प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक थे, जो तुलना मे वेकन से वहुत ही श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं।

साराश :—

(१) वेकन की मुख्य देन आगमन-विधि है। इसके सम्वन्ध मे ये वातें ज्ञातव्य हैं—

(क) सबसे पहले मानस-मुकुर को दुराग्रहो (idolas) से मुक्त कर लेना चाहिए।

(ख) हमे घटनाओ का 'रूप' खोजना चाहिए। 'रूप' का अर्थ है जिसपर अधिकार कर लेने से सभी घटनाओ पर अधिकार हो जाता है।

RENE DESCARTES (1596 to 1650)

(ग) 'रूप' को भावात्मक, अभावात्मक तथा अनुक्रमिक सहचार-विधि से जानना चाहिए।

(घ) विधि का सार इसी मे है कि सभी अनावश्यक लक्षणो को जानकर हम उनका बहिष्कार करे। जो लक्षण नही हटाया जा सकेगा, वही 'रूप' होगा। परन्तु बेकनीय विधि सभी अनावश्यक लक्षणो के बहिष्करण पर आधारित होने के कारण व्यर्थ है। फिर इसमे पूर्व-कल्पना (Hypothesis) का भी स्थान नही है।

(२) फिर बेकन मे प्रयोजनवाद पाया जाता है, जो ज्ञान-मीमासा पर आधारित न रहने के कारण आधुनिक प्रयोजनवाद से भिन्न है। बेकनीय प्रयोजनवाद कल्पना की उपज है।

(३) बेकन को आधुनिक दर्शन का आदिपिता नही कहा जा सकता है, पर यह उसके 'सूत्रधार' अवश्य थे।

रेने देकार्त (सन् १५९६-१६५०]

रेने देकार्त का जन्म फ्रास के तुरेन नामक स्थान मे सन् १५९६ ई० मे हुआ। शिक्षा-दीक्षा ईसाई-धर्म के द्वारा हुई। प्रचुर पैतृक सम्पत्ति प्राप्त होने की वजह से बिना किसी नौकरी या पेशा के ही देकार्त ने स्वतन्त्र जीवन-निर्वाह किया। ख्याति प्राप्त गणितज्ञ और दार्शनिक होने के कारण स्वेडन की महारानी ख्रिष्टियाना ने इनसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए इन्हें आमन्त्रित किया। ये सन् १६४९ ई० मे वहाँ गये और उसी साल बीमार हो गये। दूसरे ही वर्ष सन् १६५० ई० की फरवरी मे इनका देहान्त हो गया।

देकार्त की दर्शन-विधि— (Method) —देकार्त अपने समय के सुविख्यात गणितज्ञ थे और यही कारण है कि दर्शन की रचना करने मे वे गणितीय विधि से बहुत प्रभावित हुए। गणित मे सबसे पहले स्वयसिद्धो की स्थापना की जाती है और तब उसके आधार पर निगमनात्मक रीति से अन्य निष्कर्ष स्थापित किये जाते हैं। देकार्त ने दर्शन मे भी असाक्षात् रूप से इसी प्रणाली का अनुसरण किया है। अत, हमे जानना चाहिए कि उन्होने अपनी विधि को किस प्रकार स्पष्ट किया है।

बेकन के समान देकार्त ने भी अनुभव किया कि पुरानी ग्रन्थियों को हटाकर नये सिरे से दर्शन की नीव डालनी चाहिए। उन्होने नयी विधि तथा प्रणाली की आवश्यकता इसलिए महसूस की कि उनके अनुसार दर्शन केवल मतभेदों का अखाडा हो गया था।[1] कोई भी ऐसी बात नही थी, जो विवादग्रस्त न थी। इसलिए

[1] इस विषत में देकार्त ने 'Discourse on Method' में इस प्रकार लिखा है. "Of philosophy I will say nothing, except that when I saw that it had been cultivated of many years by the most distinguished men and

देकार्त ने ऐसी विधि स्थापित करनी चाही, जिसके आधार पर असदिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

आज देकार्त को हुए तीन सौ वर्षो से अधिक हो गये, परन्तु देकार्त की बातो की मान्यता आज भी है। साम्प्रतिक विचारधारा और देकार्त के मत मे एक बात की समानता है। सम्प्रति भाषा-सुधार और शब्दार्थ- विश्लेपण द्वारा वैज्ञानिक कोटि की ज्ञान-प्राप्ति की बात चलायी जा रही है। वैज्ञानिक मानदण्ड को दर्शन का मापदण्ड बनाकर बहुत अशो मे दर्शन-विधि को बदलने का प्रयास किया जा रहा है। देकार्त के दर्शन मे भी इन बातो को हम देख सकते हैं। हम देखेंगे कि देकार्त का प्रयास प्रभावशील होने पर भी असफल ही हुआ और समसामयिक भाषा-सुधारक भी दर्शन को खोखला करके ही अपने प्रयास मे सफल हो सकते है। अत., हमे पाठ सीख लेना चाहिए कि दर्शन-विधि वैज्ञानिक नही हो सकती। दर्शन मे विज्ञान के समान असदिग्ध ज्ञान नही मिल सकता है। दर्शन वैचारिक कला है और दर्शन की सत्यता जीवन की गहराई तथा व्यापकता-सम्बन्धी सूझ से ही आंकी जा सकती है।

देकार्त ने अपनी विधि को अन्वेपण की विधि कहा है, परन्तु इसे इन्द्रियो पर आधारित आगमन-विधि नही कहा जा सकता है, क्योकि इसमे इन्द्रियजन्य ज्ञान की अपेक्षा सहज ज्ञान (Intuition) या अन्तर्सूझ को अधिक स्थान दिया गया है। अन्तर्सूझ को आधारभूमि मे रखते हुए देकार्त ने अपनी सुविधा के लिए चार सीढ़ियो का उल्लेख किया है:

(१) जबतक किसी बात को हम स्पष्ट न जान ले तबतक हमे उसे सत्य नही स्वीकार करना चाहिए।

यहाँ जानने का अर्थ है अन्तर्सूझ के द्वारा किसी बात को ग्रहण करना। यदि कोई पूछे कि यह किस तरह से जाना जाता है कि दो या दो से अधिक चीजें किसी एक ही चीज के बराबर हो तो वे एक दूसरे के बराबर होगी, तो हमे कहना पड़ेगा कि यह हमे स्पष्ट मालूम देता है। इसे हम आँख, कान इत्यादि से नही जानते हैं, परन्तु हमारी 'बुद्धि' इसे तुरत ही जान लेती है। परन्तु 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग ठीक नही है, क्योकि बुद्धि किसी प्रकार के ज्ञान को प्रत्यय (Concept) या भावना के आधार पर जानती है। पर 'स्वयसिद्ध' आदि बातो का ज्ञान हमे साक्षात् रूप से बिना किसी प्रत्यय के आधार पर होता है। इस प्रकार के साक्षात् ज्ञान को अन्तर्सूझ के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इन्द्रिय-ज्ञान भी साक्षात् होता है, परन्तु इन्द्रि-ज्ञान मूर्त्त (Concrete) वस्तुओ का होता है, पर सहज ज्ञान (Intuitive knowledge) अमूर्त्त

---

that yet there is not a single matter within its sphere which is not still in dispute, and nothing, therefore which is above doubt. . ..."

द्रव्य (Abstract entity) का भी हो सकता है* ।

देकार्त ने सावधानी ही के लिए पहली सीढी रखी है । हम देखते हैं कि देकार्त के अनुसार जल्दबाजी ही के कारण गलती हो जाती है । इसलिए जल्दबाजी को दूर करने का यही उपाय है कि हम ठान लें कि जबतक कोई चीज एकदम साफ न मालूम पडे तबतक हम उसे ग्रहण न करें ।

(२) हमे अपनी कठिनाइयो को यथासम्भव सरल से सरलतम टुकडो में बाँट देना चाहिए ।

(३) सरलतम बातो से शुरू करके जटिल (Complex) बातो की ओर क्रमश बढना चाहिए ।

यहाँ भी हम देखते है कि देकार्त ने गणित के आदर्श को अपने सामने रखा है । गणित मे हम सरल (Simple) से प्रारम्भ करके अन्त मे अति जटिल की ओर बढते हैं । फिर यह प्रगति निगमनात्मक होती है और इस प्रक्रिया मे प्रत्येक प्रगति-पग उसी प्रकार से स्पष्ट होना चाहिए जैसा कि पहला पग रहता है ।

(४) हमेशा हमे अपनी परिगणना (Enumeration) को इतना पूर्ण कर लेना चाहिए कि किसी भी हिस्से के छूट जाने की गु जाइश न रहे ।

द्वितीय नियम के अनुसार हमे अपनी समस्याओ को टुकडो मे बांट लेना पडता है और इसलिए यदि हमे अपनी समस्या को समझना है तो किसी भी टुकडे को नही छोडना चाहिए । अत देकार्त के अनुसार हमे इस प्रकार के नियम-क्रम (Order) तथा सम्बद्धता को जान लेना चाहिए, जिससे हमारी समस्याओ की सभी बातें अँट जायँ । हम देखते हैं कि देकार्त की विचार-भूमि पर गणित की गहरी छाप थी और वे दर्शन के आधार को गणित-ज्ञान के मापदण्ड से स्थिर करना चाहते थे ।†

**Intuition*—(Latin 'intuere', to look at) "the direct and immediate apprehension by knowing a subject of itself, of its conscious states, of other minds, of an external world, of universals of values or of rational truths".—Runes, D.D'. *The Dictionary of Philosophy.*'

† स्वय देकार्त ने '*Discourse on method* में लिखा है "I was specially delighted with the Mathematics, on account of the certitude and evidence of their reasoning , but I had not as yet a precise knowledge of their true use and thinking that they but contributed to the advancement of the mechanical arts, I was astonished that foundations, so strong and solid have had no loftier super-structure reared on them."

फिर चारों विधियों को ध्यान में रखते हुए देकार्त ने लिखा है · "I had little difficulty in determining the objects with which it was necessary to

सन्देह-विधि (Method of Doubt)

देकार्त ने अपनी सुविधा के लिए चार नियम इसलिए बनाये थे कि इनके आधार पर ऐसी सत्यता मिले, जो अति सरल तथा असदिग्ध हो। तो किस प्रकार से असदिग्ध सत्यता को खोज निकाला जाय ? सबसे साफ बात तो यही मालूम देती है कि हम एक तरफ से सभी बातो पर, जिनपर सन्देह किया जा सकता है, सन्देह करते जायें। अन्त मे यदि कुछ ऐसी बात मिल जाय, जिसपर सन्देह करने की गुजाइश न हो तो वह हमारे लिए असदिग्ध सत्यता हो जायगी। अब देकार्त ने अपनी सन्देह-विधि को सम्बद्ध रीति से काम मे लाया है, जिसे हम निम्नलिखित रूप मे व्यक्त कर सकते हैं :

(क) इन्द्रिय-ज्ञान सदेहात्मक है —वास्तविक जीवन मे हम अपनी इन्द्रियो से काम लेते हैं और इसी के आधार पर हम जानते हैं कि अमुक वस्तु टेबुल, कुर्सी या मेज है। यद्यपि व्यावहारिक जीवन बिना इन्द्रिय-ज्ञान के सभव नही है, फिर भी इसे हम असदिग्ध नही समझ सकते है। यह बात अपबोध (Illusion) तथा भ्रम (Hallucination) से स्पष्ट हो जाती है। जबतक रस्सी को हम साँप समझते हैं तबतक रस्सी हमे साँप उसी प्रकार मालूम देती है जिस प्रकार असलियत मे साँप, साँप दीखता है। अत, इन्द्रियो से हमे धोखा होता है और इसीलिए हमे चाहिए कि उस प्रकार के ज्ञान पर पूरा भरोसा न रखें, जहाँ धोखे की गुजाइश हो।

परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि वह वस्तु, जो दूर हो या अति सूक्ष्म हो या जहाँ किसी प्रकार का व्यवधान हो, वहाँ इन्द्रिय-ज्ञान मे धोखा हो सकता है, पर हमे इसपर तो पूरा भरोसा रखना चाहिए कि वह टेबुल जिसपर हम लिख रहे है, वह वास्तव मे है। यह ठीक है कि चेतना के दृष्टिकोण से वह टेबुल जिस पर हम लिख रहे है, टेबुल ही दीखता है और यहाँ दूरी, सूक्ष्मता तथा व्यवधान इत्यादि से दोष उत्पन्न होता है। परन्तु स्वप्नो की दशा मे भी जो कुछ प्रतीत होता है वह उस समय अकाट्य मालूम देता है, पर वास्तव मे स्वप्न-ज्ञान भ्रममय होता है। कौन जानता है कि हमारा यह ज्ञान कि टेबुल जिसपर हम लिख रहे हैं, टेबुल है, स्वप्नवत् भ्रम हो ? अत, यह ठीक है कि कुछ इन्द्रिय-ज्ञान अन्य इन्द्रिय-ज्ञान से अधिक निश्चित हो, पर अन्त मे किसी भी इन्द्रिय-ज्ञान पर तार्किकत. पूरा भरोसा नही हो सकता है।

---

commence, for I was already persuaded that it must be with the simplest and easiest to know and considering that of all those who have hitherto sought truth in the sciences, the mathematicians alone have been able to find any demonstrations, that is, any certain and evident reasons, I did not doubt but that such must have been the rule of their investigations"

(ख) **वैज्ञानिक ज्ञान भी संशय से खाली नहीं है :**—शायद कुछ लोग सोच सकते हैं कि इन्द्रिय-ज्ञान शकाओं से घिरा हो सकता है, परन्तु वैज्ञानिक ज्ञान को स्पष्ट तथा असदिग्ध मानना चाहिए। बहुत कुछ अशो मे यह मत सही है और जब हम गणित की यह बात सोचते हैं कि २ और २ या २+२=४ तो हमे मालूम देता है कि इससे बढकर कुछ भी असदिग्ध ज्ञान नही हो सकता है। इसके पहले कि इस प्रकार की गणितीय सत्यता को हम स्वीकार कर लें, तो हमे इस बात का निर्णय कर लेना चाहिए कि मानव असदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने के योग्य है या नही। हो सकता है कि ईश्वर ने मानव को असदिग्ध ज्ञान के लिए बनाया ही न हो। फिर यह कौन कह सकता है कि ईश्वर है या नही। हो सकता है कि मानव किसी अति धूर्त्त दैत्य के अधिकार मे हो, जो मानव को असत्यता को सत्य समझाकर ग्रहण करने मे प्रेरित करता हो। अत, वैज्ञानिक ज्ञान को भी ऐसी दशा मे सिद्धान्त असदिग्ध नही समझा जा सकता है।

तो क्या ऐसी कोई चीज नही जो असदिग्ध हो ? यदि वास्तव मे ऐसी बात है तो क्यो नही मान लिया जाय कि ससार मे सभी ज्ञान सदेहात्मक हैं ? पर यहाँ पर तो एक पते की बात आ जाती है। मैं सब प्रकार के ज्ञान पर सन्देह प्रकट कर रहा हूँ, पर अब इसपर सन्देह नही किया जा सकता है कि मैं सन्देह कर रह हूँ।[1]। ईश्वर या दैत्य ही हमे धोखा देने के लिए क्यो न हो और हम इस समय स्वप्न ही क्यो न देखते हो, परन्तु सन्देह करने के लिए सन्देह-प्रक्रिया का रहना अनिवार्य है और सन्देह-प्रक्रिया बिना सन्देही के हो नही सकती है। अत, सन्देह-प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि सन्देही का अस्तित्व असदिग्ध है। इसलिए मैं सन्देह करता या सोचता हूँ (Cogito ergo sum)[2] असदिग्ध ठहरता है। सन्देह कितने ही प्रकार के ज्ञान पर क्यो नही किया जाय, पर सन्देह सन्देही का अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है, यह एक ऐसी सत्यता है जो असदिग्ध है और इसी असदिग्ध ज्ञान से हमे आगे बढना है। परन्तु इसके पहले कि हम जानें कि किस रीति से देकार्त ने इस 'Cogito ergo sum' से अपने दर्शन की मुख्य बातें स्थापित की हैं।

दर्शन के इतिहास मे 'सन्देह' सम्बन्धी चर्चा कोई नई चर्चा नही है। कई दार्शनिको ने इन्द्रिय-ज्ञान और स्मृति की निर्बलता सिद्ध करते हुए बतलाया है कि हम असदिग्ध ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। परन्तु देकार्त की सन्देह-विधि उपर्युक्त सदेहवाद से भिन्न है। सन्देहवाद देकार्तीय दर्शन का अन्तिम परिणाम नही है। असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए सन्देह का व्यवहार देकार्त ने विधि-मात्र के रूप मे किया है। सन्देह देकार्तीय दर्शन का आरम्भ-विन्दु है, अन्तिम परिणाम नही। अगर सन्देहवाद की

---

1 That I doubt cannot be doubted

2. I think therefore I am.

स्थापना उनका उद्देश्य होता तो अन्य सन्देहवादियो की तरह उन्होने भी इन्द्रिय और स्मृति की निलबंता सिद्ध की होती। परन्तु वात ऐसी नही है। सच तो यह है कि असदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होने सन्देह-विधि की मदद ली है। सन्देह के माध्यम से जव उन्होने असदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति की तो उनके दर्शन को सन्देहवादी मानना समीचीन नही है। उनका लक्ष्य तो सन्देहवाद के ठीक विपरीत असदिग्ध ज्ञान प्राप्त करना है।

यदि हम देकार्तीय सन्देह को विधि-मात्र मान लें, तो यह मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दोनो हो सकता है। परन्तु देकार्त की सन्देह-विधि मनोवैज्ञानिक न होकर दार्शनिक है और इन दोनो मे ये अन्तर है.

देकार्तीय सन्देह

(१) यह दार्शनिक विधि है, जिसके आधार पर निष्पक्ष रूप से मानव-अनुभूति की जाँच की जा सकती है। इसमे ऐसा नही मालूम देता है कि वास्तव मे हमे ज्ञान नही मिल रहा है। जव देकार्त कहते हैं कि वह मेज जिस पर हम लिख रहे हैं, असदिग्ध नही है तो वास्तव मे उन्हें ऐसा नही आभासित होता था कि मेज है ही नही। यहाँ यदि मेज के विषय मे सन्देह किया जा सकता तो केवल तार्किक दृष्टिकोण से यह सम्भव हो सकता है।

(२) उपर्युक्त वात से स्पष्ट हो जाता है कि देकार्त का सन्देह उनकी इच्छा पर निर्भर था और उनका सन्देह किसी वस्तु-विशेष के प्रति न होकर सभी वस्तुओ के प्रति प्रयोगात्मक रूप मे पाया जाता है।

मनोवैज्ञानिक सन्देह

(१) मनोवैज्ञानिक सन्देह वास्तव मे अनुभूत होता है। मान लीजिए कि अँधेरे मे कोई छोटा जानवर हमारे सामने से गुजरे और हम ठीक-ठीक वता न सकें कि वह चूहा है या छुछुन्दर, तो यह मनोवैज्ञानिक सन्देह होगा और वास्तव मे हमें सन्देह अनुभूत होगा। परन्तु देकार्त को टेवुल, कुर्सी इत्यादि के प्रति इस प्रकार का सन्देह नही था। वे तो तर्क के आधार पर सन्देह करने की सभावना दिखला रहे थे।

(२) परन्तु मनोवैज्ञानिक सन्देह वस्तु-विशेष के प्रति होता है। जैसे चूहे-छुछुन्दर के उदाहरण मे हम देखते है और जव इस प्रकार का सन्देह हो जाता है तो हमारी इच्छा के न रहने पर भी यह जारी रहता है। अत., मनोवैज्ञानिक सन्देह सीमित और वास्तविक होता है।

चूंकि Cogito ergo sum पर देकार्तीय दर्शन आधारित है, इसलिए हमे इसे अच्छी तरह से समझने की कोशिश करनी चाहिए। Cogito (मैं सोचता हूँ) ergo (इसलिए) sum (मैं हूँ) के प्राय. दो खण्ड किये जाते हैं, अर्थात् (क) मैं सोचता

हूँ, (ख) मैं हूँ, और इन दोनो को जोडने के लिए 'इसलिए' का प्रयोग किया गया है। परन्तु 'मैं सोचता हूँ' इसलिए 'मैं हूँ'—इस व्याख्या मे गलती होने की गुजाइश हो जाती है। प्राय, लोग समझते हैं कि खण्ड (क) आधारवाक्य है और (ख) इसका निष्कर्ष (Conclusion)। इस प्रकार से Cogito egro sum अनुमित निष्कर्ष हो जाता है। परन्तु वास्तव मे 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' यदि अनुमित (Inferred) सत्यता होती तो यह असदिग्ध नही होती, क्योकि कोई भी अनुमित सत्यता अपने आधारवाक्यो से सिद्ध की जाती है। इस प्रकार हमे बराबर पीछे की ओर हटना पडता है और इसे अनवस्था (Regressum ad infinitum) का दोष कहते है। इसलिए Cogito egro sum की सत्यता अनुमित नही है। फिर हम जानते है कि देकार्त वास्तव मे इस प्रकार की सरल सत्यता की खोज मे थे, जिसे सभी व्यक्ति अपनी सहज-बुद्धि (Intuition) से तुरत ग्रहण कर लें। इसलिए Cogito egro sum अन्तर्सूझ-ज्ञान है। यह ठीक है कि ergo या 'इसलिए' शब्द इसे अनुमान समझ लेने मे गडबडी डाल देता है। परन्तु 'इसलिए' दो अर्थ के है, अर्थात् (i) वह चिह्न जो बताता है कि अनुमान की यह सीढी है और (ii) इसका दूसरा अर्थ होता है कि वाक्य के दो अवियोज्य खडो मे अनिवार्य सम्बन्ध है। देकार्त का 'ergo' बताता है कि सोचने और सोचनेवाले मे अनिवार्य सम्बन्ध है। अत 'इसलिए' अनुमान का नही, वरन् अनिवार्य सम्बन्ध का चिह्न है।

फिर 'cogito' का अर्थ लगाया गया है—'सोचना या विचारना', परन्तु यहाँ इसका व्यापक अर्थ लेना चाहिए, अर्थात् सवेगात्मक (Emotional) तथा इच्छात्मक (Volitional) प्रक्रिया से भी चिन्तनशील पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। अत., देकार्त का अर्थ चेतनामय प्रक्रिया से है और इसलिए व्यापक अर्थ मे Cogito ergo sum से बोध होता है कि चेतन (Conscious) प्रक्रिया से चेतनामय 'मैं' का अस्तित्व अवियोज्य रीति से लिपटा हुआ है।

देकार्त की धारणा थी कि स्थायी आत्मा का अनुभव हो सकता है। इसलिए वे सोचते थे कि विचारने या अपनी चेतना या आत्म-निरीक्षण से अपनी स्थायी आत्मा को हम जान ले सकते हैं और इस ज्ञान को वे स्पष्ट और परिस्पष्ट समझते थे। अनुभववादी लौक भी समझते थे कि अहम् का प्रदर्शनात्मक या निश्चयात्मक (Demonstrative) ज्ञान संभव है। प्रथम बार ह्यूम ने ही इस भ्रम का पर्दाफाश किया था और समसामयिक विचारधारा के अनुसार इस बात को मान लिया जाता है कि हम अपनी स्थायी आत्मा को अन्तर्निरीक्षण के आधार पर नही जान सकते हैं। हमे बस इतना ही भर ज्ञान किसी भी समय होता हैं कि हम भूखे है या प्यासे, थके हैं या ताजे, सुखी हैं या दुखी इत्यादि। परन्तु भूख-प्यास, सुख-दुख इत्यादि की परिवर्त्तनशील मानसिक प्रक्रियाओ के अतिरिक्त हमे किसी स्थायी आत्मा की चेतना

नही होती है। इसलिए देकार्त का यह कहना है कि "मैं विचारता हूं, इसलिए मैं हूं" सही अन्तर्निरीक्षण के प्रतिवेदन पर आधारित नही मालूम देता है।

फिर 'मेरे विचार' और 'मेरे अस्तित्व' के बीच अवियोज्य सम्बन्ध भी नहीं दीखता है। 'विचारना' एक प्रकार का प्रत्यय है। हम एक प्रत्यय (Idea) से दूसरे प्रत्यय की ओर प्रगति करते हैं और यह युक्तिसगत बात है। परन्तु प्रत्यय-मात्र से हम किसी वास्तविकता को नही प्राप्त कर सकते हैं। विचारक या 'स्थायी मैं' एक वास्तविकता है और विचारना एक प्रत्यय है। इसलिए विचारने की प्रक्रिया से केवल यही स्थापित हो सकता है कि विचारना एक चेतन-प्रक्रिया है। पर विचारने-मात्र से स्थायी विचारक के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता है। इसलिए Cogito ergo sum को निर्विवाद तथा असदिग्ध प्राथमिक सत्यता नही माना जायगा।

अपितु, Sum जिसका अनुवाद है 'मैं हूँ' मे एक दोष चला आता है। प्राय. देकार्त और उनके बाद के अनेक विचारको ने समझा है कि 'हूँ' या 'अस्तित्व' कोई विधेय है। यह बात देकार्त के सत्तामूलक प्रमाण मे फिर देखी जायगी। लेकिन 'होना' धातु वास्तव मे केवल सयोजक (Copula) का काम करता है और यह कोई स्वतत्र विधेय नही है। जैसे, हम कहते है कि सभी मानव मरणशील हैं। यहाँ 'है' मानव और मरणशीलता के बीच के रहने के सम्बन्ध का बोधक मात्र है और इससे न तो मानव और न मरणशीलता की वास्तविकता सिद्ध होती है। ऐसा रहता तो 'परियाँ सुन्दर नारियाँ हैं' कहने से 'परियो' का अस्तित्व झलक जाता। फिर यदि हम कहें कि "राम है" तो यह वाक्य अधूरा है, क्योकि यहाँ विधेय का लोप कर दिया गया है। इस रिक्त-पूर्ति······

राम है ·····

के लिए हमे सही विधेय को लिखना चाहिए, जैसे छात्र, कवि, गायक, दार्शनिक इत्यादि। उसी प्रकार यदि लिखा जाय 'मैं हूँ' तो यह भी अधूरा ही वाक्य कहा जायगा। इसलिए 'मैं हूँ' से किसी वास्तविक या स्थायी आत्मा का बोध नही हो सकता है।

वास्तव मे देखा जाय तो ऐसा आभासित होता है कि देकार्त समझते थे कि सभी वाक्यो को उद्देश्य-विधेय के ही रूप मे लिखा जा सकता है और साथ ही साथ यह कि उद्देश्य कोई स्थायी द्रव्य होता और विधेय उसका गुण होता है। जैसे, हम कहते हैं कि 'आम पीला है'। यहाँ हम समझते हैं कि आम एक द्रव्य है, जिसका गुण पीला होना है। इसलिए देकार्त के अनुसार बिना द्रव्य के गुण नही हो सकता है। इसलिए यदि विचारने की प्रक्रिया को गुण मान लिया जाय तो हमे विचारक को इसका अनिवार्य द्रव्य मानना पडेगा। परन्तु यहाँ देकार्त की भूल है। पहली बात तो यह है कि सभी वाक्यो को द्रव्य-गुण के पदार्थ के अन्तर्गत नही लाया जा सकता है। अनेक ऐसे वाक्य है, जिन्हें सम्बन्धात्मक कहा जाता है। जैसे, 'सीता हरि की

बहन है' या 'तीन दो से अधिक संख्या है'—भाई-बहन या कम-अधिक संबधो का नाम है, न कि गुण का। फिर यदि कोई वाक्य हो जिसमे 'है' या 'होना' धातु पायी जाय तो वहाँ उद्देश्य या द्रव्य का अस्तित्व शायद ही अभिव्यञ्जित होता है। वहाँ वास्तव मे विधेय का ही अस्तित्व अधिक अभिव्यञ्जित होता है। जैसे, यदि हम कहें कि 'यह आम मीठा है।' अब जो वस्तु हमारे सामने है, वह आम है या नही—यह जटिल प्रत्यक्ष है। पर इसकी तुलना मे 'मीठा' एक सरल सवेदना है, जिसमे सन्देह करना कठिन है। फिर यदि हम कहते हैं कि 'आम मीठा है' तो हम आम के अस्तित्व के विषय मे किसी को नही बताना चाहते हैं, पर मीठेपन की ही ओर लोगो का ध्यान खीचना चाहते हैं। इसलिए यदि 'मैं हूँ' को पूर्ण वाक्य मान भी लिया जाय तो इससे इतना ही भर सिद्ध होता है कि 'हूँ' है, अर्थात् 'अस्तित्व है या अनस्तित्व'। इससे 'मैं' या स्थायी आत्मा की वास्तविकता कहाँ सिद्ध होती है ?

आगे चलकर रसेल ने 'Theory of description' नामक प्रसिद्ध लेख मे स्पष्ट किया है कि केवल व्यक्तिवाचक सज्ञा (Proper noun) के सम्बन्ध मे ही वास्तविकता सभव है और शेष सभी पद वास्तव मे सामान्य पद होते हैं, जो केवल प्रत्यय-मात्र हैं। इसलिए 'I' या 'मैं' से इसकी वास्तविकता नही सिद्ध होती है, क्योकि यह व्यक्तिवाचक सज्ञा नही है।

अब देकार्त के Cogito ergo sum से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञेय (Known or object) के पहले 'ज्ञाता' है और 'ज्ञाता' के स्वरूप को समझने से ही 'ज्ञेय' के स्वरूप पर प्रकाश पड़ सकता है। आगे चलकर काण्ट ने भी बताया है कि मानस से प्रकृति-नियम संचालित होता है, अर्थात् Mind is the law-giver to things। इसी सत्यता को प्रत्ययवादियो (Idealists) ने अपने 'वाद' का मुख्य स्तंभ बनाया है। अन्त मे उनके अनुसार मानव-मन के स्वरूप से ही समस्त वस्तुओं का स्वरूप जाना जा सकता है।

सामयिक अस्तित्ववाद (Existentialism) का कहना है कि सत्यता विषयिगत (Subjective) है। परन्तु हमे 'विषयी' की पूरी व्याख्या करनी है और इसके अनुसार पृथक्-पृथक् ज्ञाता-विशेषो को सत्य विषयी नहीं समझा जा सकता है। वही सत्य विषयी है, जिसने अपनी छिपी शक्तियो का पूर्ण विकास किया है। अब जो कुछ भी अस्तित्ववाद की सत्यता हो, इसके मूल में देकार्त का Cogito ergo sum छिपा हुआ है

अत, देकार्त का Cogito ergo sum ह्यूम, काण्ट, हेगेल इत्यादि आधुनिक दार्शनिको मे ही स्थान नही रखता है, पर इसका महत्त्व समसामयिक भी है।[१]

---

1 देखें Heinemman, F H · *'Existentialism and its Modern Predicament'*, अन्तिम अध्याय।

सत्यता की कसौटी (Criterion) —हमे अब सन्देह-विधि के आधार पर एक असंदिग्ध सत्यता मिल गई है, अर्थात् 'मै सोचता हूँ'। हम इस सरल सत्यता से धीरे-धीरे अन्य जटिल बातो की सत्यता प्राप्त कर सकते है। परन्तु सबसे पहले हमे जानना चाहिए कि वह रचना, जो हम इस सरल सत्यता के आधार पर करेंगे, सही है या गलत। इसे जानने के लिए हमे सत्यता की कसौटी जान लेनी चाहिए। यह हम Cogito ergo sum से ही प्राप्त कर सकते है। हमे ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि यह Cogito क्यो असंदिग्ध है। यह Cogito इत्यादि इसलिए सत्य है कि ये स्पष्ट और परिस्पष्ट या परिस्फुट (Distinct) है। Clear या स्पष्ट वह है, जिसका अर्थ या बोध हमे साफ-साफ दीख पड़े और परिस्पष्ट वह है, जिसका बोध इतना निश्चित हो कि उसे किसी अन्य बातो से मिल जाने का धोखा न हो। इसलिए सभी बातें, जो Cogito ergo sum के समान स्पष्ट और परिस्पष्ट हो उन्हें भी सत्यता की कसौटी के आधार पर हम फिर से जानने की कोशिश करेंगे कि हमारा किस प्रकार का ज्ञान सत्य माना जा सकता है। परन्तु इसके पहले कि हम इस सत्यता की कसौटी को काम मे लायें, हमे इसके स्वरूप को समझना चाहिए।

अब कोई बात स्पष्ट 'मनोवैज्ञानिक' रूप से भी हो सकती है और तार्किक रूप से भी हो सकती है। जैसे, हम कह सकते है कि पागल को स्पष्ट मालूम देता है कि कोई नाम लेकर उसे पुकार रहा है या हमे स्पष्ट भ्रम होता है कि बालू का ढेर जलाशय है। इस प्रकार की स्पष्टता को मनोवैज्ञानिक स्पष्टता कहते हैं। तार्किक स्पष्टता वह है, जिसके व्याघातक (Contradictory) के सत्य होने की कल्पना तक हम न कर सकें। जैसे, यदि हम दो और दो का अर्थ समझें तो हमे मानना पड़ेगा कि २+२=४ और इसके व्याघातक के सत्य होने की कल्पना हम नही कर सकते है। देकार्त ने दोनो प्रकार की स्पष्टता की व्याख्या नही की है और इसलिए, लाइबनित्स तथा हेफडिंग ने देकार्त की स्पष्टता तथा परिस्पष्टता की कसौटी को सापेक्ष (Relative) तथा आत्मगत (Subjective) रूप म लिया है। उनके अनुसार देकार्तीय स्पष्टता से बोध होता है कि वह बात, जो किसी को स्पष्ट दीखे सत्य होगी। परन्तु कोई ऐसी बात नही है, जो सब को स्पष्ट दीखती है। इसलिए उन विचारको के अनुसार देकार्त की कसौटी सही नही है। पर बात यह है कि यद्यपि देकार्त ने स्पष्टता की कसौटी की व्याख्या नही की है, तोभी जो कुछ उन्होने इसके विषय मे कहा है उससे बोध होता है कि स्पष्टता को उन्होने तार्किक रूप मे ही लिया है।

उन्होने स्पष्टता के साथ परिस्पष्टता को भी जोड़ दिया है। और इसकी व्याख्या से साफ मालूम हो जाता है कि देकार्त का मत तार्किक स्पष्टता से था और यह उनके निम्नलिखित उद्धरण से साफ है—

"A clear perception I call that which is present and open to the attending mind, just as we say that those things are clearly seen by us which, being present to the regarding eye, move it sufficiently strongly and openly But that perception is distinct which is not only clear but is so precise and so separated from all others that it plainly "contains in itself nothing other than which is clear"

यह ठीक है कि देकार्त की व्याख्या पूर्णतया तार्किक नही है और 'स्पष्टता' को उन्होने मनोवैज्ञानिक माध्यम से व्यक्त किया है। परन्तु चूंकि वे सत्यता की कसौटी को भी उसी अन्तर्सूझ के आधार पर स्थापित करना चाहते थे, जिसके द्वारा उन्होने Cogito ergo sum की स्थापना की थी, इसलिए उनकी व्याख्या पूर्णतया तार्किक नही हो पायी है। पर उनका उद्देश्य साफ है कि वे सत्यता की कसौटी को सापेक्ष तथा विषयिगत नही बनाना चाहते थे। वे इसे गाणतिक सूझ पर आधारित रखना चाहते थे, जिसे तार्किक, न कि मनोवैज्ञानिक, प्रयास समझा जायगा।

हम आगे चलकर देखेंगे कि देकार्त ने स्पष्टता तथा परिस्पष्टता की कसौटी से ईश्वर के अस्तित्व और उसकी सत्यनिष्ठा का निष्कर्ष निकाला है और फिर ईश्वर की सत्यनिष्ठा से वाह्य जगत् की वास्तविकता सिद्ध की है। अत, देकार्त की दार्शनिक विधि हमे स्पष्ट हो जाती है। यह विधि आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनो है। आगमन-विधि वह है जिसमे नयी बात की खोज और उसकी स्थापना की जाय और निगमन (Deduction) मे किसी स्थापित सत्यता की गर्भित तथ्यता को निकालकर परिस्फुटित किया जाय। चूंकि सहजबुद्धि (Intuition) के आधार पर देकार्त ने Cogito ergo sum की नयी सत्यता स्थापित की, इसलिए उनकी विधि आगमनात्मक हुई और चूंकि क्रमशः इसी cogito ergo sum से उसके अन्तर्गत छिपी हुई सत्यता की कसौटी निकाली और उस कसौटी के आधार पर अन्य बातो की स्थापना की, इसलिए उनकी विधि निगमनात्मक भी कही जाती है। फिर भी देकार्त की आगमन-विधि पूर्णतया वैज्ञानिक नही है, क्योकि देकार्तीय-विधि मे इन्द्रिय-ज्ञान से सम्बद्ध किये हुए विज्ञान समव होता है। अत, देकार्त की विधि दार्शनिक है, न कि वैज्ञानिक। परन्तु यह वह दार्शनिक विधि है, जो विज्ञान के गाणतिक अग से प्रभावित कही जा सकती है।

ईश्वर का अस्तित्व (Existence) —हमे सत्यता की कसौटी मिल गयी है और इसलिए हम सब प्रकार की भावनाओ (Ideas)[1] की जांच कर सकते

1 Idea और Concept के बीच प्राय अन्तर किया जाता है। Concept विशेषतया जाति के प्रति भावना को कहते हैं। अत, भावना प्रत्यय (Concept) से अधिक व्यापक है। यथासभव 'भावना' को Idea के लिए और 'प्रत्यय' को 'Concept' के लिए काम में लाया गया है। परन्तु इस भेद को ध्यान में रखना कठिन है।

हैं। भावनाएँ तीन प्रकार की होती हैं, अर्थात् आत्मजात (Innate), स्वरचित अथवा कल्पना-रचित और बाह्य जगत् से उत्पन्न। परन्तु इन सब प्रकार की भावनाओ मे आत्मजात भावनाएँ प्रमुख हैं और सभी आत्मजात भावनाओ मे एक ऐसी भावना होती है, जो अति महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इसी अति महत्त्वपूर्ण आत्मजात भावना का सम्बन्ध एक ऐसी सत्ता से है, जो शाश्वत, पूर्ण, सर्वज्ञानी, सर्वव्यापक है और सभी सत्यता और अच्छाई का धाम है। इस भावना की व्याख्या किस प्रकार की जाय ? यदि पूर्ण सत्ता की भावना हमारे अन्दर हो तो इस भावना को किस शक्ति ने हमारे अन्दर उत्पन्न किया है ? कम-से-कम कार्य के बराबर ही कारण को भी सबल होना चाहिए। मैं इस भावना को अपने से नही रच सकता हूँ, क्योकि मैं अपूर्ण हूँ। अत इस पूर्ण सत्ता की भावना को पूर्ण तथा परम सत्ता ही ने मुझमे उत्पन्न किया है और इसलिए अवश्य ही पूर्ण और परम सत्ता, जिसे हम ईश्वर कहते हैं वास्तविक सत्ता है।

ईश्वर के अस्तित्व के उपर्युक्त प्रमाण को कारणिक या कारण-सम्बन्धी (Causal) प्रमाण कहते हैं; क्योकि यह परम सत्ता की भावना के कारण-कार्य-सिद्धान्त पर आधारित है। इस कारणिक प्रमाण के अतिरिक्त देकार्त ने विश्व-सम्बन्धी (Cosmological) प्रमाण भी दिया है। इस प्रमाण के अनुसार हमे जानना है कि किसने मेरी, मेरे पिता-माता तथा अन्य वस्तुओ की रचना की है। स्वय मैं अपना सृष्टिकर्त्ता नही हो सकता हूँ यदि मैं अपनी सृष्टि स्वयं करता तो मैं अपने को पूर्ण बनाता, क्योकि मुझमे पूर्णता (Perfection) की भावना है। फिर यदि मैं अपनी सृष्टि स्वय करता तो इसमे स्पष्ट होता है कि मैं अपनी सृष्टि से पूर्व होता, तभी तो मैं अपने को रचता ? अत, यह अमान्य है कि मैंने अपनी सृष्टि की है। तो क्या मेरे माता-पिता ने मेरी सृष्टि की है ? यह भी ठीक नहीं है, क्योकि वे मेरे जीवन की पूरी सरक्षा नही कर सकते, और फिर तो यह प्रश्न उठता है कि उन्हें किसने पैदा किया है ? अत, माता-पिता को अपना सृजनहार मान लेने से सृष्टि-सम्बन्धी समस्या एक पग पीछे अवश्य टल जाती है, पर इसमे इसका समाधान नही होता है। अत, मेरी, मेरे माता-पिता तथा अन्य वस्तुओ की सृष्टि सम्बन्धी समस्या का समाधान हम यदि अनवस्था-दोष से बचकर करना चाहें तो मानना पडेगा कि एक स्वयम्भू, पूर्ण ईश्वर है, जिसने विश्व की सभी वस्तुओ की सृष्टि की है।

परन्तु देकार्त के 'कारणिक' तथा विश्व-सम्बन्धी प्रमाण मे कोई विशेषता नही है। यदि इनके द्वारा दिये गये प्रमाण मे कोई विशेषता है तो वह तात्त्विक या तत्व-सम्बन्धी (Ontological) प्रमाण है। इस तात्त्विक प्रमाण के अनुसार भावना और तदनुरूप अस्तित्व (Existence) मे अवियोज्य सम्बन्ध है। इस प्रमाण के सार को इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

हमारे अन्दर पूर्ण सत्ता की भावना है और फिर तो इसके अनुरूप पूर्ण सत्ता का अस्तित्व भी अवश्य होना चाहिए। यदि पूर्णसत्ता की भावना काल्पनिक रचना-मात्र हो, अर्थात् उसके अनुरूप कोई वास्तविक सत्ता न हो तो उस काल्पनिक भावना को पूर्ण सत्ता की भावना नही कहा जा सकता। अनुरूप वास्तविक सत्ता के अभाव का मतलब ही हो जाता है पूर्णता की कमी। पूर्णता और अभाव दोनो एक साथ नही हो सकते। इस प्रकार पूर्ण सत्ता की भावना दो तरह की हो सकती है (१) उस पूर्ण सत्ता की भावना जिसके अनुरूप वास्तव मे पूर्ण सत्ता है, और (२) उस पूर्ण सत्ता की भावना, जिसके अनुरूप वास्तव मे कोई सत्ता है नही। देकार्त का कहना है कि वही पूर्ण सत्ता की भावना, वस्तुत 'पूर्ण सत्ता की भावना' है, जिसके अनुरूप सत्ता का भाव भी है, अर्थात् जिसका अस्तित्व है। जिसके अनुरूप सत्ता का भाव नही है, या अस्तित्व नही है, अर्थात् जो काल्पनिक रचना-मात्र है, 'वह पूर्ण सत्ता की भावना' नही है, क्योकि अवास्तविक सत्ता अपूर्ण होती है। पूर्ण सत्ता को अवास्तविक समझना, उसे अस्तित्वहीन मानना आत्मविरोध के सिवा और कुछ नही है। देकार्त ने ज्यामिति से उदाहरण देते हुए इसकी पुष्टि की है। यदि कोई त्रिभुज है तो मानना ही पडेगा कि उसके तीनो कोणो का योग दो समकोण के बराबर होगा। ऐसा होना अनिवार्य है। इसमे कोई आनाकानी नही हो सकती। किसी आधार को सत्य मानकर नियमा-नुकूल उसके व्युत्पन्न निष्कर्ष को असत्य करार नही दिया जा सकता। दूसरे शब्दो मे, यदि हम कोण, त्रिभुज और ज्यामिति की परिभाषा को स्वीकार कर लें तो हमे यह भी स्वीकार करना पडेगा कि त्रिभुज के तीनो कोणो का योग दो समकोण के बराबर होगा। ठीक उसी प्रकार 'पूर्ण सत्ता की भावना' अगर हम स्वीकार कर लेते हैं तो हमे अवश्य ही स्वीकार करना पडेगा कि पूर्ण सत्ता वास्तविक है, उसका अस्तित्व है। इसलिए पूर्ण सत्ता का अस्तित्व इसकी भावना से अनिवार्य रूप से सिद्ध होता है।

देकार्त के तात्त्विक प्रमाण मध्ययुगीन अन्सेलम की युक्ति से बहुत मिलता है। इसलिए आलोचको ने देकार्त के तात्त्विक प्रमाण को अन्सेलम की नकल कहा है। अत, हमे इन दोनो की युक्तियो को सक्षेप मे दिखला देना चाहिए। अन्सेलम का प्रमाण इस प्रकार है "यह सर्वमान्य है कि ईश्वर-भावना सभी प्रत्ययो मे सर्वोच्च है। अब वह जो केवल विचार मे ही सत्य हो उससे उच्चतर वह है, जो विचार और यथार्थ दोनो मे सत्य हो। अत, ईश्वर सर्वोच्च होने के कारण विचार और यथार्थ दोनो मे है। इसलिए ईश्वर यथार्थ मे परम सत्ता है। अब देकार्त के अनुसार अन्सेलम की युक्ति ईश्वर की वास्तविकता को सर्वोच्च प्रत्यय पर आधारित कर देती है, अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व मानव-भावना पर निर्भर हो जाता है। परन्तु देकार्त का कहना है कि इनकी युक्ति के अनुसार ईश्वर के भाव या अस्तित्व पर ईश्वर-भावना निर्भर करती है, अर्थात् ईश्वर इसलिये नही है कि हमे उसकी भावना है, पर हममे उसकी

भावना इसलिए है कि वह वास्तविक सत्ता है। देकार्त की ईश्वर-सम्बन्धी युक्ति इस प्रकार है "जिस किसी वस्तु के तत्त्व या सार (Essence) तथा रूप (Form) को हम स्पष्टतया तथा परिस्पष्टतया देखते हैं कि वह उस वस्तु मे है तो हम उस वस्तु के प्रति उस तत्त्व तथा परिस्पष्ट रूप का विधान कर सकते हैं। अब हम स्पष्ट तथा परिस्पष्ट रूप से देखते हैं कि वास्तविकता ईश्वर के रूप मे ही निहित है। इसलिए उचित रीति से हम ईश्वर के अस्तित्व को मान ले सकते हैं।"[1]

देकार्त की ईश्वर-सम्बन्धी तात्त्विक युक्ति की प्रारम्भ से ही आलोचना होती आयी है। काण्ट ने इस युक्ति की आलोचना करते समय बताया है कि प्रत्यय और अस्तित्व मे बडा भेद है और केवल प्रत्यय के आधार पर किसी वस्तु की वास्तविकता सिद्ध नही की जा सकती है। मैं सोच सकता हूँ कि इस समय मेरी जेब मे १०० रु० हैं पर १०० रु० के विचार कर सकने की क्षमता से सिद्ध नही होता है कि वास्तव मे मेरी जेब मे १०० रु० है। यदि विचार-मात्र से वास्तविकता हो जाती तो भिखारी महलो मे रहते और लँगडे हिमालय की चोटी पर पहुँच जाते। हमारा विचार कितना ही सगत और उच्च क्यो न हो, इसके अनुरूप वास्तविकता का रहना सिद्ध नही होता है। अत., पूर्ण सत्ता की वास्तविकता सिद्ध नही होती। काण्ट की यह आलोचना यथास्थान विस्तारपूर्वक देखी जायगी। काण्टीय आलोचना के विरुद्ध कुछ लोगो ने देकार्त के मत की पुष्टि की है। उनका कहना है कि काण्ट की यह आलोचना कि विचार-मात्र से वास्तविकता सिद्ध नही होती, साधारण वस्तुओ मे लागू होती है। यदि कोई कुर्सी, मेज, किताब इत्यादि के अस्तित्व को उनकी भावना से प्राप्त करना चाहे तो इन प्रत्यालोचको का कहना है कि इन वस्तुओ के प्रसग मे काण्ट की आपत्ति सही है। परन्तु काण्ट की आपत्ति पूर्ण सत्ता के सम्बन्ध मे ठीक नही है, क्योकि यदि पूर्ण सत्ता की भावना केवल कल्पना-मात्र हो जाय तो विचार और परम सत्ता के बीच ऐसी खाई हो जाती है कि विचार के द्वारा सत्ता को जानना असभव हो जायगा। अत, आलोचको का कहना है कि पूर्ण सत्ता की भावना और उसकी वास्तविकता अवियोज्य रीति से लिपटी हैं और यहाँ भावना से वास्तविकता सिद्ध मानी जा सकती है।

हम काण्ट के दर्शन के प्रसग मे देखेंगे कि प्रत्यय से प्रात्ययी (Conceptual) सत्ता सिद्ध हो सकती है और इसलिए पूर्ण सत्ता की भावना से उसकी भावना-मात्र

---

1 "Whatever we clearly and distinctly perecive to belong to the true and the unalterable nature of anything, to its essence, its form, that may be predicated of it Now we find on investigating God, that existence belongs to his true and unalterable nature, and therefore, we may legitimately *predicate existence of God*"

सिद्ध हो सकती है। देकार्त ने ज्यामितिक तर्क की उपमा दी है, परन्तु ज्यामितिक तर्क वास्तविकता सिद्ध नही करता है। यदि हम वास्तव मे किसी भी यथार्थ त्रिभुज को ले तो हम पायेंगे कि इसके सभी कोण मिलकर ठीक दो समकोण के बराबर नहीं होते है। ज्यामितिक तर्क की सत्यता परिभाषात्मक (Definitional) होती है। यह मानना कि प्रत्यय से ही वास्तविकता टपकती है, प्रत्ययवादियो का भ्रान्तिपूर्ण सिद्धान्त है। अत हेगेल का कहना है कि 'युक्तिपूर्ण ही वास्तविक है और वास्तविक युक्तिपूर्ण है'।[1] इस कथनानुसार यदि कोई धूर्त्त अपनी कथा को युक्तिपूर्ण बना ले तो उसे सत्य मान लेना चाहिए। परन्तु हम जानते है कि युक्तिसंगत होने पर भी जासूसी कथा वास्तविक नही मानी जाती है।

काण्ट की आपत्ति समसामयिक अस्तित्ववादियो (Existentialists) के मत से भी पुष्ट होती है। अस्तित्ववाद के जन्मदाता किर्कगोर्द (Kirkegaard) माने जाते हैं और उन्होने हेगेल के दर्शन की समालोचना करते समय कहा था कि अस्तित्व सबसे पूर्ण तथा परम सत्ता है। विचार अस्तित्व को सिद्ध न कर स्वय विचार ही अस्तित्व से सिद्ध होता है। यही बात समसामयिक तार्किक अनुभववादी (Logical empiricist) भी मानते है। अत, देकार्त की तात्त्विक युक्ति वर्तमानकाल मे भी किसी-न-किसी रूप मे जीवित है और इसलिए इसकी अवहेलना नही की जा सकती है।

यदि ईश्वर है तो धोखा नही दे सकता है। ऐसा नही हो सकता है कि मानव जिस बात को स्पष्ट तथा परिस्पष्ट जानें वह मिथ्या हो। यदि ऐसी बात हो तो मानव का सृजनहार ईश्वर धोखेबाज ठहरेगा, परन्तु ईश्वर पूर्ण होने के कारण सत्य-निष्ठ (Veracious) है। अत, हम पाते है कि ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर स्पष्टता तथा परिस्पष्टता की ज्ञान-कसौटी आधारित है और इस ज्ञान-कसौटी से ही सब प्रकार के ज्ञान की स्थापना होती है। इसलिए देकार्त का दर्शन ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर आधारित है।

इसलिए कहा गया है कि देकार्तीय दर्शन ईश्वर-केन्द्रित (Theocentric) है। परन्तु फिर भी देकार्त का ईश्वर-केन्द्रित दर्शन, मध्ययुगीन दर्शन से भिन्न है, जो यथार्थ मे ईश्वर-केन्द्रित था। मध्ययुग मे ईश्वर धर्म-विश्वास का पात्र था, परन्तु देकार्त का ईश्वर तत्त्व-मीमासा की सत्ता है। देकार्तीय ईश्वर की न पूजा होती है और न इसका कोई पुजारी है। देकार्त की विचार-परम्परा के अनुसार विश्व बौद्धिक रचना है, जिसे मानव अपनी बुद्धि से जान सकता है। अत, देकार्त ने ईश्वर की सत्यनिष्ठा से मानव-ज्ञान-क्षमता का बोध कराया है।[2]

---

1 The rational is real and the real is rational

2 Ultimately the veracity of God means that the world is rational which the human intellect can penetrate.

यहाँ पर आलोचको का कहना है कि देकार्त की युक्ति मे चक्रानुमान (Arguing in a circle) पाया जाता है, क्योकि ज्ञान-कसौटी के आधार पर पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया गया है और फिर पूर्ण ईश्वर के आधार पर ज्ञान कसौटी की सत्यता सिद्ध की गयी है। परन्तु इस आलोचना का प्रत्युत्तर करते हुए देकार्त ने बताया है कि यहाँ कोई चक्रानुमान नही है। ईश्वर का अस्तित्व तत्त्व-मीमासा की भेंट है और ज्ञान-कसौटी ज्ञान-मीमासा की वस्तु है। हमारे ज्ञान की वस्तु हमारे ज्ञान से पहले पायी जाती है और ज्ञान-वस्तु मानव-ज्ञान से उत्पन्न नही होती है। परन्तु किसी भी वस्तु को जानने के लिए मानव को अपने ज्ञान का सहारा लेना पडता है। अत, ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से ज्ञान-कसौटी पहले आती है, और जब ज्ञान-कसौटी सिद्ध हो जाती तब ज्ञान-वस्तु को स्थिर किया जाता है। इसी तर्क के अनुसार ज्ञान-कसौटी पहले आयी है और तब इसके द्वारा पूर्ण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। ज्ञान से विश्व-तत्त्व सिद्ध नही होता है, पर परम तत्त्व से ही मानव-ज्ञान और सभी वस्तुओ की सत्यता सिद्ध होती है। अत., ज्ञान-कसौटी का भी आधार तात्त्विक सत्ता है। इस प्रकार पूर्ण ईश्वर की सत्ता ही अन्तिम ज्ञान-कसौटी का आधार है। इसलिए ईश्वर-सत्ता-सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति मे ज्ञान-कसौटी पहले आती है और तब इस ज्ञान-कसौटी की तात्त्विक सत्ता सिद्ध करने के लिए पूर्ण ईश्वर की मदद ली जाती है। अत, यहाँ किसी प्रकार का चक्रानुमान नही है।

देकार्त की उपर्युक्त युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि आप बुद्धिवादी अवश्य थे, पर आप प्रत्ययवादी नही थे। आपके अनुसार वस्तु का अस्तित्व मानव ज्ञान-से स्वतन्त्र है। ईश्वर और अन्य तात्त्विक सत्ताएँ मानव-ज्ञान से परे तथा स्वतन्त्र हैं। इसलिए ज्ञान-मीमासा तत्त्व-मीमासा पर निर्भर करती है और यह वस्तुवाद (realism) का एक मौलिक सिद्धान्त है, परन्तु प्रत्ययवाद के अनुसार तत्त्व-मीमासा ज्ञान-मीमासा पर आधारित होती है।

यद्यपि देकार्तीय ईश्वर मध्ययुगीन धर्म-विश्वास का ईश्वर है, फिर भी इसका प्रत्यय स्पष्ट नही है। जब देकार्त कहते है कि सभी वस्तुएँ ईश्वर पर निर्भर करती है तो यहाँ ईश्वर परम सत्ता (Absolute) के रूप मे आता है। फिर जब देकार्त बताते हैं कि ईश्वर पूर्ण तथा सत्यनिष्ठ है तो इसमे ईसाई धर्म के देवता की झलक आ जाती है। अत, ईश्वर-सम्बन्धी अनिश्चित तथा अनेकार्थक शब्दो के प्रयोग से देकार्त के दर्शन मे गडबडी आ गयी है।

बाह्य जगत् सम्बन्धी विचार —अभी तक हमलोगो ने देखा है कि हमे केवल अपनी आत्मा और ईश्वर ही का निश्चित ज्ञान हो सकता है। पर इनके अतिरिक्त हम कुर्सी, मेज, पेड-पौधे इत्यादि वस्तुओ को भी जानते हैं। इन वस्तुओ को हम बाह्य जगत् की वस्तुएँ समझते हैं। तो क्या देश-काल, रूप-रग, गरम-ठढा इत्यादि

बाह्य वस्तुओ के यथार्थ गुण हैं ? फिर इनकी वास्तविकता का क्या प्रमाण है ? गरम, ठढा, रूप-रंग इत्यादि इन्द्रिय-जन्य सवेदनाएँ (Sensations) है और हमलोगो ने देकार्त की सन्देह-विधि के प्रसग मे देखा है कि इन्द्रियाँ हमे वचना मे डाल देती हैं और इसलिए इन्द्रियों पर भरोसा रखकर हम उन्हें वास्तविक गुण नही समझ सकते हैं। तो क्या बाह्य जगत्-सम्बन्धी सभी वस्तुएँ भ्रमात्मक हैं ? नही, हमे केवल जानना है कि जगत् की कौन-कौन बातें स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है और कौन बातें अस्पष्ट है। जो बातें स्पष्ट तथा परिस्पष्ट होगी, वे ही बातें बाह्य जगत् के सम्बन्ध मे सत्य समझी जा सकती हैं। जगत् के सम्बन्ध मे हमे केवल एक बात सामान्य रूप से (In general) स्पष्ट तथा परिस्पष्ट मालूम देती है और वह यह है कि एक बाह्य जगत् है, जिसमे अनेक वस्तुएँ पायी जाती हैं और जिनसे हमारे रूप-रग, सर्दी-गर्मी इत्यादि की सवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। अतः, बाह्य जगत् की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। मान लिया जाय कि बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता न हो तो हमे मानना पडेगा कि बाह्य जगत् मे पायी जानेवाली सभी वस्तुएँ और उनके गुण या तो मानव-आत्मा से या ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु यदि वस्तुएँ और उनके गुण आत्मा मे या ईश्वर मे हो और हमे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट मालूम दे कि ये बाह्य जगत् मे हैं तो यह वचना हो जायगी और तब हमारा सृजनहार ईश्वर, जिसने हमारा स्वरूप ऐसा बना दिया है कि स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान मे भी धोखा हो जाय, वचक या धोखेबाज हो जायगा। परन्तु हमलोगो ने देखा है कि पूर्ण ईश्वर सत्यनिष्ठ है और इसलिये उसकी सृष्टि मे धोखे की गुजाइश नहीं है। इसलिए ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर भरोसा रखते हुए हम कह सकते हैं कि हमारे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान के अनुरूप बाह्य जगत् स्वतन्त्र रूप मे सत्य है।

यहाँ हम देखते हैं कि देकार्त ने केवल यही सिद्ध किया हैं कि बाह्य जगत् की अपनी स्वतन्त्र तथा वास्तविक सत्ता है, परन्तु इतने से ही बाह्य जगत् का ज्ञान पूरा नही होता है, क्योकि वैज्ञानिक ज्ञान मे हमे यह भी जानना चाहिए कि अमुक वस्तु और उसका गुण हम वास्तविक रीति से जानते हैं या नही। इस सम्बन्ध मे देकार्त का विचार साफ नही है, परन्तु इसकी आलोचना बाद मे की जायगी। दूसरी बात यह है कि बाह्य जगत् की स्वतत्र सत्ता का प्रमाण बनावटी दीखता है। यदि साक्षात् रीति से बाह्य जगत् की सत्ता प्रमाणित नही हो सकती, तो 'ईश्वर' भी इसे हमारे लिए सिद्ध नही कर सकता है। देकार्तीय दर्शन के अनुसार 'ईश्वर' और 'जगत्' मे किसी प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध नही हैं और इसलिए ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर आधारित बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता का प्रमाण भी बाह्य है और इसलिए इस प्रमाण मे Deus ex machina[1] का दोष कहा गया है।

---

१ यह वह दोष है, जिसमें दो वस्तुओं में वाह्य लगाव के आधार पर सम्बन्ध स्थापित कर

हमलोगो ने पहले ही देखा है कि देकार्त वस्तुवादी (Realist) थे और वे मानते थे कि कुर्सी, मेज इत्यादि वस्तुओ की स्वतन्त्र सत्ता है। और वे इन्हें पदार्थ (Substance) मानते थे। उनके अनुसार पदार्थ वह है, जिसकी अपनी निजी सत्ता हो और जो अपनी सत्ता के लिए किन्ही अन्य वस्तुओ पर निर्भर न हो।[२] इस अर्थ मे सासारिक वस्तुओ को वास्तव मे 'पदार्थ' नही कहा जा सकता है, क्योकि ये वस्तुएँ एक-दूसरे पर निर्भर करती है। अत, केवल ईश्वर ही एक मात्र पदार्थ हो सकता है। इस अर्थ मे ईश्वर ही एकमात्र पदार्थ (Absolute substance) है, परन्तु साथ-ही-साथ देकार्त ने आत्मा तथा जगत्, मन तथा शरीर को भी गौण अर्थ मे दो स्वतन्त्र पदार्थ माना है। आत्मिक तथा भौतिक पदार्थ परम नही हैं, क्योकि दोनो को ईश्वर पर निर्भर रहना पडता है। हमलोगो ने पहले ही देखा है है कि आत्मा का सारगुण, जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट रीति से मालूम होता है, 'चेतना' (Consciousness) है। पर वाह्य जगत् का सारगुण क्या है? देकार्त के अनुसार भौतिक जगत् का सारगुण, जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है, 'विस्तार' (Extension) कहा जा सकता है। चेतना तथा विस्तार की अनेक उपावस्थाएँ (Modifications) पायी जाती है। जैसे, रूप या आकार तथा गति-विस्तार के उपगुण या प्रकार (Modes) हैं। उपगुण या प्रकार बिना पदार्थ तथा सारगुण (attributes) के सभव नही हो सकता है, पर पदार्थ तथा सारगुण विना उपगुण के सभव हो सकते हैं। देकार्त के इन सब मतो की गहरी छाप स्पिनोजा पर पडी है, जहाँ इन सब परिभाषाओ को उग्ररूप मे लिया गया है।

परन्तु भौतिक जगत् के विस्तार के अतिरिक्त हम इसमे रग, घ्राण, ताप इत्यादि अन्य गुण भी पाते हैं, तो हम इन्हें किस श्रेणी मे रख सकते है? यहाँ पर देकार्त ने गुणो को प्राथमिक (Primary) तथा अप्राथमिक या गौण (secondary) दो विभागो मे बाँटा है। प्राथमिक गुण वह है जिसे हम स्पष्ट तथा परिस्पष्ट रूप रूप से देखते हैं, अर्थात् जिसे हम गाणतिक रूप दे सकते है। इस अर्थ मे विस्तार, आकार, गति, काल तथा सख्या (Number) प्राथमिक गुण हैं। गौण गुण अस्पष्ट हैं और रग, घ्राण, ताप, ठढ इत्यादि को इनके अन्तर्गत गिना जाता है। प्राथमिक गुण ही वस्तुओ मे पाये जाते हैं, पर गौण गुण आत्मनिष्ठ या विषयिनिष्ठ (Subjective) होते हैं।

विस्तार को ही भौतिक पदार्थ का एक मात्र सारगुण मान लेने से देकार्त

दिया जाय। Deus का अर्थ हे 'दो' अर्थ ex का है 'वाह्य' या 'वाहर से' और machina का अर्थ है 'साधन' या machinery। अत, यह हुआ द्विमध्य वाह्य कारण-दोष।

२ A substance is that which exists by itself and the existence of which does not need the existence of anything else

के प्रकृति-दर्शन मे कई विशेषताएँ आ जाती हैं। जहाँ दिक् (Space) होगा वहाँ विस्तार का होना भी अनिवार्य माना जायगा, क्योकि विस्तार सारगुण है। अत, देकार्त के अनुसार कही भी शून्यता (Vacuum) नही हो सकती है। चूँकि भौतिक पदार्थ का सारगुण विस्तार है और विस्तार का असख्य विभाजन हो सकता है, इसलिए, देकार्त के अनुसार अछेद्य तथा अभेद्य अणु की सभावना नही हो सकती है। फिर चूँकि विस्तार निष्क्रिय (Passive) गुण है, इसलिए इसमे अपनी गति नहीं उत्पन्न हो सकती है। यदि इसमे गति होगी भी तो वह यान्त्रिक धक्के से ही उत्पन्न हो सकती है। परन्तु निष्क्रिय विस्तारमय भौतिक जगत मे यान्त्रिक धक्का उत्पन्न कैसे हुआ ? यहाँ भी देकार्त ने बनावटी व्याख्या की मदद ली है। उनके अनुसार ईश्वर ने सृष्टि के समय ही विश्व मे यान्त्रिक गति उत्पन्न की है और तब से विश्व मे गति जारी है।

देकार्तीय भौतिकशास्त्र-विचार अधिकाशत अब अमान्य है, पर गति के सम्बन्ध मे देकार्त का विचार वर्त्तमानकालिक सापेक्षता सिद्धान्त (The theory of relativity) की पूर्वछाया मालूम देता है। देकार्त के अनुसार गति सापेक्ष है। चलते हुए जहाज पर स्थिर यात्री के लिए जहाज स्थावर है, पर नदी के तटपर बैठे हुए व्यक्ति के दृष्टिकोण से यह गतिशील है।

देकार्त के अनुसार जगत् भौतिक है, जिसमे केवल यात्रिक गति ही हो सकती है। इसलिए वाह्य जगत् की सभी वस्तुएँ यान्त्रिकीय नियमो से ही स्पष्ट की जा सकती है। पशुओ को भी जटिल यन्त्र समझना चाहिए और उनकी प्रक्रियाएँ आत्म-सचालनवाद (Automation theory) के आधार पर स्पष्ट की जा सकती हैं। देकार्त के इस मत के प्रभाव मे आकर पशु-विच्छेदन (Animal vivisecton) मे विशेष प्रगति हुई और प्रतिक्षेप-प्रक्रिया (Reflex acts) की अच्छी जानकारी हुई। पशुओ के प्रति यन्त्रवाद के सिद्धात को मानने के कारण इसमे व्यवहारवाद की पूर्वछाया देखी जाती है।

मन तथा शरीर, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ या द्वैतवाद— देकार्त ने सन्देह-विधि के आधार पर पाया कि आत्मा का मुख्य गुण चेतना है और चेतना के स्वरूप को जानने के लिए किसी अन्य प्रकार के पदार्थ-ज्ञान की आवश्यकता नही पडती है। उसी प्रकार से भौतिक पदार्थ का सारगुण विस्तार है और विस्तार की सत्ता चेतना की सत्ता से परे तथा स्वतन्त्र है। अत, मन तथा शरीर, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ दो प्रकार की, एक-दूसरे से परे तथा स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं। इसलिए देकार्त के दर्शन को 'द्वैतवाद' (Dualism) कहा जाता है।

इस द्वैतवाद के अनुसार मानव-शरीर भौतिक पदार्थ है, जिसकी व्याख्या यान्त्रिकीय (Mechanical) नियमो के आधार पर की जा सकती है। परन्तु मानव मे

आत्मा भी है, जो शरीर के यान्त्रिकीय नियमो से सचालित नही होती है। अब यदि शरीर तथा आत्मा का स्वरूप एक-दूसरे के विपरीत हो तो मानव-प्रक्रियाओं की व्याख्या किस प्रकार से की जा सकती है? मानव, शरीरधारी आत्मा है या आत्मामय शरीर है। मन तथा शरीर के सम्बन्ध मे क्रिया-प्रतिक्रियावाद अथवा अन्योन्य-क्रियावाद (Inter-actionism) या उनके बीच समानान्तरवाद (Parallelism) का सिद्धात लागू हो सकता है। मन तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध मे इनके अतिरिक्त अन्य सिद्धात भी हो सकते है, परन्तु देकार्त मन तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध के प्रति कभी अन्योन्य-क्रियावाद और कभी समानान्तरवाद की ओर झुके हुए दीखते हैं। जब वे शारीरिक प्रक्रियाओ की व्याख्या यान्त्रिकीय नियमो के आधार पर करते हैं और चेतन की व्याख्या आत्मा के स्वरूप पर ही आधारित करते हैं तब इसमे समानान्तरवाद दीखता है। समानान्तरवाद के अनुसार मन तथा शरीर दोनो की अपनी प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं और शरीर की व्याख्या शारीरिक नियमो से और मानसिक प्रक्रियाओ की व्याख्या आत्मिक नियमो के आधार पर होती है। अब यह ठीक है कि शारीरिक प्रतिक्षेपो (Reflexes) की व्याख्या बिना चेतना की मदद से की जा सकती है। जैसे नाक मे नस के पडने पर हम चाहें या न चाहें, छीक आयगी ही। छीकने के प्रतिक्षेप मे चेतना का कोई हाथ नही दीखता है। उसी प्रकार स्पष्ट तथा परिस्पष्ट चेतना की व्याख्या के लिए शारीरिक प्रक्रियाओ की अवहेलना की जा सकती है। समसामयिक मनोविज्ञान तथा दर्शन मे भी कुछ ऐसे विचारक हैं, जो कहते है कि शुद्ध विचार मे भाषा तक का कोई स्थान नही है। परन्तु मानव मे प्रतिक्षेप तथा शुद्ध विचार सीमान्त उदाहरण (Extreme case) है और वास्तव मे इन सीमान्तो के बीच अनेक ऐसी घटनाएँ है, जिन्हें हम मन तथा शरीर के समानान्तरवाद के आधार पर स्पष्ट नही कर सकते हैं, क्योकि इन घटनाओ के होने मे मन तथा शरीर दोनो का सहयोग मालूम देता है। स्वय देकार्त ने बताया है कि गौण या अप्राथमिक गुण, जिनमे ठढा, गरम, रग इत्यादि गिने जाते हैं, मन तथा शरीर के सहयोग से ही स्पष्ट किये जा सकते है। अत गौण की व्याख्या मे देकार्त ने अन्योन्य-क्रियावाद अथवा क्रिया-प्रतिक्रियावाद की मदद ली है। चूंकि गौण गुण की व्याख्या से मन तथा शरीर के सम्बन्ध और देकार्त की ज्ञानमीमासा पर अच्छा प्रकाश पडता है, इसलिए इसकी भी चर्चा कर देनी चाहिए।

(१) सर्वप्रथम उद्दीपक (Exciting) वस्तु का प्रभाव निरीक्षक की इन्द्रियो पर पडता है।

(२) इन प्रभावो के फलस्वरूप इन्द्रियो की नस-तन्तु की प्राणशक्तियाँ *

* यहाँ animal spirits का अनुवाद करना कठिन है, क्योंकि यह वह शारीरिक

(Animal spirits) उद्दीप्त होकर पिनियल ग्रन्थि † (Pineal gland) मे पहुँचती हैं और वहाँ अपनी छाप (Seal) छोड देती हैं।

(३) इसी पिनियल ग्रन्थि की छाप आत्मिक चेतना का सयोग (Occasion) या उद्भावक कारण (Stimulating cause) होती है।

इसी प्रकार से जब आत्मा को शारीरिक व्यापार पैदा करना होता है तब पिनियल ग्रन्थि मे स्थित प्राणशक्तियो को यह उद्भावित करती है और वहाँ से उद्दीप्त होकर प्राणशक्तियाँ स्नायु (Muscle) और पिण्डो (Glands) मे पहुँचकर शारीरिक व्यापार उत्पन्न करती हैं।

आत्मा तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध की व्याख्या पूर्णतया असतोषजनक है। यदि आत्मा प्राणशक्तियो को, जो सूक्ष्म होते हुए भी शारीरिक ही हैं, उद्दीप्त कर सकती है तो शरीर को ही प्रभावित करने मे इसकी क्षमता को क्यो नही मान लिया जाय ? उसी प्रकार यदि पिनियल ग्रन्थि पर प्राणशक्तियो की छाप से आत्मा प्रभावित हो सकती है तो अन्य शारीरिक प्रक्रियाओ से भी यह प्रभावित हो सकती है। यहाँ पर कहना कि पिनियल ग्रन्थि अविभाजित है और इसलिए यह आत्मा का वास-स्थान है और इसलिए आत्मा, शरीर के अन्य भागो मे नही व्याप्त हो सकती है, केवल मनगढन्त है। आत्मा अशारीरिक सत्ता है और इसे किसी भी प्रकार के भौतिक स्थान की आवश्यकता नही है। अत आत्मा तथा शरीर का आपसी सम्वन्ध देकार्त के द्वारा स्पष्ट नही हो सका है। देकार्त ने आत्मा तथा शरीर के घनिष्ठ सम्वन्ध मे अन्योन्य-क्रियावाद से बचने के लिए घुडसवार और घोडे की उपमा दी है। घुडसवार के एँड मारने से घोडा दौडता है। परन्तु घोडे की दौड की व्याख्या घोडे की शारीरिक शक्ति से की जायगी, क्योकि घोडा अपनी शक्ति से, न कि घुडसवार की शक्ति से दौडता है। यहाँ पर घोडे की दौड का प्रारम्भिक कारण घुडसवार की एँड है, पर एँड घोडे की दौड को प्रारम्भ करती है, न कि दौड-शक्ति का यह कोई भाग बनती है। उसी प्रकार से आत्मा तथा शरीर की प्रक्रियाएँ एक-दूसरे मे प्रक्रिया उत्पन्न करने का अवसर-मात्र (occasion) है न कि उनका कोई वास्तविक कारण है।

परन्तु घुडसवार और घोडे के बीच की उपमा सही नही है, क्योकि इन दोनो

शक्ति है, जो न तो पूरी भौतिक है और न जीव-शक्ति (Vital impulse)। परन्तु इन दोनों के बीच की शक्ति है। अतः यह अर्द्ध भौतिक तथा अर्द्ध जीवित शक्ति है। यहाँ भी देकार्त की विडम्बना व्यजित होती है।

† मस्तिष्क के सभी भाग बायें-दाहिने वर्ग में बाँटे जा सकते हैं, परन्तु पिनियल ग्रन्थि मस्तिष्क के बीच ऐसा भाग है, जिसमें विभाजन नहीं है। अत देकार्त ने इसे अविभाजित तथा अभेदित आत्मा का वास-स्थान माना था। परन्तु देकार्त की यह कल्पना केवल मनगढन्त है।

के स्वरूप मे आत्मा तथा शरीर के बीचवाला भेद नही है। घुडसवार तथा घोडे दोनो पशु और शरीरधारी जीव हैं, परन्तु आत्मा तथा शरीर मे विपरीत को छोडकर कोई भी बात सामान्य नही है। यदि प्राणशक्तियो का सचालन आत्मिक चेतना का सयोगात्मक (Occasional) कारण हो तो शरीर तथा मन के बीच अन्योन्य-क्रिया का होना, असाक्षात् रूप से ही, मान लिया जाता है और यदि उनके बीच अन्योन्य-क्रिया है तो उन्हें दो सर्वथा विपरीत पदार्थ मानना युक्तिहीन हो जाता है।

हमने देखा है कि देकार्त को रग, ताप इत्यादि गौण गुणो को स्पष्ट करने के लिए प्राणशक्तियो की कार्यवाही के प्रसग मे आत्मा पर शरीर के प्रभाव को मानना पडा है। परन्तु आत्मा पर शरीर के प्रभाव को और भी अधिक स्पष्टता के साथ, उन्हें रागात्मक वृत्तियो (Passions) की व्याख्या मे मानना पडा है। भय, क्रोधादि को चेतन प्रक्रिया मानना ही पडता है और फिर देकार्त ने बताया है कि ये प्रक्रियाएँ मन के ऊपर प्रभाव डालने से उत्पन्न होती हैं। देकार्त के अनुसार प्राणशक्तियो के सचालन से रागात्मक वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यह सिद्धान्त समसामयिक जेम्स-लैगा के सिद्धान्त की पूर्वछाया है। अत रागात्मक वृत्तियो की देकार्तीय व्याख्या मनोविज्ञान मे महत्त्व रख सकती है, पर इसके आधार पर मन तथा शरीर को दो स्वतत्र सत्ता मान लेने मे भारी आपत्ति उठ खडी होती है।

सत्यता तथा भ्रम— स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावना की सत्यता ईश्वर की सत्यनिष्ठा पर निर्भर है, पर यह भी सर्वमान्य है कि मानव-ज्ञान प्राय दोषपूर्ण हो जाया करता है तो क्या ईश्वर मानव-भ्रम के लिए दोषी ठहराया जा सकता है ?

इस प्रसग मे देकार्त का कहना है कि वस्तुबोध (Perception) तथा भावना को सत्य या असत्य नही कहा जा सकता है। ये केवल स्पष्ट या अस्पष्ट कहे जा सकते हैं। सत्यता या असत्यता का प्रश्न निर्णय (Judgment) पर निर्भर करता है और निर्णय मानव-समझ (Intellect) तथा सकल्प (Will) के योग से बनता है।

देकार्त का यह सिद्धान्त समसामयिक रसेल इत्यादि विचारको की परिछाया है, जिसके अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त (Sense data) मे गलती की गुजाइश नही है, पर निर्णय तथा तार्किक वाक्य (Proposition) में ही सत्यता-असत्यता पायी जाती है।

निर्णय मे हमे वस्तुबोध तथा भावना समझ से प्राप्त होती है, पर सकल्प के आधार पर ही हम इनका विधान (affirmation) या निषेध (Denial) करते हैं। यदि भावना स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो तो हमारा विधान या निषेध सत्य होता है और यदि भावना अस्पष्ट हो और हम तब उसका विधान या निषेध करें तो भ्रम या असत्य होने की गुजाइश हो जाती है। चूँकि हमे कुछ ही भावनाओ का स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान हो सकता है, इसलिए सही ज्ञान अति सीमित है। परन्तु मानव इस सीमित ज्ञान से सतुष्ट नही होता है और अस्पष्ट भावनाओं के सम्बन्ध मे भी निर्णय करने लगता है, इसलिए

भ्रम हो जाता है। अब हमे गौण गुण तथा रागात्मक वृत्तियों का स्पष्ट ज्ञान नही हो सकता है और इन स्थलो पर हमे अपने निर्णय को स्थगित रखना चाहिए। फिर यदि हम यहाँ पर किसी निर्णय पर आयें तो इन निर्णयो का लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति नही है, पर ये हमारे हित तथा अहित का निर्देशन-मात्र करते है।

काण्ट ने भी मानव-ज्ञान को सीमित बताया है। हमारे ज्ञान की सीमा है और उस सीमा का अतिक्रमण करने पर हम भ्रम मे पड जाते हैं। जिस क्षण हम ज्ञान परिमिति से बाहर होकर गूढ तात्त्विक वस्तुओ की विवेचना आरम्भ करते हैं, उसी क्षण हमारे पाँव विभिन्न भ्रमो के पक मे सरक जाते हैं। परन्तु काण्ट ने हमारी इस असमर्थता का दोष ईश्वर के मत्थे नही मढा है, जैसा कि देकार्त ने किया है। देकार्त के अनुसार हमारी पहुँच एक खास सीमा तक हो सकती है और हमारे इस सीमित ज्ञान का उत्तरदायित्व ईश्वर पर है, क्योकि ईश्वर ने हमे ऐसी सबल क्षमता नही दी है, जिससे गौण गुणो और रागात्मक वृत्तियो की स्पष्ट भावना प्राप्त हो सके। इस प्रकार हमारी इस कमी का भागी कम-से-कम ईश्वर ही ठहरता है।

अब इस आपत्ति का समाधान करते हुए देकार्त ने बताया है कि ईश्वर पर ऐसा दोष मँढना समीचीन नही। यदि मानव के पास समझ सीमित, परन्तु सकल्प असीमित हो तो भी सकल्प के उचित या अनुचित व्यवहार का भार मानव पर है ईश्वर पर नही। हम उस सकल्प को उचित रीति से काम मे ला सकते हैं। असीमित संकल्प का सम्यक् व्यवहार हमारे बूते की बात है। हमे याद रखना चाहिए कि मानव ईश्वर की रचना है और किसी भी रचना को असीमित तथा पूर्ण नही बनाया जा सकता है। फिर मानव की अपूर्णता का सम्बन्ध विश्व के सामजस्य से है। यदि विश्व-सामजस्य मानव की अपूर्णता से बनी रहती है तो विश्व के रचयिता ईश्वर को हम मानव-अपूर्णता के लिए दोषी नही ठहरा सकते हैं। फिर यदि सकल्प को ऐसा बनाया जाता कि वह केवल स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावनाओ ही तक सीमित रहे तो मानव यन्त्रवत् हो जाता, जिसमे इच्छा-स्वातन्त्र्य ही लुप्त हो जायगा। अत, आध्यात्मिकता के विकास के लिए सकल्प की असीमता अनिवार्य है और यदि इससे मानव-ज्ञान मे दोप आ जाय तो इसके लिए स्वय मानव उत्तरदायी है न कि ईश्वर।

देकार्त वस्तुवादी (Realist) अवश्य थे, पर आप ज्ञान मे प्रतिकृति अथवा प्रतिबिम्बवाद (Copy theory) के समर्थक थे। इनके अनुसार हमारे मन मे वस्तुओ की जो भावनाएँ होती हैं, वे इन्द्रिय, प्राणशक्ति तथा मस्तिष्क के माध्यम से उत्पन्न होती हैं और वस्तुओ का ज्ञान असाक्षात् रूप से (Indirectly) ही उत्पन्न होता है। अत, ये भावनाएँ वस्तुओ की नकल हैं। पर प्रश्न उठता है कि जब भावनाएँ कई प्रकार के माध्यम से छनकर आती हैं तो हम इन्हें किस प्रकार वस्तुओ की विश्वसनीय नकल या बिम्ब समझ सकते हैं? फिर यदि हमारी सारी भावनाएँ नकल-मात्र

हैं तो हम कैसे समझें कि ये नकल सही या गलत है, क्योंकि यहाँ वास्तविक वस्तुओं का ज्ञान, जिसके ही आधार पर नकल की सही पहचान हो सकती है, हमे प्राप्त ही नही होता है। इन सब बातो की व्याख्या बर्कले के प्रसग मे की जायगी, पर देकार्त का यह कहना कि ईश्वर की सत्यनिष्ठा हमे आश्वासन देती है कि हमारी भावनाओ के अनुकूल वास्तव मे वस्तुएँ हैं, ठीक नही है। जो बात युक्तिसगत नही है, उसे ईश्वर की सत्यनिष्ठा के बाह्य अधिकरण से सिद्ध नही किया जा सकता है।

आधुनिक दर्शन मे देकार्त का महत्त्व— कुछ विद्वान् बेकन को और कुछ विद्वान् देकार्त को आधुनिक दर्शन का जन्मदाता समझते हैं। परन्तु हमलोगो ने देखा है कि बेकन ने आधुनिक दर्शन की भूमिका लिखी है और इसलिए उन्हें इसका जन्मदाता मानना उचित न होगा। पर देकार्त ने स्वतन्त्र खोज की है और उन्होने जो समस्याएँ उठायी हैं, वे आधुनिक तथा वर्त्तमानकालिक विचारधारा मे अति महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। कई स्थलो पर हमलोगो ने देकार्त की देन और उसके महत्त्व का उल्लेख किया है, परन्तु बुद्धिवाद, द्वैतवाद, विज्ञानवाद इत्यादि देकार्त की मुख्य देन है और यही कारण है कि अरस्तू और काण्ट के बीच के युग मे देकार्तीय दर्शन को क्रान्तिकारी कहा गया है। आधुनिक दर्शन मे जितनी मुख्य समस्याएँ हैं, प्राय वे सब देकार्त की परम्परा का अनुसरण करती हैं और इसलिए देकार्त को आधुनिक दर्शन का विधानकर्त्ता (Legislator) भी समझा गया है। अब हम देकार्त की उन देनो का सक्षिप्त उल्लेख करेंगे, जिनके कारण ठीक ही मे आप विख्यात हैं।

विधि—देकार्त उस युग मे हुए थे जिसमे धार्मिक सस्था की प्रभुता विशेष थी और उसे छोडकर बुद्धि ही के आधार पर सत्यता की स्थापना करने का प्रयास तो उनकी निर्भीकता तथा स्वतन्त्रता का ठोस प्रमाण है। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे विचारक स्वतन्त्र होने लगे और अधविश्वास तथा निरर्थक पुरानी लीको को छोडकर नयी दिशा मे प्रगति करने लग गये। विचार-स्वातत्र्य के पक्ष को स्वीकार करने के कारण देकार्त की विधि ने दार्शनिको के लिए मैगनाकार्टा का अधिकार प्राप्त कर दिया है।

परन्तु यथार्थ मे देकार्त का महत्त्व विज्ञानवाद (Scientism)* को अपनाने मे है। विज्ञानवाद वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार विज्ञानो की पद्धति तथा गवेषणाएँ किसी भी ज्ञान की एकमात्र पद्धति तथा सत्यता की कसौटी है। चूँकि देकार्त के समय मे, और खासकर उनके लिए, गणित ही विज्ञान का विशेष अग था, इसलिए उन्होने दर्शन में गणित की परम्परा को चलाने की कोशिश की है और इस परम्परा

---

* बौद्धदर्शन का 'विज्ञानवाद' विषयीगत या आत्मगत प्रत्ययवाद के लिए काम में लाया गया है, परन्तु इस प्रसग में इस पद की अपनी दूसरी व्याख्या है, जिसे बता दिया गया है। इसलिए 'वैज्ञानिकवाद' सही शब्द मालूम देता है।

को प्राय· सभी आधुनिक दार्शनिको ने अपनाया है। अब गणित की अपनी कुछ विशेषताएँ है, जिनका स्थान स्पिनोजा, काण्ट इत्यादि के दर्शन मे मिलेगा। गणित विज्ञानो मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और इसलिए आगे चलकर गणितवाद वैज्ञानिक-वाद मे परिणत हो गया। लॉक, ह्यूम, लाइबनित्स तथा काण्ट मे वैज्ञानिकवाद की अच्छी झलक मिलती है। विज्ञानवाद की विशेषता और इसकी कमी अब सम-सामयिक विचारो मे स्पष्ट होने लगी है। परन्तु, जो कुछ भी विज्ञानवाद के विषय मे कहा जाय, इसकी परम्परा देकार्त मे ही प्रारम्भ होती है और वे इस परम्परा के जन्मदाता समझे जा सकते है।

बुद्धिवाद— हमलोगो ने पहले ही देखा है कि बुद्धिवाद को सामान्य तथा विशेष अर्थ मे काम मे लाया जाता है और इन दोनो अर्थो मे देकार्त आधुनिक दर्शन मे बुद्धिवाद के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। बुद्धिवाद विशेष अर्थ मे बताता है कि सर्वव्यापक तथा अनिवार्य ज्ञान आत्मजात प्रत्ययो के आधार पर प्राप्त होता है, जिसका आदर्श गणितशास्त्र मे मिलता है। इस आत्मजात प्रत्यय की समस्या को महत्त्वपूर्ण समझकर लॉक ने इस मत का खण्डन किया और लाइबनित्स ने इसका मण्डन किया है। फिर गणितशास्त्र के विचार आत्मजात भावनाओ पर आधारित हैं—यह काण्ट ने भी स्वीकार किया है और इसके आधार पर उन्होने अतिदर्शनवाद (Transcendentalism) की स्थापना की है। परन्तु गणितीय युक्ति को अनिवार्य मानना एक बात है और उसे आत्मजात प्रत्ययो पर आधारित समझना दूसरी बात। समसामयिक तार्किक अनुभववादी रसेल आदि गाणतिक तर्कशास्त्र के आधार पर गणित की अनिवार्यता को मानते हैं, परन्तु इसे आत्मजात प्रत्ययो पर आधारित नहीं मानते हैं। अब इस प्रसग मे जो भी सत्यता हो, कम-से-कम मानना पडेगा कि देकार्त ने विचार मे एक ऐसा मोड ला दिया है जिस ओर दार्शनिक गवेपणाएँ अब भी झुकी हुई हैं।

देकार्त ने स्पष्ट रूप मे कुछ ही प्रत्ययो को आत्मजात माना था और शेष को या तो स्वरचित या बाह्यरचित (Adventitious) कहा था। फिर बाह्यरचित भावना वह थी, जो बाह्य वस्तु के द्वारा उत्पन्न हो। पर इन सब बातो को स्वीकार करने पर भी उन्हें मानना पडा की गौण गुण (Secondary qualities) निरीक्षक मे है, न कि वस्तुओ मे। बाहर के उद्दीपक का काम यही है कि वे शारीरिक प्राण-शक्तियो को उद्भावित करें। परन्तु, प्राणशक्तियो के द्वारा पिनियल ग्रन्थि की छाप केवल प्रसग-मात्र या सयोगात्मक (Occasional) है, जिसके रहने से चेतना मे गौण गुण का प्रादुर्भाव होता है। इस रीति से देखने पर मालूम होता है कि अन्त मे सभी भावनाएँ आत्मजात हैं। इस बात को लाइबनित्स ने अपने दर्शन मे विशेष स्थान दिया है और बताया है जि सभी प्रत्यय आत्मजात हैं। इस प्रसग मे कहा जा सकता

है कि देकार्त के इस सिद्धान्त के दूसरे पक्ष को बर्कले ने अपनाया है अर्थात् उन्होने बतलाया है कि वस्तुओ का ज्ञान हमे नही हो सकता है और यह भी बताना कठिन है कि वस्तुओ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है या नही। पर यह ठीक है कि जिसे हम वस्तु कहते हैं, वास्तव मे वे प्रत्यय-मात्र है। अत, देकार्त के 'आत्मजात प्रत्ययों के सिद्धान्त' (Theory of innate ideas) मे बर्कले के विषयिनिष्ठ प्रत्ययवाद की पुष्टि हुई है। प्रत्ययवाद के विकास मे रसेल ने भी देकार्त के इस महत्त्व को माना है।*

द्वैतवाद — देकार्त को उग्रद्वैतवादी कहा गया है, क्योकि वास्तव मे उन्होंने सब जगह द्वैतवाद को ग्रहण किया है और जहाँ-जहाँ उन्होने द्वैतवाद को आश्रय दिया है, वहाँ-वहाँ वह महत्त्वपूर्ण समझा गया है।

(क) पहली बात यह है कि उन्होने मन और शरीर, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ का द्वैतवाद माना है। इनके आपसी सम्बन्ध के समाधान मे अन्योन्य-क्रियावाद, समानान्तरवाद तथा सयोग या प्रसगवाद (Occasionalism) की झलक पायी जाती है। देकार्त का मत यहाँ पर अनिश्चित है, पर इनके द्वारा किये गये सकेतो को इनके बाद के विचारको ने पल्लवित तथा पुष्पित किया है। सयोगवाद को आर्नल्ड ज्यूलिक्स ने (Arnold Geulincx), समानान्तरवाद को स्पिनोजा ने तथा समानान्तर के सशोधित रूप, जिसे पूर्वस्थापित सामजस्यवाद (Pre-established harmony) कहते हैं, लाइबनित्स ने अपनाया है। इसके बाद भी अबतक मन तथा शरीर के द्वैतवाद की समस्या को सुलझाने के लिए सत्रह सिद्धान्त बताये गये हैं और फिर भी इसका कोई समाधान नही दीखता है। पर कम-से-कम मानना पड़ेगा कि देकार्त ने दार्शनिको के लिए ऐसी समस्या रख दी है, जो उनकी बुद्धि और चातुर्य को पैनी किये रहती है। यही कारण है कि देकार्त का प्रभाव अब भी जीता-जागता है।

(ख) हमलोगो ने देखा है कि देकार्त स्वतन्त्र बुद्धिवादी थे और इसके आधार पर उन्होने वैज्ञानिकवाद को अपनाया था। उन्हें आभास भी हुआ होगा कि विज्ञान और धर्म मे सघर्ष हो सकता है। इस सघर्ष के समाधान के लिए उन्होने असाक्षात् रूप से एक सूझ बतायी है। उनके विचार के सकेतो से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने धर्म का सम्बन्ध चेतना से रखा और विज्ञान का सम्बन्ध यन्त्रवत् बाह्य जगत् से किया है। उन्होने अपने द्वैतवाद के आधार पर यह बताया है कि चेतना तथा बाह्य भौतिक जगत् एक-दूसरे से स्वतन्त्र है, इसलिए इनसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्म और विज्ञान भी एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और दोनो मे किसी भी प्रकार का झगडा नही हो सकता है, क्योंकि दोनो के अपने-अपने अलग-अलग क्षेत्र हैं, जिनमें वे सत्य हैं। अब

*History of Western Philosophy, P 586

भी बहुत से विचारक है, जो समझते हैं कि धर्म तथा विज्ञान मे किसी प्रकार का झगडा नही हो सकता है, क्योकि धर्म का विषय दैवी या अतिप्राकृतिक (Supernatural) क्षेत्र है और विज्ञान का क्षेत्र प्राकृतिक (Natural) घटना है। अब देकार्त की यह विचारधारा मान्य है या नही, यह कहना कठिन है, परन्तु इसका तात्कालिक परिणाम अच्छा हुआ; क्योकि विज्ञान-विस्तार के लिए सम्पूर्ण भौतिक विश्व वैज्ञानिको के हाथ मे आ गया। फिर पशुओ को यन्त्र मान लेने से कुछ पशुओ के प्रति क्रूरता अवश्य बढ़ी, पर पशु-विच्छेदन के आधार पर दैहिकशास्त्र की अच्छी उन्नति हुई और साम्प्रतिक व्यवहारवाद (Behaviourism) की पुष्टि मे देकार्तीय विचार का पूरा हाथ माना जाता है।

फिर यदि चेतना और उसके प्रत्ययो को आत्मजात मानने पर प्रत्ययवाद की प्रगति हुई, तो दूसरी ओर वाह्य जगत् को यन्त्रवत् मान लेने पर यान्त्रिकीय भौतिक-वाद मे भी अच्छी प्रगति आ गयी। अत, अनुदेकार्तीय प्रत्ययवाद तथा भौतिकवाद की प्रगतिशीलता तथा विकास का श्रेय देकार्तीय क्रान्ति को दिया जायगा।

(ग) देकार्त की ज्ञान-मीमासा मे भी द्वैतवाद है, क्योकि ज्ञान मे एक ओर बाह्य वस्तुएँ हैं और दूसरी ओर मानसिक प्रत्यय है। प्रत्यय वस्तु नही हैं, पर वे वस्तुओ की नकल या उनका प्रतिनिधित्व करते है। प्रत्ययो के प्रति अनुकरणवाद (Copy theory) या प्रतिनिधिवाद (Representational theory) लॉक ने भी स्वीकृत किया था और इनकी गहरी आलोचना बर्कले ने की थी। समसामयिक वस्तुवाद (Realism) मे भी अनुकरणवाद तथा प्रतिनिधिवाद की आलोचना पायी जाती है। पर यदि इन विचारधाराओ का महत्त्व है तो इस समस्या को प्रकाश मे लाने का श्रेय देकार्त को मिलना चाहिए।

(घ) फिर वस्तुओ के गुणो को प्राथमिक (Primary) तथा अप्राथमिक या गौण (Secondary) विभागो मे बाँटने मे भी देकार्त का द्वैतवाद व्यजित होता है। गुणो का द्वैतवाद लॉक ने स्वीकार किया है और इसके खडन करने पर बर्कले ने आत्मनिष्ठ या विषयीगत (Subjective) प्रत्ययवाद की नीव डाली है। उसी प्रकार देकार्त ने मानसिक शक्तियो मे समझ तथा सकल्प (Will) का द्वैतवाद रखा है, जिसे काण्ट ने बदलकर ज्ञानात्मक, इच्छात्मक तथा भावात्मक (Affective) प्रक्रियाओ मे बाँटा है। अत, देकार्त का द्वैतवाद बहुत स्थलो मे प्रभावशाली रहा है, इसलिए उन्हें आधुनिक दर्शन का जन्मदाता समझा जा सकता है।

क्रमबद्धता या सम्बद्धता (System) का महत्त्व— इसमे सन्देह नही कि देकार्त का दर्शन क्रमबद्ध है। सबसे पहले सन्देह-विधि के आधार पर उन्होने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर इससे ज्ञान-कसौटी निकाली। फिर ज्ञान-कसौटी के आधार पर ईश्वर और उसकी सत्यनिष्ठा का सिद्धान्त स्थापित किया, और अन्त मे बाह्य

जगत् की सत्ता को ईश्वर की सत्यनिष्ठा से स्पष्ट किया है। अब दर्शन को ईश्वर-केन्द्रित बनाने की परिपाटी मे स्पिनोजा, लाइबनित्स तथा बर्कले ने देकार्त का अनुसरण किया है। कुछ वर्त्तमानकालिक विचारको मे, जिनमें ह्वाइटहेड, वर्ग्सो तथा अलेक्जेण्डर का नाम लिया जा सकता है, यह परिपाटी लुप्त नही हुई है।

पर समसामयिक दृष्टिकोण से रसेल प्रभृति तार्किक, अनुभववादी तथा विश्लेषणवादी का कहना है कि दर्शन मे क्रमबद्धता आनी ही नही चाहिए। इनके अनुसार दर्शन का काम ज्ञान-प्रसार या ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करना नही है, क्योकि ज्ञान-वृद्धि केवल विज्ञानो ही के द्वारा हो सकती है। दर्शन का इतना ही काम है कि यह ज्ञान की परिशुद्धता (Clarification) मे योगदान दे। चूंकि ज्ञान-परिशुद्धता तर्कशास्त्र के नियमो से ही प्राप्त होती है, इसलिए ये विचारक तत्त्व-मीमासा की अवहेलना कर दर्शन को तर्कशास्त्र ही तक सीमित कर देते है। परन्तु दर्शन से तत्त्व-मीमासा को हटाकर दर्शन को अन्दर से खोखला नही किया जा सकता है। अब तार्किक अनुभववाद तथा विश्लेषणवाद मे जो भी सत्यता हो, कम-से-कम आधुनिक दार्शनिक क्रमबद्ध विचारक थे और इस क्षेत्र मे भी देकार्त ने इन लोगो का मार्ग-दर्शन किया है।

अत, देकार्त ने अपने विचारो से आधुनिक दर्शन मे तथा सामान्य रूप से पाश्चात्य दर्शन मे नई रोशनी ला दी है। उनके सभी विचार किसी भी समय मे सर्वमान्य नही हुए और न कभी किसीके हो सकते है, पर यह निर्विवाद है कि आधुनिक दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन मे उनकी क्रान्ति मानव के विचार-इतिहास मे एक विशेष स्थान रखती है।

बेनेडिक्ट स्पिनोजा (सन् १६३२—१६७७ ई०)

पाश्चात्य दार्शनिको मे देखा गया है कि उनका दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम होता है, क्योकि वे अपने दर्शन को अपने जीवन मे व्यवहार मे नही लाते हैं। परन्तु प्राचीन भारत मे ऋषियो के जीवन मे दर्शन तथा व्यवहार मे मेल हुआ करता था। अब पाश्चात्य अस्तित्ववादी विचारको मे दर्शन तथा व्यवहार मे मेल देखा जाता है, पर इस समय मे पाश्चात्य देशो मे प्राचीन भारत का आदर्श भी आदरणीय हो चला है। अत, शायद पाश्चात्य धर्म, मनोविज्ञान तथा दर्शन मे विचार तथा व्यवहार का मेल इसी भारतीय आदर्श के प्रभाव से होना सभव है। परन्तु आधुनिक दार्शनिको मे विचार तथा व्यवहार का सामजस्य स्पिनोजा मे पाया जाता है। स्पिनोजा यहूदी थे और यहूदियो को पूर्वीय जाति का माना जाता है। अत, स्पिनोजा के दर्शन मे सर्वेश्वरवाद (Pantheism)† पाया जाता है, जिसे स्पिनोजा ने अपने दर्शन मे पूर्णतया

†'Pantheism' दो शब्दों के योग से बना है, अर्थात् Pan+theos Pan का अर्थ

BENEDICT DE SPINOZA (1632 to 1677)

अपनाया है। इसलिए स्वेग्लर ने कहा है कि स्पिनोजीय दर्शन उसकी जातीयता का परिणाम है अर्थात् उसमे प्राच्य विचारो की प्रतिध्वनि गूँजती है।

बारूख स्पिनोजा का जन्म ऐम्स्टर्डाम मे सन् १६३२ ई० के २४ नवम्बर को हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा ऊँचे ढग मे हुई थी। सर्वेश्वरवाद का पालन करने से, जो ईसाई धर्म-दर्शन के विरुद्ध था, आप यहूदी धर्म-सघ से भी सन् १६५६ ई० मे निकाल दिये गये थे। इसका कारण यह था कि यहूदियो की आजादी ईसाई-धर्मियो की इच्छा पर निर्भर करती थी और उन लोगो को खुश रखने के ही लिए यहूदियो ने अपने महान् विचारक स्पिनोजा का बहिष्कार किया था। स्पिनोजा ने अपने बहिष्कार को ठढे दिल से स्वीकार कर लिया और मरण-पर्यन्त दार्शनिक ध्यान मे निमग्न रहे। इस श्मशानी, वानप्रस्थी के दर्शन-तत्त्व की ख्याति धीरे-धीरे बढ गयी और अनेक तात्कालिक दार्शनिक इनके दर्शन के लिए आते थे, जिनमे लाइबनित्स का भी नाम आता है। इन दोनो के पत्र-विनिमय से दोनो के दर्शन का अच्छा पता लगता है, पर लाइबनित्स ने इनकी सब बातो को एकदम छिपा दिया है। आप की ख्याति इतनी फैल गयी कि सन् १६७३ ई० मे हाइडेलबर्ग के विश्वविद्यालय ने इन्हे विचारो की पूर्ण स्वतन्त्रता का आश्वासन देकर दर्शन के अध्यापक के पद पर नियुक्त किया। परन्तु दर्शन के कठोर तपस्वी तथा विचार के स्वतन्त्र पक्षी को नौकरी तथा सामाजिक मान-मर्यादा के लुभानेवाले पिंजडे मे रहना स्वीकार न हुआ। ये क्षयरोगी थे और सन् १६७७ ई० की २१ फरवरी को इन्होने अपने शरीर का त्याग किया ताकि इनकी अमर आत्मा उस परम सत्ता मे मिल जाय, जिसकी इन्होने जीवन भर सेवा की थी। ये वैज्ञानिक काच बनाकर अपनी जीविका चलाते थे, इसलिए चतुर आलोचको ने कहा है कि तब से अबतक विचारक स्पिनोजा के दार्शनिक काच (Lens) से ही दुनिया को देखते हैं।[1]

स्पिनोजा और देकार्त— प्राय स्पिनोजा को युक्तिसगत देकार्ती कहते हैं। इसका पहला कारण यह है कि उन्होने देकार्त के दर्शन का अच्छा अध्ययन किया था और सन् १६६३ई० मे देकार्त के दर्शन की व्याख्यात्मक पुस्तक लिखी थी। फिर स्पिनोजा ने देकार्त के लिखित प्रश्नो के आधार पर अपने दर्शन की स्थापना की है और इसमे सन्देह नही कि देकार्त के मौलिक सिद्धान्तो के दोषो तथा त्रुटियो को हटाकर इन्होने सर्वेश्वरवाद की रचना की है। यही कारण है कि लाइबनित्स ने कहा है कि स्पिनोजा ने देकार्त के रोपे हुए बीज को अकुरित किया है। परन्तु इस

है 'सब' और theos का अर्थ है 'ईश्वर'। इसलिए Pantheism वह वाद है, जिसके अनुसार सभी वास्तविकता ईश्वरमय है।

1 "Spinoza lived by grinding lenses and ever since philosophers see the world through the lenses which he has manufactured"

मत का खण्डन करते हुए पोलॉक ने बताया है कि स्पिनोजा का दर्शन नवप्लेटोवाद तथा मैमोनाइड्स के दर्शन से ओत-प्रोत है न कि देकार्त के दर्शन से। पर केयर्ड ने स्पिनोजा को देकार्ती ही माना है।[1] परन्तु वास्तव मे स्पिनोजा देकार्ती नही थे क्योकि उन्होने देकार्त के सभी मौलिक सिद्धान्तो की आलोचना कर एक स्वतन्त्र दर्शन की रचना की है ।[2] इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

लियोन रौथ, जिन्होने स्पिनोजा का विशेष अध्ययन किया है, अपने विद्वत्तापूर्ण लेख[3] मे बताया है कि देकार्त की तीन मौलिक आधारशिलाएँ हैं, अर्थात् (१) स्पष्ट तथा परिस्पष्ट, पर पृथक्-पृथक् (Discrete) भावनाओ का सिद्धान्त (२) सृष्टिकर्त्ता देवता का सिद्धान्त, क्योकि इश्वर अपने सकल्प के ही आधार पर विश्व की रचना तथा इसका पालन करते हैं, और (३) सकल्पात्मक (Voluntaristic) तत्त्व-मीमासा का सिद्धान्त, क्योकि देकार्त के अनुसार मानव और ईश्वर दोनो मे वुद्धि की अपेक्षा सकल्प की ही प्रधानता दिखाई देती है। स्पिनोजा ने देकार्त के इन तीनो मौलिक सिद्धान्तो के विपरीत युक्ति पेश कर एक दूसरी ही विपक्षी दर्शन-परिपाटी की नीव डाली है।

देकार्त ने बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति मे प्राकृतिक ज्योति है, जिसके द्वारा हमे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावनाओ की अन्तर्सूझ या सहजज्ञान (Intuition) होता है, परन्तु ये भावनाएँ असम्बद्ध तथा पृथक् रहती है। पर यदि भावनाओ मे किसी प्रकार की आन्तरिक व्यवस्था न हो तो इन्हें किस प्रकार से क्रमबद्ध ज्ञान मे सम्बद्ध किया जा सकता है ? फिर बिना भावनाओ की सम्बद्धता से हम कैसे कह सकते है कि विश्व युक्तिपूर्ण सत्ता है, और यदि विश्व युक्तिपूर्ण न हो तो इसे कैसे वुद्धिगम्य कहा जाय ? देकार्त ने इस कमी को पूरा करने के लिए ईश्वर की सत्यनिष्ठा की मदद ली है। परन्तु ईश्वर विश्व से परे सत्ता है और इसलिए ईश्वर विश्व की युक्तिपूर्णता को सिद्ध नही ठहरा सकता है। अत, देकार्त के दर्शन मे वस्तुओ और भावनाओ की अनेकता रह जाती है और एकता का लक्ष्य तिरस्कृत हो जाता है। परन्तु, हम देखेंगे कि स्पिनोजा के दर्शन मे एकता या अद्वैतवाद का मुख्य और प्रथम स्थान है। अत, देकार्त और स्पिनोजा के मौलिक सिद्धान्त एक-दूसरे के विपरीत हैं।

---

1. Caird ने स्पिनोजा के दर्शन के प्रति लिखा है "In the Spinozistic philosophy there are few differences from Descartes which connot be traced to the necessary development of Cartesian principles" फिर इसी लीक को अपनाते हुए रसेल ने सन् १९६४ ई०में 'History of Western Philosophy' में लिखा है कि स्पिनोजा का दर्शन देकार्त के दर्शन का सशोधित रूप है।

2 देखे Stuart Hampshire, 'Spinoza'—Pelican book, pp 21—23

3 Mind, 1923

फिर देकार्त के दर्शन मे समझ या वुद्धि को द्वितीय स्थान है और सकल्प (Will) को प्रथम स्थान । विज्ञान तथा दर्शन की सत्यता इसलिए स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है कि ईश्वर ने अपने इच्छानुसार इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित की है।[1] इसलिए यदि ईश्वर चाहे तो पूरी ज्ञान-कसौटी ही वदल जा सकती है। परन्तु स्पिनोजा के अनुसार सत्यता किसी भी मनमानी इच्छा पर निर्भर नही रह सकती है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर से सभी सत्यता इसलिए निकलती है कि सत्यता शाश्वत है, ईश्वर सत्यता की रचना इसलिए करता है कि वह शाश्वत है, न कि सत्यता इसलिए शाश्वत है कि वह ईश्वर की असीम इच्छा से उत्पन्न होती है। अत स्पिनोजा मे वुद्धि का पहला स्थान है और सकल्प का स्थान गौण है। यहाँ भी देकार्त और स्पिनोजा के सिद्धान्तो मे मौलिक मतभेद है।

अन्त मे देकार्त के अनुसार विश्व-सृष्टि ईश्वर की मनमानी इच्छा से उत्पन्न होती है, पर स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर स्वय वुद्धिमय है और इसलिए सम्पूर्ण विश्व की रचना वौद्धिक अनिवार्यता (Intellectual necessity) के साथ होती हुई दिखाई देती है। अत, स्पिनोजा की प्रसिद्ध उपमा है कि सभी वस्तुएँ ईश्वर से उसी अनिवार्यता से होती हुई दिखायी देती हैं जिस अनिवार्यता के साथ किसी त्रिभुज के तीन कोणो को मिलाकर दो समकोण के वरावर होना सिद्ध होता है। अत, स्पिनोजा के दर्शन मे सकल्प का स्थान ही नही है और देकार्त का वुद्धिवाद यहाँ विश्व की शुद्ध वुद्धिगम्यता (Rationality) मे परिणत हो जाता है।

स्पिनोजा के दर्शन की विचित्रता— भिन्न-भिन्न आलोचको ने स्पिनोजा के दर्शन का भिन्न-भिन्न मूल्याकन किया है। पोलॉक ने स्पिनोजा को पूर्वीय परम्परा का प्रतीक माना है, पर लाइवनित्स, केयर्ड तथा रसेल इन्हें पाश्चात्य विचारक ही मानते है। पुन, धर्म-मीमासा के दृष्टिकोण से वहुधा इन्हें लोग अनीश्वर-वादी कहते, और फिर कोई इन्हें ईश्वर-मदान्ध (God-intoxicated) रहस्यवादी पुकारते हैं। स्पिनोजा के दर्शन के मूल्याकन की विभिन्नता इसलिए देखी जाती है कि वास्तव मे इसमे पूर्वीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओ का वेजोड सम्मिश्रण है और चूँकि आलोचको मे विश्व-दर्शन की सम्पूर्णता की दृष्टि न रही, इसलिए उन्होने इसके दर्शन की आशिक विशेषता पर ही ध्यान दिया है। पूर्वीय परम्परा के समान आप दर्शन को केवल वौद्धिक व्यायाम ही नही समझते थे, पर इसे जीवन की साधना

---

1. इस प्रसग में देकार्त की निम्नलिखित उक्ति है "To one who pays attention to God's immensity, it is clear that nothing at all can exist which does not depend on him This is true, not only of everything that subsists, but of all order, of every law, and of every reason of truth and goodness."

मानते थे। फिर स्पिनोजा के दर्शन का उद्देश्य था कि इसके आधार पर वे नैतिक तथा धार्मिक नि श्रेयस की प्राप्ति कर लें। परन्तु स्पिनोजा ने पूर्वीय परम्परा की उद्देश्य-पूर्त्ति देकार्तीय युक्तियो के आधार पर की है । इसलिए इनकी विचारधारा पर पाश्चात्य विचारको का भी पूरा प्रभाव है। अत, कहा जा सकता है कि पाश्चात्य तथा पूर्वीय परम्परा पर आधारित भावी विश्व दर्शन की पूर्वछाया स्पिनोजा के दर्शन मे पायी जाती है।

अपितु, धार्मिक मीमासा मे पाश्चात्य विचारक ईश्वरवाद (Theism) को अपनाते आये हैं, और पूर्वीय और विशेपकर भारतीय परम्परा मे सर्वेश्वरवाद (Pantheism) को प्रधानता दी गयी है। अत पूर्वीय नवप्लेटोवाद तथा मैमोनाइड्स की विचारधारा से प्रभावित रहने के कारण स्पिनोजीय दर्शन सर्वेश्वरवादी था, जिसे पाश्चात्य ईश्वरवाद से मेल न खाने पर अनीश्वरवाद समझा गया था। पर सर्वेश्वरवादी भक्त, भगवान् के साथ अनन्य सम्बन्ध रखता है— सभी वस्तुओ को ईश्वरमय समझता है—पतग के समान ईश्वर-रूपी दीपशिखा पर इश्वरीय प्रेम से व्याकुल होकर अपनी आहुति चढा देता है। ऐसे इश्वरोन्मत्त व्यक्ति को अनीश्वरवादी कहना असगत मालूम देता है। यही कारण है कि बाद मे लोगो ने स्पिनोजा को ईश्वरमदान्ध भी कहा है।

स्पिनोजा की दर्शन-विधि— हमलोगो ने देखा है कि देकार्त ने गणित की परम्परा को अपने विचारो की पार्श्वभूमि या अचल मे रखा है, पर साक्षात् रूप से इसे काम मे नही लाया है। परन्तु इमे साक्षात् रूप मे लाने का सकेत उनके पत्र-विनिमय मे मिलता है।[१] देकार्त ने स्वय ज्यामितिक विधि को अच्छा समझा था, परन्तु अपने दर्शन को उन्होने ज्यामितिक रूप कभी नही दिया। परन्तु स्पिनोजा ने सत्यता को प्राप्त करने तथा सत्यता को समझाने के लिए ज्यामितिक युक्तियो को पूर्णतया पर्याप्त समझा है।

प्रश्न उठता है कि स्पिनोजा ने क्यो ज्यामितिक क्रम को सतोषजनक समझा है? पहली बात यह है कि यदि किसी बात को ज्यामितिक क्रम से समझा दिया

१ "In order that it may be profitable for each and all to read your meditations, containing as they do so much subtlety and in our opinion, so much truth— —it would be well worth the doing if, hard upon your solution of the difficulties, you advanced as premises certain definitions, postulates, and axioms, and thence drew conclusions, conducting the whole proof by the geometrical method in the use of which you are so highly expert Thus would you cause reader to have everything in his mind, as it were, at a single glance, and to be penetrated throughout with a sense of the Divine being"

जाय तो इसे स्पष्ट होना समझा जाता है। यही कारण है कि ईब्रानी भाषा की व्याकरण सम्बन्धी गुत्थियो को सुलझाने के लिए भी स्पिनोजा ने ज्यामितिक रीति ही को अपनाया था। पर शायद दूसरा मुख्य कारण यह है कि ज्यामितिक युक्तियो मे पक्षपात-रहित ज्ञान सम्भव हो सकता है। यदि हम चाहें भी कि समानान्तर रेखाएँ मिल जायँ या कर्ण रेखा त्रिभुज की अन्य दो भुजाओ के योगफल से बडी हो जाय तो यह सभव नहीं हो सकता है। अब मानव मे प्रबल प्रवृत्ति रहती है, जिसके अनुसार वह चाहता है कि विश्व की सभी बातें उसके ही कल्याण के लिए सिद्ध हो जायँ और वह अपनी इच्छाओ को विश्व मे आरोपित कर देता है, जिससे अनेक दोष चले आते हैं। इसलिए दार्शनिक सुलझाव तथा सुझाव के लिए पक्षपात-रहित होना अत्यावश्यक है। यही कारण है कि गाणतिक तथा ज्यामितिक युक्तियो की मदद स्पिनोजा ने सत्यता-प्राप्ति के लिए ली है ताकि इस पुनीत कार्य मे दार्शनिक मानव-दुर्बलताओ से मदान्ध न हो जाय। अत, स्पिनोजा की लेखनी मे कही भी पक्षपात तथा व्यक्तिगत बातो की बू नही फटकने पायी है।

चूंकि स्पिनोजा ने ज्यामितिक युक्तियो को दार्शनिक विधि माना है, इसलिए अपनी प्रसिद्ध रचना 'Ethica' (अर्थात् नीति-शास्त्र) मे ज्यामिति के समान परिभाषा (Definition), स्वयसिद्धियाँ (Axioms) तथा प्रस्तावना (Proposition), उपसिद्धियाँ (Corollaries) तथा टिप्पणियाँ (Scholia) दी हैं। इस पुस्तक मे २७ परिभाषाओ, २० स्वयसिद्धियो तथा ८ मन्तव्यो (Postulates) का उल्लेख है।* दर्शन की सभी बातें ज्यामितिक स्वयसिद्धियो, प्रस्तावनाओ इत्यादि से व्यक्त नही हो सकती है। इसलिए स्पिनोजा ने परिशिष्टो (Appendices) तथा टिप्पणियो मे विस्तारपूर्वक उनका स्पष्टीकरण किया है।

ज्यामितिक विधियों की त्रुटियाँ— ज्यामितिक विधि किसी भी विषय का पूर्ण अध्ययन नही करती है। यदि हम किसी एक त्रिभुज को लें तो इसमे रग, घ्राण इत्यादि रहते हैं, पर ज्यामितिक विधि के अनुसार त्रिभुज की ये सब बातें बेकार हैं। इसके लिए रूप, आकार तथा त्रिभुज का क्षेत्रफल ही विशेष स्थान रखता है। अत. ज्यामितिक विधि मे वस्तुओ के कुछ अश का अध्ययन किया जाता है और इसके

---

* अब स्पिनोजा की ज्यामितिक विधि को दिखाने के लिए यहाँ एक छोटा-सा उदाहरण देना अभीष्ठ मालूम देता है

Prop IV . The idea of God, from which an infinite number of things follow in infinite ways can only be one

Proof. . Infinite intellect comprehends nothing save the attributes of God and his modifications (Part I, Prop XXX) Now God is one (Part I, Porp XIV, coroll) Therefore the idea of God where from an infinite number of things follow in infinite ways, can only be one. *Q. E D.* (The Ethics Part II, Prop. IV)

अन्य गुणो को छोड दिया जाता है। अत ज्यामितिक विधि किसी भी वस्तु का अध्ययन आंशिक ही रूप मे कर सकती है। परन्तु दार्शनिक अध्ययन मे सभी वस्तुओ का उनके सम्पूर्णत्व मे ध्यान रखा जाता है। इसलिए ज्यामितिक विधि के अपनाने से स्पिनोजा के दर्शन मे आंशिकता आ गयी है।

फिर, सभी प्रकार की वस्तुओ का अध्ययन भी ज्यामितिक विधि से संभव नही है। मानव-व्यवहार की व्याख्या मे हमे उसकी लक्ष्यात्मक teleological तथा स्वतन्त्र प्रक्रियाओ की अवहेलना करना अनुचित है। पर ज्यामितिक जगत् मे गति, लक्ष्य तथा स्वतन्त्रता का नाम निशान नही आता है। भला त्रिभुज का अपना क्या लक्ष्य है? फिर कौन ऐसा त्रिभुज है, जो दिनोदिन पेड-पौधो की भांति बढता-घटता है? जब स्पिनोजा ने ज्यामितिक विधि के आधार पर मानव-व्यवहार, रागात्मक वृत्तियो इत्यादि का अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्होने इन सबको रेखा, धरातल यथा त्रिभुज के समान स्थूल तथा स्थावर रूप दे दिया है। अत उन्होने मानव-व्यवहार की व्याख्या मे कहा है कि मानव मे इच्छा-स्वातन्त्र्य भ्रम है और उनके सभी व्यवहार यान्त्रिकीय रूप से अनिवार्य हैं। इसलिए ज्यामितिक विधि से मानव-व्यवहार की व्याख्या नही हो सकती है।

बात यह है कि दर्शन सभी विज्ञानों की विधि और उनके महत्त्वपूर्ण निष्कर्षो का अध्ययन तथा मूल्यांकन करता है। इसलिए किसी एक ही विज्ञान की विधि को काम मे लाने से दर्शन मे संकीर्णता का आ जाना अनिवार्य हो जाता है। दर्शन का काम है कि वैज्ञानिक विधियो का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन करे और जब यह स्वयं किसी विज्ञान की विधि को अपना लेता है, तो यह किस प्रकार से वैज्ञानिक विधियो का मूल्यांकन कर सकता है? किसी भी विज्ञान को अपना लेने पर दर्शन मे हठ-धर्मीपन (Dogmatism) चला आता है। यहाँ स्पिनोजा से पूछा जा सकता है कि दर्शन मे क्यो २७ ही परिभाषाएँ तथा २० स्वयसिद्धियाँ होगी? क्यो नही ३० परिभाषाएँ तथा २५ स्वयसिद्धियाँ होगी? तो इन प्रश्नो का उत्तर देना स्पिनोजा के लिए कठिन बात होगी।

स्पिनोजा के दर्शन पर ज्यामितिक विधि का प्रभाव— ज्यामितिक विधि तथा ज्यामितिक उपमा को काम मे लाने पर स्पिनोजा का दर्शन सर्वेश्वरवाद हो गया है। ज्यामितिक मे केवल एक ही सत्ता देश (Space) की है और यूक्लिडी ज्यामिति (Euclidean Geometry) की सभी वस्तुएँ इसी देश के सशोधन-रूप है। जैसे, वर्ग या त्रिभुज वह देश का हिस्सा है, जिसे सीधी रेखाओ से घेर लिया गया है। ठीक इसी प्रकार से स्पिनोजा के लिए परम पदार्थ एक सत्ता है, जिसके विशिष्ट तथा रूपान्तरित रूप मे सभी वस्तुएँ है। यह परम पदार्थ ईश्वर है। इसलिए सभी वस्तुओ का मूलतत्त्व ईश्वर ही है।

फिर यदि वर्ग या त्रिभुज को घेरनेवाली सीधी रेखाओ को हटा दिया जाय तो त्रिभुज या वर्ग का तो लोप हो जायगा, परन्तु उनका मूलतत्त्व जो देश है, वह पूर्णतया सरक्षित रह जायगा। अत, यदि कोई ज्यामिति के मूलतत्त्व देश को प्राप्त करना चाहे तो उसे सभी रूपो तथा आकारो को मिटाना होगा। इसी प्रकार यदि परम पदार्थ ईश्वर सभी वस्तुओ का मूलतत्त्व हो तो सभी वस्तुओ के तिरोहित होने पर ही शुद्ध परम पदार्थ ईश्वर की सत्ता प्राप्त हो सकती है। रूप, आकार इत्यादि को मूलतत्त्व का विशेषीकरण या गुणीकरण (Specialisation or qualification or determination) कहते हैं। इसलिए मूलतत्त्व को शुद्ध रूप मे समझने के लिए सभी गुणो को हटाना होगा। यही कारण है कि स्पिनोजा ने परम पदार्थ ईश्वर को निर्गुणी, निराकार तथा शुद्ध सत् कहा है और बताया है कि ईश्वर मे श्रेष्ठतम गुणो को भी आरोपित करने से उसे सीमित बना देना होता है। यदि हम कहें कि ईश्वर परम दयालु है तो हमे यह भी कहना पडेगा कि वह पापियो का नाश नही कर सकता, क्योकि ऐसा करने से उसकी दयालुता मे धब्बा आ जाता है*। इसलिए स्पिनोजा की विख्यात उक्ति है कि Every determination is negation 'Determination' का अर्थ है कि किसी रूप या आकार को निश्चित कर देना। हम किसी भूमि को निश्चित करने के लिए चौहद्दी बना देते तथा त्रिभुज या वर्ग को निश्चित रूप देने के लिए उसे सीधी रेखाओ से घेर देते हैं। पर यदि कोई निश्चित वर्ग की चौडाई-लम्बाई २ फुट हो तो यह स्पष्ट है कि इसकी लम्बाई ३ फुट नही हो सकती है। उसी प्रकार से किसी भी वस्तु को निश्चित रूप से बताने के लिए उसके गुणो को बताना पड़ता है। जैसे राम ६ फुट लम्बा, गोरा, घुँघराले बालवाला लडका है, जिसके पिता का नाम———————इत्यादि। अब निश्चयीकरण के लिए विशेषीकरण किया जाता है। पर जितना ही विशेषीकरण होगा उतना ही किसी एक व्यक्ति तथा वस्तु का बोध होगा और उससे अन्य वस्तुओ के समझने की सभावना कम होती जायगी। पर ऐसा करने से वस्तु अति सीमित हो जाती है; क्योकि उसमे अन्य वस्तुओ के होने की सभावना का अभाव हो जाता है। इसी से स्पिनोजा के अनुसार विशेषो अथवा गुणों

---

* श्री गुलाब राय ने इस प्रसग में कबीर की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिन्हें यहाँ दे देना समीचीन मालूम होता है :

एक कहौं तो है नहीं दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहे, कहैं कबीर बिचारि॥

× × ×

भारी कहूँ तो बहु डरूँ हलका कहूँ तो झीठ।
मैं क्या जानूँ पीव को नैना कछु न दीठ॥
—('पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास), पृ० १२६

के द्वारा निश्चयीकरण या सस्पीकरण मे अभाव आ जाता है। यही कारण है कि स्पिनोजा और शकर से अद्वैतवाद मे सरूपी, साकारी ईश्वर को न मानकर निराकार तथा निर्गुण ईश्वर को परम सत्ता माना गया है। अब इस निर्विकार ईश्वर को परम सत्ता मान लेने मे ज्यामितिक उपमा का विशेष स्थान है।

पुन , हमलोगो ने देखा है कि ज्यामिति मे गति तथा लक्ष्य नही दीखता है, और इसलिए स्पिनोजा के दर्शन मे किसी भी वस्तु मे स्वतन्त्रता नही है और मानव में भी इच्छा-स्वातन्त्र्य को नही स्वीकार किया गया है। यही नही, स्पिनोजीय परम सत्ता मे गति तथा काल (time) का अभाव है और इसी से अलेक्जेण्डर ने स्पिनोजा की आलोचना की है कि इसमे (time has not been taken seriously) स्पिनोजीय सत्ता स्थावर है और इससे इसकी अपनी एक और विशेषता झलकती है। ज्यामिति मे कारण-कार्य का सम्बन्ध नही पाया जाता, क्योकि कारण-कार्य का सम्बन्ध वही पाया जाता है जहाँ कालान्तर हो अर्थात् पूर्वापर (Successive) सम्बन्ध हो। परन्तु ज्यामिति मे त्रिभुज के होने और उसके कोणो को मिलाकर दो समकोण के बराबर रहने मे कोई कालान्तर नही देखने मे आता है। फिर कारण का, कार्य के होते ही, लोप हो जाता है या यो कहिए कि कारण कार्य-रूप मे परिणत हो जाता है। जैसे, जब वर्षा अच्छी होती है तो फसल अच्छी होती है। पर फसल और वर्षा दोनो एक साथ नही होती हुई कही जा सकती है। एक के बाद दूसरा आता है। परन्तु ज्यामिति मे त्रिभुज और उसके कर्ण को अन्य दो भुजाओ के योगफल से कम होने मे सहभाव (Co-existence) का सम्बन्ध देखा जाता है और त्रिभुज तथा उसके स्वरूप से खीचे गये निष्कर्ष तथा उप-सिद्धियो मे रूपान्तर (Transformation) नही देखने मे आता है। ऐसी अवस्था मे त्रिभुज को अपनी उपसिद्धियो तथा निष्कर्षो का मूल हेतु या आधार-कारण (Ground या Reason) कहते हैं। आधार-कारण और उसकी उपसिद्धियो के बीच तार्किक अनिवार्यता का सम्बन्ध पाया जाता है। यदि हम त्रिभुज के स्वरूप को समझ लें तो हमे मानना ही पडेगा कि इसके तीनो कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं। फिर कारण-कार्य के होने मे काल को स्थान देना होता है, परन्तु आधार-कारण तथा उसके फल (Consequence) मे कालिक सम्बन्ध है ही नही। इसलिए इस प्रकार के सम्बन्ध को अकालिक (A-temporal) या शाश्वत (Eternal) कहा जाता है। इसलिए स्पिनोजा के दर्शन मे परम सत्ता और उससे सम्बद्ध सभी वस्तुओ मे शाश्वत सम्बन्ध के होने की बात बतायी जाती है। इसलिए स्पिनोजा का कहना है कि परम सत्ता और सभी वस्तुओ को शाश्वत रूप (Sub specie aeternitatis) मे देखना चाहिए। अत , ईश्वर और विश्व दोनो अनादि है और उनके बीच का सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार का सम्बन्ध दूध और उसकी सफेदी मे, चीनी और उसकी मिठास मे पाया जाता है।

यदि ईश्वर और विश्व मे अनादि सम्बन्ध है तो यह कहना कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि किसी समय मे की है, असत्य हो जायगा। ईश्वर विश्व का मूल हेतु या आधार-कारण उसी प्रकार से है जिस रीति से मिट्टी सभी मृत्तिकामय वस्तुओ का आधार-कारण है। ईश्वर का न कोई लक्ष्य है और न उसकी किसी प्रकार की इच्छा है। अत, ईश्वर व्यक्तित्व-रहित (Impersonal) सत्ता है।

अत, ज्यामितिक विधि के अनुसरण करने से काल की अवहेलना तथा सभी प्रकार के उद्देश्यो का तिरस्कार सिद्ध हो जाता है। फिर मानव और ईश्वर मे इच्छा-स्वातन्त्र्य भी स्पिनोजीय विचार मे लुप्त हो जाता है और अन्त मे सर्वेश्वरवाद स्थापित हो जाता है।

द्रव्य, गुण तथा आकार का सिद्धान्त (The doctrine of Substance, attributes and modes) :—इस प्रसग मे 'एथिका' नामक पुस्तक की २७ परिभाषाओ मे ५ का उल्लेख किया जा सकता है।

द्रव्य —वह है जो अपने मे ही निहित है और जिसकी भावना अपने से ही हो सकती, अर्थात् जिसकी भावना करने मे अन्य किसी भावना की आवश्यकता नही होती है (iii)।

गुण (Attribute) —वह है जिसे बुद्धि द्रव्य का सारगुण समझती है (iv)।

ईश्वर —निरपेक्ष (Absolute), अनन्त सत्ता है, अर्थात् द्रव्य मे असख्य गुण हैं और प्रत्येक गुण शाश्वत तथा असीम या अनन्त सारतत्त्व की अभिव्यक्ति करता है (vi)।

शाश्वत —स्वय सत्ता है, अर्थात् किसी शाश्वत सत्ता के स्वरूप से ही इसकी कल्पना की जाती है (viii)।

स्वयभू—आत्मरचित (Self-caused) वह है, जिसका सारगुण ही सत्ता है या जिसका स्वरूप बिना उसके अस्तित्व को स्वीकार किये नही विचारा जा सकता है।

द्रव्य(Substance) :—अब द्रव्य वह है, जो आत्मनिहित हो और जिसकी भावना करने मे भी किसी अन्य भावना की आवश्यकता न हो, अर्थात् जो आत्म-निर्भर हो और जिसे किसी अन्य वस्तु पर निर्भर न रहना पडे।[1] देकार्त ने भी द्रव्य की परिभाषा इसी प्रकार दी थी। पर यदि द्रव्य वह है, जिसे किन्ही अन्य वस्तुओ पर निर्भर न रहना पडे, तो द्रव्य एक ही हो सकता है, क्योकि यदि एक से अधिक द्रव्य होंगे तो वे एक दूसरे को सीमित कर देंगे और उनमे पारस्परिक निर्भरता आ

---

1 A Substance is that which is in itself and conceived through itself, that is, the existence of which does not involve the existence of anything else

जायगी। यदि यह युक्ति सत्य हो तो ईश्वर को छोडकर आत्मा तथा भौतिक पदार्थ को द्रव्य नही कहा जा सकता है। इसलिए स्पिनोजा ने चेतना तथा विस्तार को द्रव्य का गुण माना है, न कि इन्हें स्वय द्रव्य माना है। अब द्रव्य आत्म-निहित है और इसकी भावना भी अन्य सभी भावनाओ से परे तथा स्वतन्त्र है। द्रव्य को इस प्रकार से मान लेने पर सिद्ध हो जाता है कि यह अनुपम तथा बेजोड है, क्योकि किसी भी अन्य वस्तु के विषय मे सोचने पर हमे उन प्रत्ययों तथा भावनाओ की आवश्यकता पड जाती है, जो एक को छोडकर अनेक वस्तुओ मे लागू होती है। जैसे, यदि हम कहें कि यह पुस्तक 'लाल' है, तो यह 'लाल' गुण इस पुस्तक को छोडकर अन्य वस्तुओ मे भी लागू होता है। जैसे हम फूल, कपडे तथा कलम को भी लाल पाते हैं। स्पिनोजीय द्रव्य मे हमे, ऐसी भावना को काम मे लाना है जो इसी मे लागू हो और अन्य किसी भी वस्तु मे लागू न हो। पर मानव-विचार इस प्रकार के किसी गुण की भावना नही कर सकता है।[1] अत, स्पिनोजा इस निष्कर्ष पर आते हैं कि द्रव्य मे कोई ऐसा गुण या धर्म नही हो सकता है, जो इसे सरूपी या सगुणी बना सकता है, क्योकि प्रत्येक सगुणीकरण मे द्रव्य सीमित तथा अभावात्मक (Negative) हो जाता है। यदि हम कहें कि ईश्वर पूर्ण है तो यह अपूर्ण नही हो सकता है। अत, स्पिनोजा की उक्ति कि 'every determination is negation', द्रव्य को निर्गुण तथा निराकार समझने मे सहायक होती है।

द्रव्य को शुद्ध अभावात्मक प्रत्यय अर्थात् शून्य से बचाने की कोशिश स्पिनोजा ने की है। उन्होने द्रव्य को ईश्वर कहा है और बताया है कि ईश्वर मे असीम तथा असख्य गुण हैं और प्रत्येक गुण उसकी असीमता को बतलाता है। यहां द्रव्य तथा ईश्वर को निर्गुणी न कहकर सगुणी कहा है, पर बताया है कि ईश्वर का गुण उसे सीमित (Determined) न करके उसकी असीमता का बोध करता है। वास्तव मे इस कथन से समस्या का केवल शाब्दिक समाधान हो पाता है, क्योकि मानव किसी ऐसे गुण की कल्पना नही कर सकता, जो किसी वस्तु को सीमित न करके उसे असीमित ठहराये। अत, मानव-दृष्टिकोण मे स्पिनोजा का ईश्वर या द्रव्य गुणातीत ही हो सकता है।

ईश्वर एक, असीम, शाश्वत तथा स्वयभू सत्ता है। अब 'एक' का गुण सख्यात्मक नही है, क्योकि 'एक कहौ तो है नही, दोय कहौ तो गारि'। 'एक' का अर्थ है एकत्व (Unity), न कि इकाई की भावना है। असीम का अर्थ है कि ईश्वर मे गुण

---

1 प्राय', लोग समझते है कि This table का 'this' इसी टेवुल का बोध कराता है, परन्तु यह भी प्रत्यय है जो टेवुल को छोडकर अन्य वस्तुओं में लागू हो सकता है। 'the' तथा 'this' की व्याख्या के लिए देखें F H Bradley, 'Principles of Logic', Vol. 1—pp. 63-69 (Impression of 1928)

है और प्रत्येक उसकी असीमता का प्रदर्शन करता है। अब स्वयभू का अर्थ है कि जो अपने से ही उत्पन्न हुआ है अर्थात् जिसकी सत्ता को बिना माने हुए सोचा ही नही जा सके।[1] फिर चूँकि ईश्वर अनादि, अजन्मा तथा स्वयभू 'न भूत न भवित न भूय' है और इसलिए सभी कालो से परे, शाश्वत है।[2]

चूँकि ईश्वर अनादि, अनन्त, शाश्वत तथा अद्वैत सत्ता है, इसलिए सभी वस्तुएँ ईश्वर पर आधारित हैं। वास्तव मे देखा जाय तो ईश्वर ही एक निरपेक्ष, परम द्रव्य है और उसको छोडकर कोई दूसरी सत्ता है नही। अत', सभी वस्तुएँ ईश्वर ही हैं। इसलिए प्रकृति की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता है नही। जिस प्रकार से वर्ग त्रिभुज का तत्त्व, दिक् है, उसी प्रकार से सभी वस्तुओ का आधार-कारण या मूल हेतु ईश्वर है। अत, स्पिनोजा ईश्वर मे प्रकृति को नही, वरन् प्रकृति मे ईश्वर ही को पाते हैं। इसलिए स्पिनोजा को ईश्वर-मदमस्त कहा जा सकता है। चूँकि उन्होने प्रकृति को ईश्वरमय समझा तथा प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही की, इसलिए उनके इस सिद्धान्त को अविश्ववाद (Acosmism) कहा जाता है।

चूँकि ईश्वर ही प्रकृति है इसलिए प्रकृति के सम्बन्ध मे ईश्वर को दो प्रकार से पुकारा जा सकता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि स्पिनोजा के अनुसार विशिष्ट वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नही है, परन्तु सभी वस्तुओ का योगफल ईश्वर ही है। जैसे यदि हम आलेख पत्र (Graph) को लें तो इसमे असख्य छोटे छोटे वर्ग रहते है, परन्तु इन सब वर्गों की सत्ता तो वही देश है, जो आलेख-पत्र मे है। उसी प्रकार से वस्तुओ की अपनी सत्ता नही और यदि इनकी कोई सत्ता है तो वह एकमात्र द्रव्य है, जो इनका मूल हेतु है। इस दृष्टिकोण से ईश्वर को Natura Naturata या कार्य-प्रकृति कारण-प्रकृति कहा जा सकता है। फिर यदि हम ईश्वर को सक्रिय अन्तर्यामी, अन्तर्व्यापी (Immanent) कारण समझें, जिससे कि विश्व का प्रतिक्षण पालन होता है तो इस रूप मे स्पिनोजा ने ईश्वर को 'Natura Naturans' या प्रकृति-रचयिता कहा है। अत, विश्व को या तो निष्क्रिय या स्थावर रूप मे देखा जा सकता है या सक्रिय विकासात्मक रूप मे देखा जा सकता है। दोनो ही दशाओ मे विश्व है नही और इसके स्थान पर ईश्वर ही की सत्ता है। अत, 'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल'। जिस

---

1 "By the cause of itself I mean something of which the essence involves existence, of which the nature is conceivable only as being in existence"

2 "By Eternity, I mean existence itself, so for as it is conceived necessarily and follows solely from the definition of that which is eternal"

इन दोनों परिभाषाओं में देकार्त के ईश्वरसम्बन्धी तात्त्विक प्रमाण की झलक मिलती है। यहाँ भी सत्ता को विचार के द्वारा स्थापित करने की चेष्टा की गयी है।

प्रकार से गोस्वामी तुलसीदासजी ने जगत् को सियाराममय माना है उसी रीति से स्पिनोजा ने विश्व को ईश्वर माना है। परन्तु गोस्वामी के 'राम' साकार ईश्वर हैं और स्पिनोजा के ईश्वर निराकार हैं। यदि स्पिनोजा के ईश्वर निर्गुण, निराकार है तो इनका कहना है कि ईश्वर मे असख्य गुण हैं, किस प्रकार युक्तिसगत हो सकता है ? अत, हमे अब स्पिनोजा के गुण-सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या करनी चाहिए।

गुण (Attributes) —जिस प्रकार से देकार्त के दिये गये द्रव्य-विचार से-स्पिनोजा ने शुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना की, उसी रीति से देकार्तीय जड तथा चेतना, आत्मा तथा भौतिक पदार्थ, चेतना तथा विस्तार के द्वैतवाद की आलोचना कर स्पिनोजा ने गुण-सिद्धान्त की स्थापना की है। देकार्त ने मन तथा शरीर की ऐसी समस्या खडी की थी, जिसका समाधान वे स्वय नही कर सके और स्पिनोजा ने स्पष्ट-तया देखा कि यदि मन तथा शरीर दो स्वतन्त्र द्रव्य हो तो उनके बीच किसी प्रकार का सतोषजनक सम्बन्ध नही स्थापित किया जा सकता है। परन्तु मन तथा शरीर मानव मे घनिष्ठ रूप से देखे जाते हैं और इसलिये उन्हें द्रव्य न समझकर गुण समझना चाहिए। अब आम या टेबुल मे अनेक गुण बिना परस्पर-विरोधी होते हुए पाये जाते हैं। किसी भी आम मे रग, आकार, गन्ध, स्पर्श इत्यादि पाये जाते हैं, परन्तु ये सब गुण एक साथ ही पाये जाते हैं। अत स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य मे अनेक गुणो का सहभाव (Co-existence) है और यदि चेतना तथा विस्तार द्रव्य के गुण हैं तो इनमे भी सहभाव ही होगा। अतः, स्पिनोजा के दर्शन मे मन तथा शरीर, चेतना तथा विस्तार द्रव्य से गुण मे परिणत हो गये हैं और अन्योन्य-क्रियावाद के स्थान पर उनमे सहचारवाद या समानान्तरवाद (Parallelism) हो गया है।

पर यहाँ पर प्रश्न उठता है कि स्पिनोजा ने कहा कि सगुणीकरण से द्रव्य की कमी या उसकी परिमितता टपकती है तो द्रव्य मे गुण कहाँ से सभव है ? इस आपत्ति को दूर करने के लिए स्पिनोजा ने गुण की परिभाषा इस प्रकार की है। गुण वह है, जिसे बुद्धि द्रव्य का सारगुण ग्रहण करती हैं।[1] फिर उन्होने यह भी बताया है कि द्रव्य मे अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण द्रव्य की असीमितता की अभिव्यक्ति करता है, परन्तु मानव-बुद्धि असख्य गुणो मे केवल दो, अर्थात् विस्तार तथा विचार, को ही समझ सकती है। इस गुण-सम्बन्धी उक्ति मे अनेक प्रश्न छिपे हुए हैं और यहाँ पर दो-चार ही की व्याख्या की जायगी।

हमलोगो ने देखा है कि स्पिनोजा के अनुसार निश्चयीकरण निषेधीकरण के सिद्धान्त (Every determination is negation) और इस उक्ति की सरक्षा करते हुए उन्होंने द्रव्य मे अनन्त गुणो का होना बताया है। इन दो विरोधी मतो के बीच

1. "By attribute I mean that which the intellect apprehends as constituting the essence of substance

मेल रखते हुए हम स्पिनोजा के गुण-सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार कर सकते है

यह ठीक है कि सगुणीकरण से परिच्छेदन या सीमायन (Limitation) होता है। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति धनवान् हैं तो वे दरिद्र नही कहे जा सकते है। परन्तु यदि द्रव्य मे अनन्त गुण हो तो उसमे सभी प्रकार के गुण आ जाते हैं। अत, द्रव्य अनन्तगुणी होने के कारण धनवान् भी और दरिद्र भी, सुखी तथा असुखी भी इत्यादि हो जाता है और उनमे गुणो से परिच्छेदन नही आने पाता है। यहाँ पर आपत्ति यही की जा सकती है कि यदि द्रव्य मे अनन्त गुण हैं तो व्याघातक गुण के साथ होने की सम्भावना रह जाती है। स्पिनोजा ने इस विषय पर अपने मत को स्पष्ट नही किया है, पर वर्त्तमानकालिक ब्रैडले तथा बोसकेट प्रत्ययवादियो ने बताया है कि परम सत्ता सभी गुणो की सामजस्यपूर्ण समष्टि है और उसकी उन्होने व्याख्या भी की है। अब वास्तव मे किसी द्रव्य मे सभी गुण आश्रित हो सकते हैं या नही, विवादग्रस्त है। पर स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम कहें कि द्रव्य सभी गुणो का धाम है तो किसी भी गुण का यही अभाव नहीं हो सकता है। अत, यदि द्रव्य मे कुछ ही गुणो का होना माना जाय तो सगुणीकरण से द्रव्य सीमायित (Limited) हो जा सकता है, पर यदि इसमे अनन्त गुण का होना मान लिया जाय तो यहाँ सीमायन अथवा परिच्छेदन की अपूर्णता नही हो पाती है। अत, स्पिनोजा ने द्रव्य को अनन्त गुणाश्रयी बताकर every determination is negation की त्रुटियो से बचाने की चेष्टा की है।

फिर स्पिनोजा ने बताया है कि प्रत्येक गुण द्रव्य की असीमता का प्रदर्शन करता है। अब अन्य साधारण गुण किसी वस्तु को सीमित कर देता है, पर यहाँ कहा गया है कि गुण द्रव्य को असीमित कर देता है। हमलोगो ने पहले ही देखा है कि यह शाब्दिक समाधान है, क्योकि गुण का अपना धर्म ही है कि वह वस्तुओ को परिच्छेदित करके उसे सीमित कर दे। पर यहाँ भी गुणो के असीमायन कार्य के सिद्धान्त से स्पिनोजा ने every determination is negation की कठिनाई से बचने की कोशिश की है।

फिर उपर्युक्त साधनो के अतिरिक्त स्पिनोजा ने एक तीसरी लकडी भी लगायी है। उन्होने बताया है कि ईश्वर के अनन्त गुण मे से मानव-बुद्धि केवल विस्तार तथा विचार के दो ही गुणो को ग्रहण कर सकती, और इन दो गुणो मे सहचार या समानान्तर सम्बन्ध दिखायी देता है। गुणो के बीच यदि सहचार हो तो उनमे न अन्तर्द्वन्द्व होगा और न एक दूसरे का खडन करेगा। अत, ईश्वर के अनन्त गुण मे सहचार रहने पर उनमे किसी प्रकार की विरोधिता नही देखने मे आयगी। अपितु, गुणो के सहचार-सम्बन्ध मे एक और विशेषता है, जिसका उल्लेख स्पिनोजा के समानान्तरवाद के सम्बन्ध मे की जायगी। यहाँ अब स्पिनोजा के गुण-सिद्धात की की दो चार बातो का समालोचनात्मक अध्ययन भी कर लेना चाहिए।

स्पिनोजा ने जो गुण की परिभाषा दी है वह अनेकार्थक है। प्रश्न उठता हैं कि ये गुण वास्तव मे द्रव्य के गुण है या जिसे मानव-वुद्धि समझती है, कि ये द्रव्य के सारगुण है। यदि हम 'वुद्धि' पर जोर दे तो हमे कहना पडेगा कि वास्तव मे द्रव्य मे क्या सारगुण है, यह हम नही जानते है, पर जो वुद्धि को आभासित होता है वही हम सारगुण समझते है। इस अर्थ मे गुण मानवाश्रयी हो जाते है और उनकी स्वतन्त्र सत्ता मे सदिग्धता चली आती है। परन्तु स्पिनोजा के दर्शन मे आत्मनिष्ठता (Subjectivism) का कोई स्थान नही है और इसलिए हमे समझना चाहिए की स्पिनोजा के अनुसार गुण वास्तव मे द्रव्यनिष्ठ है।

फिर स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य मे अनन्त गुण है और मानव-वुद्धि उनमे से केवल दो ही के जानने मे समर्थ होती है। अब यदि वुद्धि दो ही को जान सकती है तो यह कैसे मालूम हुआ कि ईश्वर मे अनन्त गुण है ? फिर यदि वुद्धि जो विचार (Thought) है, विस्तार (Extension) को जो विचार है नही, कैसे जान सकती है ? और यदि विचार के द्वारा विस्तार को जाना जा सकता है तो ईश्वर के अन्य गुणो को क्यो नही जाना जा सकता है ? ये सब प्रश्न ऐसे हैं कि इनका उत्तर देना कठिन है। वास्तव मे ईश्वर के 'अनन्त गुण' का सिद्धात किसी युक्ति पर आधारित है नही, परन्तु यह सगुणीकरण से अभावीकरण के दोष से बचने के लिए हमारे सामने रखा गया है और इसलिए उपर्युक्त आपत्तियो का वास्तविक समाधान नही हो सकता है। अत, हमे अब देखना है कि स्पिनोजा के समानान्तरवाद की असली व्याख्या क्या है और इससे किस प्रकार से सगुणीकरण के अभावीकरण की समस्या हल हो सकती है।

स्पिनोजा का सहचार या समानान्तरवाद (Parallelsm) —स्पिनोजा के अनुसार विस्तार तथा विचार का सहचार पाया जाता है, अर्थात् जहाँ विचार किसी एक रूप मे पाया जायगा तो विचार भी तदनुरूप पाया जायगा, जैसे वृत्त विस्तार का उदाहरण है और इसके अनुरूप वृत्त-प्रत्यय देखने मे आता हैं। फिर यदि 'शरीर' विस्तार का उदाहरण हो, तो उसका प्रत्यय अर्थात् 'मन' विचार के अनुरूप सत्ता होगा। अत, विस्तार के प्रत्येक रूप के अनुकूल विचार का भी रूप पाया जायगा।

उपर्युक्त कथन से आभासित होता है कि विचार तथा विस्तार की दो स्वतन्त्र पटरियाँ हैं। परन्तु वास्तव मे स्पिनोजा विस्तार तथा विचार को एक ही वास्तविकता के दो अवियोज्य पट (Aspects) या पक्ष मानते हैं। जिस प्रकार से किसी चश्मे के एक ही काच के वहिर्गोल (Convex) तथा अन्तर्गोल (Concave) दो पक्ष है और जिस प्रकार से एक ही व्यक्ति को रावण तथा दशानन के दो नामो से पुकारा जाता है, उसी प्रकार से विस्तार तथा विचार एक ही सता को व्यक्त करते हैं। फिर विस्तार ईश्वर की असीमता को उसी खूवी से व्यक्त करता है जिस खूबी से विचार व्यक्त करता है। अत, एक ही सत्ता ईश्वर को हम महाविस्तार समझते और फिर उसे

महाबुद्धि कहते हैं। अत, भौतिक विश्व तथा बुद्धिगम्य विश्व मे किसी प्रकार का अन्तर नही है। अब यदि ईश्वर मे अनन्त गुण हो तो वे भी इसी एक सत्ता की पूर्णता को व्यक्त करते हैं और इस प्रकार से ईश्वर अपने अनन्त गुण के कारण सीमित नही होता है।

स्पिनोजा के समानान्तरवाद से मन तथा शरीर के सम्बन्ध पर नया प्रकाश पडता है। शरीर और मन मे सहचार है और मन को शरीर का प्रत्यय कहा जा सकता है। परन्तु मन मे केवल चेतना ही नही है, बल्कि आत्म-चेतना भी है और इसे स्पिनोजा ने शरीर के प्रत्यय का प्रत्यय (Idea of the idea of body) कहा है। परन्तु यदि चेतना शरीर के अनुरूप हो तो वास्तव मे शरीर मे आत्म-चेतना के अनुरूप कुछ भी नही दीखता है। यहाँ पर बोसकेट ने बताया है कि मन मस्तिष्क की सामूहिक तथा सम्बद्ध कार्यवाही का ही दूसरा नाम है। इसे अलेक्जेंण्डर ने प्रकृतिवाद (Naturalism) मे परिणत कर दिया है। उन्होने कहा है कि मन मस्तिष्क ही है। अत, मन तथा शरीर को एक ही मान लेने से इसमे प्राकृतिकवाद तथा प्रत्ययवाद दोनो चले आते हैं। जो मस्तिष्क को मन की अभिव्यक्ति समझते है वे बोसण्केट के समान इससे प्रत्ययवाद का निष्कर्ष निकालते हैं, और जो मन को मस्तिष्क ही मानते हैं, वे स्पिनोजा के सहचारवाद से भौतिकवाद तथा प्राकृतिकवाद का निष्कर्ष स्थापित कर लेते हैं।

प्रकार (Modes) का सिद्धान्त— विश्व की विशिष्ट वस्तुओ को प्रकार कहा जा सकता है। परन्तु विशिष्ट वस्तुएँ सीमित है और ईश्वर अथवा परम द्रव्य असीमित हैं। अत, प्रश्न उठता है कि असीमित ईश्वर से सीमित विशिष्ट वस्तुओ की व्याख्या किस प्रकार हो सकती है? अत हमे स्पिनोजा के प्रकार-सिद्धान्त की व्याख्या करनी चाहिए।

द्रव्य या ईश्वर के रूपान्तर (Affections or modifications) को प्रकार कहा जा सकता है, या प्रकार वह है जो अन्य वस्तुओ मे हो अथवा अन्य वस्तुओ के द्वारा सोचा जा सके*। अब प्रकार की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। इसका सम्बन्ध द्रव्य से उसी रीति से है जिस रीति से तरगो का सम्बन्ध समुद्र से है। बिना तरगो के समुद्र हो सकता है, परन्तु बिना समुद्र के तरगें सभव नही हो सकती हैं। यदि तरगो की क्षणभगुरता पर हम ध्यान दे तो सभी 'प्रकार' क्षणिक हैं और उनका अस्तित्व कोई स्थान नही रखता है। परन्तु तरगें भी समुद्र के अग हैं और इसलिए उनमे भी वास्तविकता है, चाहे उनकी वास्तविकता कुछ ही क्षणो की क्यो न हो। प्रकार के प्रति ये दोनो मत हो सकते हैं। हम यदि विश्व की सभी विशिष्ट

---

*"By mode, I understand affections of substance, or that which is in another, through which is also conceived"

वस्तुओ को क्षणिक 'प्रकार' मान लें तो विश्व भ्रम हो जाता है और यदि प्रकारों को द्रव्य का ही अंश मान लें तो विश्व की अपनी वास्तविकता सुरक्षित रह जाती है। इसे प्रकार के प्रसग मे विश्व के प्रति किसी निर्णय को अपनाना है और इसलिए इसकी अन्य बातो पर भी हमे ध्यान देना है।

प्रकार दो तरह के है अर्थात् सीमित (Finite) और असीमित (Infinite) प्रकार। ऐसा मालूम देता है कि स्पिनोजा की तत्त्व मीमासा मे सोपान-क्रम (Hierarchy) है। सबसे पहले द्रव्य और उसके बाद गुण का स्थान आता है। तब असीमित प्रकार का और अन्त मे सीमित प्रकार का स्थान आता है। असीमित प्रकार वह है, जो द्रव्य के गुणो का अनिवार्य रूपान्तर हो या गुण के अनिवार्य रूपान्तर का रूपान्तरित रूप हो* । अत, विचार का असीमित प्रकार असीमित बुद्धि (Intellect) है तथा विस्तार का असीमित प्रकार गति-विश्राम (Motion and rest) है। इसलिए असीमित प्रकार से शायद स्पिनोजा का अर्थ है कि सभी विशिष्ट तथा सीमित प्रकारों का सामान्य धर्म है। जैसे हम कहते हैं कि विशिष्ट मानव आज है और कल नही, परन्तु मानव शाश्वत है; ठीक उसी रीति से विश्व की विशिष्ट वस्तुएँ क्षणिक है, परन्तु विश्व स्वय शाश्वत है। इस अर्थ मे असीमित बुद्धि वह शुद्ध चेतना है, जिसमे सभी विशिष्ट मानव-विचार पाये जाते है। अब मानव-विचार मे विकार या परिवर्त्तन रहता है, परन्तु असीमित रूप मे शुद्ध चेतना मे कोई विकार नही आता है। इस अर्थ मे स्पिनोजीय शुद्ध चेतना वेदान्त के ब्रह्म-चित्, काण्ट की 'सप्रत्यक्ष की सश्लिष्ट एकता' (Synthetic unity of apperception) तथा अलेक्जैण्डर के असीमित ईश्वर के प्रत्यय मे प्रतिध्वनित हो सकती है†। फिर विस्तार के असीम प्रकार को गति-विश्राम कहा गया है, अर्थात् वाह्य भौतिक जगत् यद्यपि क्षणिक वस्तुओ का धाम है, तथापि यह सभी वस्तुओ के सामान्य धर्म के रूप मे या उसके योगफल के रूप मे शाश्वत है। यदि हम विशिष्ट वस्तुओ को लें तो इसकी तह मे अणु है और अणुओ की तह मे केवल वह असीम विस्तार का रूप है, जिसे गति-विश्राम कहा जा सकता है। अत, विस्तार को स्पिनोजा ने वैसा निष्क्रिय नही समझा है जैसा देकार्त ने समझा था, क्योकि देकार्त के अनुसार भौतिक जगत् मे गति ईश्वर की वाह्य देन है। अब स्पिनोजा के 'गति-विश्राम' का अर्थ यान्त्रिक नियमो से लगाया गया

* "Every mode which exists both necessarily and as infinite, must necessarily follow, either from the absolute nature of some attribute of God or from an attribute modified by a modification which exists necessarily and as infinite"

† समसामयिक शामुएल अलेक्जैण्डर स्पिनोजा से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने स्पिनोजा के सम्बन्ध में कई लेख लिखे हैं। उन्होंने अपने मित्रों से कहा था कि मैं समसामयिक स्पिनोजा हूँ और वाइटहेड लाइबनित्स है।

है। अत, स्पिनोजा के अनुसार भौतिक जगत् का शाश्वत रूप इसके यान्त्रिक नियम है, परन्तु ये वस्तुएँ जिनमे यह लागू होता है वे केवल सीमित प्रकार हैं, जिनकी अपनी कोई सत्ता नही है। फिर चूंकि गति-विश्राम या यान्त्रिक नियमो की सत्ता असीम प्रकार की सत्ता है, वल्कि असीम द्रव्य की, इसलिए यान्त्रिक नियम बिना काल को सत्य माने सभव नही हो सकते हैं। अत स्पिनोजा के अनुसार काल की सत्यता इसी भौतिक जगत् के लिए है, परन्तु परम द्रव्य मे उसकी सत्यता सभव नही है। इसलिए विस्तार के असीम प्रकार के सिद्धान्त मे यान्त्रिक भौतिकवाद तथा वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता की झलक आ जाती है, क्योकि वेदान्तीय व्यावहारिक जगत् मे भी काल को सत्य माना जाता है।

स्पिनोजा का शून्यवाद — हमलोगो ने देखा है कि स्पिनोजा के अनुसार असीमित तथा सीमित प्रकारो के दो वर्ग हैं। सीमित प्रकार के अन्तर्गत विश्व की विशिष्ट वस्तुएँ आती हैं। इनके विषय मे स्पिनोजा का कहना है कि इनकी अपनी सत्ता है नही। पर फिर कहा है कि यदि इन्हें शाश्वत दृष्टिकोण से देखा जाय तो इनके अन्दर भी सत् है। अत, यदि वस्तुओ को कालिक या सामयिक (Temporal) समझा जाय तो ये केवल सीमित प्रकार हैं और इनकी अपनी कोई सत्ता नही है, और यदि इन्हें अकालिक तथा शाश्वत रूप मे देखा जायगा तो इनमे सत् है। यदि हम इस मत को लें तो वास्तव मे वस्तुओ की यथार्थता इनकी कालिकता पर निर्भर करती है और इसलिए जब विशिष्ट वस्तुओ के कालिक रूप को असत्य ठहराया जाता है तो वास्तव मे वस्तुओ का तिरोभाव होता है और स्पिनोजा का दर्शन शून्यवाद हो जाता है। पर हमे देखना है कि सीमित प्रकार कैसे शाश्वत रूप मे होकर समझा जा सकता है।

स्पिनोजा बरावर ज्यामितिक उपमा को काम मे लाते है। जैसे, यदि हम एक आलेख-पत्र (Graph) ले लें, तो इसके अन्दर के छोटे-छोटे वर्ग सीमित प्रकार कहे जा सकते है। परन्तु प्रत्येक छोटा वर्ग, जैसे 'क' इसलिए 'क' अपने चारो ओर के आठ अन्य वर्गों से घिरा है, फिर इन आठ वर्गों मे से सबको लिया जाय तो वे भी इसलिए वर्ग हैं कि अन्य वर्गों से घिरे हैं और इस रीति से वर्गों का वर्गपन शृ खलाओ मे आबद्ध है। इसलिए स्पिनोजा का कहना है कि विशिष्ट वस्तुपन ईश्वर से नही, परन्तु वस्तुओ की शृ खला से आबद्ध है और वस्तुओ की इस दृष्टिकोण से उनमे सत्ता नही है। परन्तु फिर भी उन वर्गों की आधारभूमि मे आलेख का दिक् है और जितने भर उनमे दिक् है उतने भर उनमे वह सत् का रूप है, जो दिक मे है। यदि सभी वर्गो के घेरे को हटा दिया जाय तो वर्ग अन्तर्हित हो जायेंगे और उनकी शुद्ध सत्ता 'देश' शेष रह जायगी। अत, यदि वस्तुओ का नाम-रूप तथा अन्य धर्म हटा दिये जायँ तो उनका शुद्ध सत् (Being or existence) रह जायगा। चूंकि शुद्ध सत् अनादि है,

इसलिए यदि वस्तुओ को सत् रूप मे देखा जाय तो वे शाश्वत सत् मे विलीन हो जाती हैं। अत सीमित प्रकार या विशिष्ट वस्तुओ को हम जिस रीति से समझें उनकी वास्तविकता नष्ट हो जाती है। यदि विशिष्ट वस्तुएँ विशिष्ट रूप मे हो तो स्पिनोजा के अनुसार वे द्रव्य या ईश्वर से सिद्ध नही होती हैं और यदि उन्हें शाश्वत रूप मे लें तो उनकी विशिष्टता या सभी धर्म लुप्त हो जाते है और वस्तुओ का वस्तुपन ही नष्ट हो जाता है। अत, पारमार्थिक दृष्टिकोण मे वस्तुएँ तिरोहित हो जाती हैं और उनकी जगह पर शुद्ध सत् रह जाता, जो शून्य के बराबर ही समझा जा सकता है। यदि हम कोई चीज लें और कहें कि इसमे न कोई रग-रूप, नाम, आकार इत्यादि है तो यह नही ही के बराबर कही जायगी।

पर, यहाँ पर आपत्ति की जा सकती है कि असीमित प्रकार की वास्तविकता मानी गयी है और इसलिए स्पिनोजा का दर्शन शून्यवादी नही है। पर असीमित प्रकार, चाहे वह शुद्ध चेतना की हो या गति विश्राम की हो, अवास्तविक है। ऐसी शुद्ध चेतना, जिससे सभी विचारो, कल्पनाओ तथा भावनाओ का सामान्य धर्म ही तात्विक सत्यता हो सकती है, पर मनोवैज्ञानिक सत्यता नही। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किसी भी चेतना मे विशिष्ट विचार, चाहे वह टेबुल का हो या घर का हो या शरीर का हो इत्यादि, अवश्य होगा। शुद्ध चेतना को तात्विक सत्ता के अतिरिक्त वास्तविक मानने का दोष हेगेल तथा हेगेलवादियो का है। उसी रीति से गति-विश्राम को विश्व का आधार यान्त्रिक नियम समझा गया है। परन्तु यदि वस्तुएँ या घटनाएँ, जिनमे यह लागू हो सकता है। सत्य नही हैं, तो ये नियम भी असत्य हो जाते हैं। फिर ये यान्त्रिक नियम तभी सत्य है जब काल की सत्यता मान ली जाय। परन्तु स्पिनोजा के अनुसार परम द्रव्य या ईश्वर अकालिक तथा अनादि है और इसलिए ये नियम भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से असत्य हैं। अत, असीम प्रकार भी अन्त मे तिरोहित हो जाता है। परन्तु जिसे हम जगत् कहते है, वह या तो असीम या या असीमित प्रकार है। और यदि यह सत् नही हो तो सम्पूर्ण जगत मिथ्या हो जाता है। इसलिए स्पिनोजावाद को शून्यवाद कहा गया है।

स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद (Pantheism)—अब देखा जाय तो सीमित प्रकार या विशिष्ट वस्तुएँ असीमित प्रकार मे विलीन हो जाती है और अन्त मे असीमित प्रकार द्रव्य या ईश्वर की सत्ता मे अन्तर्हित हो जाते हैं। इसलिए ईश्वर की ही शुद्ध सत्ता रह जाती है। अत, स्पिनोजा के दर्शन मे ईश्वर को छोडकर सभी मिथ्या हो जाता है। इसीसे हेगेल ने स्पिनोजा की आलोचना करते हुए कहा था कि स्पिनोजीय ईश्वर सिंह की वह माँद है जिसमे सभी वस्तुएँ तिरोहित हो जाती हैं और उससे कोई भी वस्तु यथार्थ रूप मे होकर नही निकलती नजर आती है।[1]

1 'Spinoza's Absolute is a lion's den to which all footprints

चूंकि स्पिनोजा के अनुसार सभी वस्तुओ मे केवल एक ईश्वर ही की सत्ता सत्य है, इसलिए उन्हें सर्वेश्वरवादी कहा गया है। अव सर्वेश्वरवादी को दर्शन तथा ईश्वर-शास्त्र (Theology) के दो दृष्टिकोण से देखा जाता है। जब यह कहा जाता है कि विश्व और मानव की सभी अनुभूतियो का एक मूल तत्त्व है, जिसे ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है तो इस सर्वेश्वरवाद को अद्वैतवाद (Monism) कहा जाता है। अब फिर यदि इस ईश्वर को मानव-पूजा का एकमात्र लक्ष्य समझा जाता है तो यह धार्मिक सिद्धान्त हो जाता है। अव स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को हम जिस दृष्टिकोण से समझे, यह असन्तोषजनक ठहरता है।

अव दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि सभी मानव-अनुभूतियो को शृंखलाबद्ध तथा क्रमबद्ध करके एक सूत्र मे बांध दिया जाय। चूंकि स्पिनोजा ने सभी अनुभूतियो को एक ही ईश्वर की सत्ता से स्पष्ट करने की कोशिश की है, इसलिए कहा जा सकता है कि एकता का दार्शनिक उद्देश्य स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद मे प्राप्त हो जाता है। परन्तु एकता शून्यवाद की भी हो सकती है और एकता अनेक वस्तुओ की सामजस्यपूर्ण क्रमवद्धता से भी हो सकती है। शून्यात्मक एकता वह है, जिसमे विशिष्ट वस्तुओ का लोप या तिरोभाव हो जाता है। इसलिए इसे झूठी या मिथ्यापूर्ण एकता कहा जाता है। चूंकि स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद मे उस एकात्मक सत्ता की स्थापना की गयी है, जिसमे विशिष्ट वस्तुओ की सत्यता तिरोहित हो जाती है, इसलिए इसे असन्तोषजनक शून्यात्मक एकता कहा जा सकता है। इसी वात को दूसरे शब्दो मे कहा गया है कि स्पिनोजा मे सम्पूर्ण एकता न होकर केवल आशिक एकता है। इसमे लम्बरूपी (Vertical) एकता है, पर क्षैतिज (Horizontal) एकता नही है।[1] हमलोगों ने देखा है कि स्पिनोजा के दर्शन मे सीमित, एव असीमित प्रकार के पश्चात द्रव्य की सत्ता है और इसे हम शुण्डाकार (Pyramid) रूप मे दिखा सकते हैं। अव व्यावहारिक जीवन की वस्तुएँ आधार मे या क्षितिज की दिशा मे हैं और जैसे-जैसे हम ऊर्ध्वगामी होते हैं वैसे-वैसे व्यावहारिक वस्तुओ की क्षीणता हो जाती है और द्रव्य तक पहुँचकर ये तिरोहित हो जाती हैं, इसलिए इसमे क्षैतिज या व्यावहारिक विशिष्ट वस्तुओ की अवहेलना की गयी है। अत, स्पिनोजा का विचार-पक्षी धरती की गन्दगी तथा हवा के झोको से वचने के लिए सुदूर व्योम मे विचरना चाहता है जहाँ की हवा क्षीण तथा निर्मल है, पर जहाँ उसका दम भी घुटने लगता है। इस उत्तुग व्योम की निर्मलता से क्या लाभ जव दम ही घुटने लगे ?

फिर स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद को धर्म-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी सतोष-

---

point, but from which none returns"

1 "Hence the abstract monism reaches vertical consistency at the cost of horizontal reality"

जनक नही कहा जा सकता है। यह ठीक है कि ईश्वर और मानव पुजारी मे आशिक तादात्म्य (Identity) रहना चाहिए, क्योंकि यदि ईश्वर, पुजारी के सोच-विचार तथा आकाक्षाओ से एकदम परे हो तो पुजारी के क्रन्दन को ईश्वर समझ न पायगा और ईश्वर-वन्दना निरर्थक हो जायगी। इसलिए ईश्वर को विश्वातीत तथा मानवातीत (Transcendent) पूर्णतया नही होना चाहिए। परन्तु यदि ईश्वर पूर्णतया विश्व-व्यापी (immanent) हो जाय तो भी वन्दना का स्थान नही रह जाता है, क्योंकि यहाँ मानव ईश्वर की सत्ता मे वैसे ही विलीन हो जाता है जैसे पानी की बूंदे सागर मे विलीन हो जाती हैं। इस हालत मे पुजारी का ईश्वर से पूर्णतया आत्मसात् (identification) हो जाता हैं। वह वेदी जिस पर फूल चढाया जाय, वह फूल जो देवता की सेवा मे अर्पित किया जाय, वह भक्त जो हाथ जोडकर खडा होता है और वह देवता जिसकी पूजा होती है सब एक ही हो जाते है। तब कौन किसकी पूजा करे? या तो सभी पूज्य हो जाते या सभी पुजारी हो जाते है, परन्तु पूज्य और पुजारी की दो स्वतन्त्र सत्ता नही रह पाती है। अब स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद मे जहाँ तक विश्व, मानव तथा विशिष्ट वस्तुओ की सत्यता है, वह एकमात्र द्रव्य या ईश्वर की सत्ता है और सभी ईश्वर मे लय हो जाते हैं और इस हालत मे ईश्वर तथा मानव मे इतनी भी दूरी नही रहती कि पूजा की सभावना हो। अत, स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद मे धर्म तथा पूजा का स्थान नही रहता है। यही कारण है कि ब्रैडले तथा वेदान्त मे सगुण ब्रह्म कि सत्यता व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित मानी गई है और पारमर्थिक दृष्टिकोण से स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद धर्म को प्रश्रय न दे सकने के कारण असतोषजनक समझा गया है।

यदि सब कुछ ईश्वर ही है तो जो कुछ होता है उसे 'ईश की मौज' कहा जा सकता है। स्वय स्पिनोजा का कहना है कि विश्व की तथा मानव की सभी क्रियाएँ उसी रीति से ईश्वर से निकलती हैं जिस रीति से त्रिभुज के सभी कोणो को मिलाकर दो समकोण के बराबर होना त्रिभुज के स्वरूप से सभव होता है। ऐसी दशा मे मानव अपनी प्रतिक्रियाओ के लिए उत्तरदायी नही कहा जा सकता है। वह ईश्वर के हाथ मे 'नट की कठपुतली' हो जाता है। स्पिनोजा ने बार-बार बतलाया है कि मानव मे अपनी इच्छा की स्वतन्त्रता भ्रम है। जिस प्रकार से मदिरा से मत्त होकर व्यक्ति आयँ-बायँ करता है और उसे आभासित होता है कि वह स्वतत्र इच्छा से बकवास करता है, ठीक उसी रीति से मानव को मालूम देता है कि वह अपनी क्रियाओ को अपनी स्वतत्र इच्छानुसार सम्पादित करता है। पर मानव को अपनी इच्छा की स्वतत्रता कितनी ही सत्य क्यो न मालूम पडे, उसकी क्रियाएँ नियतिवाद (Determinism) की उसी कठोरता से सचालित होती हैं जिस कठोरता से पत्थर तथा यत्र की क्रियाएँ सचालित होती हैं। अब यदि हम मान लें कि मानव मे इच्छा

स्वतत्र है नहीं, तो वह अपने काम की अच्छाई या बुराई के लिए उत्तरदायी न होगा और जब व्यक्ति अपने काम की अच्छाई-बुराई का उत्तरदायी न हो तो उसमे नैतिक निर्णय की गुजाइश नही रह पाती है। अत स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद मे नैतिकता (Morality) का स्थान नही रहता है। इसलिए भी स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद को असतोषजनक समझा जाता है। परन्तु स्पिनोजा का परम उद्देश्य यही था कि उसके चिंतन से मानव-चरित्र सुधारा जाय और मानव को चिरशान्ति मिल जाय। अत., हमे देखना है कि जब स्पिनोजा इच्छा-स्वातत्र्य को अस्वीकार करते हैं तो वे किस प्रकार अपने आचार-दर्शन की व्याख्या करते हैं।

स्पिनोजा का आचार-दर्शन (Ethics) —स्पिनोजा के अनुसार व्यक्तियो को जीवन मे अशाति इसलिए रहती है कि उन्हें अस्थायी वस्तुओ पर ममता हो जाती है। जब वे वस्तुएँ, जिनमे मन लगा रहता है, नष्ट हो जाती हैं तो मानव शोकातुर हो जाता है। यदि हमारा मन शाश्वत तथा स्थायी वस्तुओ पर टिका रहेगा तो न हम उन्हें कभी खोयेंगे और न हमे शोक-विह्वलता होगी। अत हमारा उद्देश्य होना चाहिए कि हम शाश्वत सत्ता की खोज करें और उसे प्राप्त करें। इसलिए हमे चाहिए कि सच्चे ज्ञान-मार्ग को जानें, जिसके आधार पर शाश्वत सत्ता पर हमारा मन टिक जाय। अत स्पिनोजा, सुकरात तथा भारतीय परम्परा की उस परिपाटी की पुष्टि करते है जिसके अनुसार सच्चे ज्ञान से ही सत्य नैतिकता प्राप्त हो सकती है। अब अपनी तत्त्व-मीमासा के आधार पर वे नैतिकता को कोई स्थान नही देते हैं, पर जब वे व्यावहारिक क्षेत्र मे उतर आते हैं तो वे अपनी तत्त्व-मीमासा की कठोरता को ढीला कर देते हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि यही बात काण्ट मे भी पायी जाती है। उन्होने भी शुद्ध या सैद्धान्तिक बुद्धि (Pure reason) के कठोर निष्कर्षों को व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) की व्याख्या मे शिथिल कर दिया है। आचार-दर्शन मे स्पिनोजा ने स्वीकार किया है कि मानव को कोरा सीमित प्रकार नही समझा जा सकता और उसमे भी ईश्वरीय अश है, जिससे वह परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। फिर उन्होने मानव मे इतनी स्वतन्त्रता भी स्वीकार की है, जिससे वह अपनी गिरी हुई दशा से ऊपर उठ सकता है। अत, हमे जानना चाहिए कि स्पिनोजा के अनुसार वह कौन सच्चा ज्ञान-मार्ग है, जिसके आधार पर मानव ऊपर उठ सकता हैं।

ज्ञान-मार्ग की सीढ़ियाँ —मानव मन का तत्त्व है कि उसमे भावनाएँ या प्रत्यय हो। इसलिए स्पिनोजा बुद्धि को मुख्य स्थान देकर संकल्प (Will) की उपेक्षा करते हैं। परन्तु मानव मे सभी प्रकार के ज्ञान पर्याप्त नही कहे जा सकते हैं। ज्ञान की भी सीढियाँ है। सबसे निम्नकोटि का ज्ञान कल्पना (Imagination), मध्यकोटि का ज्ञान युक्तिपूर्ण विचार तथा उत्तम कोटि का ज्ञान सहजबुद्धि अथवा प्रतिभान

(Intuition) कहा जा सकता है। कल्पना वह ज्ञान-मार्ग है, जिसके अनुसार सभी वस्तुएँ अपनी विशिष्टता तथा पृथकता मे दिखायी देती है। यदि हम आनेय के वर्ग की उपमा फिर से याद करें तो हम कह सकते है कि प्रत्येक वस्तु को अपनी विशिष्टता मे देखने पर काल्पनिक ज्ञान होता है। परन्तु वस्तुएँ वास्तव मे एक-दूसरे से अलग तो है नही। जिस प्रकार से प्रत्येक वर्ग का वर्गपन अन्य वर्गो से निर्धारित होता है, उसी रीति से प्रत्येक वस्तु का अपना वस्तुपन अन्य वस्तुओ के शृखलापन से निर्धारित होता है। अब युक्तिपूर्ण अथवा अनुमान-सम्बन्धी ज्ञान के आधार पर हम कारण-कार्य की शृ खला को जानने की कोशिश करते हैं। उस यौक्तिक ज्ञान (Rational Knowledge) मे कुछ हद तक वस्तुओ की पृथकता दूर हो जाती है क्योकि बुद्धि उन नियमो की स्थापना करती है, जिनमे अनेक घटनाएँ सूत्रबद्ध हो जाती हैं। बुद्धि वस्तुओ की एकता को सामान्य प्रत्ययो (Communes notiones) के आधार पर प्राप्त करती हैं। सामान्य प्रत्यय वे हैं, जो एक प्रकार की वस्तुओ के सामान्य धर्म को बताते है, जैसे, मानव की विवेकशीलता को व्यक्तियो का सामान्य धर्म कहा जा सकता है।

परन्तु, बुद्धि से भी सच्चा ज्ञान नहीं मिलता है, क्योकि यौक्तिक ज्ञान वस्तुओ की एकता को सम्पूर्णतया स्थापित नही कर पाता है। उदाहरणार्थ विज्ञानो मे अनेक नियमो की स्थापना की जाती है, जिनके आधार पर हमारी अनुभूतियो मे अच्छी सुव्यवस्था आ जाती है। अब यद्यपि इन नियमो के आधार पर हमारी अनुभूतियाँ सुसगठित हो जाती हैं, तथापि स्वय इन नियमो को सुव्यवस्थित होने की आवश्यकता पड जाती है। अत वैज्ञानिक नियमो के बीच एकत्व स्थापित करने के लिए यौक्तिक ज्ञान के उच्चतर स्तर की आवश्यकता हो जाती है, जिसके आधार पर पूर्ण एकता प्राप्त की जा सके। यही बात काण्ट मे भी देखी जाती है, जिन्होंने वैज्ञानिक ज्ञान मे से भी ऊपर आदर्श एकता को प्राप्त करने के लिए प्रज्ञा के तीन प्रत्ययो की बात कही है। फिर युक्तिपूर्ण ज्ञान असाक्षात् (Indirect or discursive) हुआ करता है, जैसे हम कहते हैं कि 'अ' बराबर है 'स' के, क्योकि 'अ' तथा 'स' दोनो मे से प्रत्येक बराबर है 'ब' के। 'ब' के माध्यम से 'अ' तथा 'स' की बराबरी सिद्ध होती है। परन्तु सच्चा ज्ञान अमाध्यमिक तथा साक्षात् होना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान सहजबुद्धि द्वारा प्राप्त होता है।

सहजबौद्धिक ज्ञान वह है, जिसमे ईश्वर के सार गुण और वस्तुओ के तत्त्व के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।[1] यह वस्तुओ का साक्षात् ज्ञान है, जिसके अनुसार एक ही क्षण मे सब वस्तुएँ ईश्वर की सत्ता से सम्बद्ध दीखती है। यौक्तिक

---

1 "Intuitive knowledge is that kind of knowing which proceeds from an adequate idea of the formal essence of attributes of God to the adequate knowledge of the essence of things

ज्ञान मे हम आशिकता से पूर्णता (wholeness) की ओर प्रगति करते हैं। पर सहज बौद्धिक ज्ञान मे पूर्णता से अश की ओर प्रस्थान किया जाता है। जो बातें वर्षों के परिश्रम के वाद वुद्धिग्राह्य होती हैं, उन्हें सहजवुद्धि एकक्षण मे जान लेती है। उदाहरणार्थ कहा जाता है कि अद्भुत अजन लगाने पर योगी दूर देशान्तरो की बात झट जान लेते है, जिन्हें साधारण व्यक्ति तार या बेतार द्वारा जानते है। सहजबुद्धि सभी वस्तुओ को ईश्वर से होती हुई देखती है और चूंकि ईश्वर सर्वकालीन सत्ता है, इसलिए इसमे भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य सभी काल तिरोहित हो जाते है। इसलिए सहजवुद्धि सभी वस्तुओ को शाश्वत रूप मे पाती है (Sub specie aeternitatis)। सहजबौद्धिक तथा यौक्तिक ज्ञान मे निम्नलिखित अन्तर है

(क) यौक्तिक (Intellectual) ज्ञान सामान्य धर्मों मे निहित होता है। परन्तु सामान्य धर्म विशिष्ट धर्मों की अवहेलना से सम्भव होता है और इससे वस्तुओ की वास्तविकता, जो इनकी विशिष्टता पर निर्भर करती, युक्तियो के आधार पर नही जानी जाती है। परन्तु सहजवुद्धि किसी भी वस्तु को उसकी सम्पूर्ण विशिष्टता के साथ जानती है। जैसे, यदि हम किसी गुलाव के सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक ही क्षण मे ले आना चाहें तो उस फूल की सम्पूर्ण विशिष्टता को सामजस्यपूर्ण रूप से देखना होगा। अब सहजवुद्धि वस्तुओ को सत्ता की सम्पूर्णता मे देखती है और इसलिए इस प्रकार का ज्ञान वास्तविक वस्तुओ का होता है।

(ख) फिर यौक्तिक ज्ञान असाक्षात् तथा माध्यमिक होता है, जिसका उदाहरण ज्यामितिक सिद्धियो मे देखा जाता है। परन्तु सहजबुद्धि सभी वस्तुओ की तत्क्षण, साक्षात् रीति से ग्रहण कर लेती है।

(ग) यौक्तिक ज्ञान वस्तुओ की पृथक्ता को दूर कर उन्हें नियमबद्ध कर लेता है। पर इसका सूत्रीकरण अधूरा होता है। सभी वस्तुओ का पारमार्थिक सूत्रीकरण सहजवुद्धि के ही आधार पर सभव होता है।

स्पिनोजा के अनुसार सहजबुद्धि के ही आधार पर व्यक्तियो को परमानन्द प्राप्त हो सकता है। यह बात स्पिनोजा के 'बन्धन तथा मुक्ति' (Bondage and freedom) के प्रसग मे स्पष्ट होती है और अब हम इस प्रसग को व्याख्या करेंगे।

मानव-बन्धन—स्पिनोजा के अनुसार सभी वस्तुओ मे अपनी प्रेरणा-शक्ति (conatus) है, जिसके अनुसार वे अपनी स्थिति मे जारी रहती हैं। इस प्रेरणा शक्ति को विस्तार तथा चेतना—दोनो दृष्टिकोणो से स्पष्ट किया जा सकता है। जीवो के अन्दर की इस प्रेरणा शक्ति को प्राणशक्ति (Vitality) कहा जा सकता है। अतः मानव मे भी प्राणशक्ति है, जिसके कारण मानव अपनी जीवित स्थिति मे कायम रहता है। यह प्राणशक्ति या तो वाह्य कारणो से या आन्तरिक गतियो से नियन्त्रित

हो सकती है* । यदि प्राणशक्ति बाह्य कारणो से नियन्त्रित हो तो इससे निष्क्रिय भाव (†) (Affection or passion) कहते हैं । इसी निष्क्रिय भाव के अन्तर्गत सुख, असुख तथा कामना आती हैं। परन्तु यदि प्राणशक्ति आन्तरिक कारणो से ही नियन्त्रित हो तो इसे स्वतत्र क्रिया कहा जा सकता है। यदि भाव से आत्म-प्रेरण-शक्ति (Self-Preservation) में बल मिल जाय तो इसे सुख-भाव (Pleasure) कहते हैं, और यदि इस आत्म-प्रेरण-शक्ति मे भाव से क्षीणता आ जाय तो इसे दुख या असुख भाव कहते हैं। चूंकि भाव बाह्य कारणो से होता है। जिनपर जीवो का कोई अधिकार नही रहता है, इसलिए इसे हम उनका बन्धन या दासता कह सकते हैं। भावो की मेखला से मुक्त होने का दूसरा नाम है छुटकारा तथा मुक्ति †

मानव-मुक्ति तथा स्वतंत्रता— स्पिनोजा इच्छा-स्वातन्त्र्य को न तो इश्वर मे और न मानव मे स्वीकार करते हैं। इसलिए इनके अनुसार सभी घटनाएँ नियति-नियमो मे जकडी हुई है। इस दशा मे उसी क्रिया को स्वतत्र कहा जाता है जो किसी वस्तु के अपने स्वरूप से ही सचालित हो। यदि मानव-व्यवहार आत्म स्फुरित भावना से ही सचालित हो तो इसे स्वतत्र व्यवहार कहा जाता है। अत, आत्म-नियन्त्रित (Self-determined) व्यवहार को ही स्वतत्र व्यवहार कहा जा सकता है। आत्म-स्फुरित भावना वह है, जो मानव से आत्म-सत्ता के तत्त्व से निर्देशित हो ‡

*"By pleasure I mean a passive state by which the mind passes to a greater, by pain a passive state by which it passes to a lesser perfection " By 'perlection' is meant the enhancement of bodily or mental power in the struggle of self-preservatian

† चूँकि स्पिनोजा तो देकार्तीय मन के द्विविभाजन को ही मानते हैं, इसलिए निष्क्रियी भाव तथा गत्यात्मक सवेग (Emotions) को एक ही शब्द 'passion' में व्यक्त करते है। 'Passion' का शाब्दिक अर्थ है उस स्थिति से, जिसमें व्यक्ति निष्क्रिय हो और अन्य वस्तुएँ उन पर अपना प्रभाव डालें। परन्तु यद्यपि भाव (Feeling or affection) के लिए यह व्याख्या लागू हो सकती है, पर desire, लालसा या चाहना के लिए यह व्याख्या ठीक नहीं बैठती है। पर अंग्रेजी के इस शब्द का अब अर्थ होता है रागात्मक वृत्तियाँ।

यहाँ देकार्तीय व्याख्या अभिलषित होती है, क्योंकि देकार्त के अनुसार passion वह confused idea है, जो animal spirits से उत्पन्न होकर चेतना में विडम्बना या धक्का पहुँचाये।

फिर चूँकि सुख या असुख-प्रेरणाशक्ति conatus की सन्तुष्टि-असन्तुष्टि से उत्पन्न होत कही जाती है, इसलिए स्पिनोजा का यह मत वर्त्तमानकालिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से भी पुष्ट होता है।

‡ यहाँ पाठक देखेंगे कि स्पिनोजा के Passion में जिस प्रकार से Passion में गतिशील 'चाहना' चला आता है, उसी रीति से Freedom का यहाँ अर्थ छुटकारा भी हो सकता है, और स्वतत्रता भी।

और इसका अर्थ है कि उसी भावना को आत्म-सत्ता के तत्त्व से निर्धारित होना समझा जायगा जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो। चूंकि स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावना बुद्धि से ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए बौद्धिक जीवन ही स्वतत्र जीवन है। परन्तु 'बौद्धिक प्रेम' बतलाता है कि सभी घटनाएँ एकात्मक सत्ता ईश्वर से ही सचालित होती हैं, इसलिए जो व्यक्ति वस्तुओ या घटनाओ को ईश्वरीय समझकर उनके अनुसार स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावना से काम करता है, वही स्वतत्र तथा मुक्त व्यक्ति है।

यदि व्यक्ति रागात्मक वृत्तियो तथा भाव के वश मे होकर कोई काम करता है तो वह बाह्य वस्तुओ के प्रभाव मे होकर काम करता है। और यदि कोई बाह्य कारणो से नियन्त्रित हो तो वह अपनी सत्ता के अनुसार काम नही करता है। ऐसे व्यक्तियो की गति उस तिनके के समान है, जो नदी की लहरो मे वायु-विताडित होकर इधर-उधर बहता रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने भावो के दास है। अत', स्वतत्र होने के लिए व्यक्ति को बाह्य-सचालित न होकर आत्म-नियन्त्रित होना चाहिए। मानव का सारगुण उसकी बुद्धि मे है। अत उसे अपने तत्त्व से सचालित होने के लिए बुद्धिगम्य स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भावनाओ के अनुसार काम करना चाहिए। इसलिए यदि कोई भाव हो और हम उसे समझ लें तो वह भाव नही रह पाता है, क्योकि समझ लेने पर भाव बौद्धिक भावना बन जाता है *। पर भाव शरीर के अन्दर की उन प्रक्रियाओ से उत्पन्न होता है, जो शरीर के बाहर की वस्तुओ से उत्पन्न होती है और इसलिए किसी भी भाव को समझने के लिए कारण-कार्य की सम्पूर्ण शृखला को जानना पडता है। पर कोरी युक्ति से यह सभव नही हो सकता है। इसलिए हमे अपनी सहजबुद्धि के आधार पर किसी भी घटना को सम्पूर्ण विश्व के दृष्टिकोण से देखना पडता है। सार्वभौमिक दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होता है कि सभी घटनाएँ ईश्वर से नियन्त्रित होती हैं। ऐसा समझकर कि सभी घटनाएँ ईश्वर-लीला या 'मालिक की मौज है', बुद्धिमान व्यक्ति न किसी से ईर्ष्या रखता है और न द्वेष, क्योकि दुर्जन और सज्जन, सभी व्यक्तियो के व्यवहार ईश्वर से ही सचालित होते हैं। तो क्या बुरे-भले का कोई भेद नही है? नही, बुरे-भले का भेद है। अच्छा व्यक्ति वह है, जो ईश्वर की पूर्णता मे भागी होता है, ईश्वरीय

---

* "A free action is nothing but the essence of a thing itself its power of doing those things which follow necessarily from its nature But the essence of reason is nothing but our mind in so for as it clearly and distinctly understands"

* We stifle passions by understanding them फिर कहा है "Error is extinguished, and its power over the mind ceases when we know it as error"

बातो को जानकर ईश्वर की सेवा मे जीवन-यापन करता है। पर मूर्ख व्यक्ति वह है, जो ईश्वरीय कार्य मे अनजाने ही साधन होता और इसी साधन-रूप मे ईश्वरीय प्रेम से वचित होकर नष्ट हो जाता है।

ज्ञान-मार्ग के दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि कल्पना के पीछे दौडनेवाला व्यक्ति वस्तुओ की पृथक्ता से आकृष्ट होकर उनपर अपने मन को टिकाये रहता है और उसे क्षणभगुर वस्तुओ से अमर शान्ति नही मिल सकती है। परन्तु यौक्तिक ज्ञान को पारकर जो व्यक्ति सहजबौद्धिक ज्ञान की अमर ज्योति मे प्रवेश करता है, वह सभी घटनाओ को ईश्वर से होते हुए देखता है। वह स्वय किसी भाव का दास नही बनता, क्योकि उसका व्यवहार बुद्धि से नियन्त्रित होता है। भावो से ऐसा मुक्त व्यक्ति सभी घटनाओ को ईश्वरीय लीला समझकर ईश्वर के प्रति प्रेम से विह्वल हो उठता है। सभी घटनाओ को ईश्वरमय समझकर वह उनका सहर्ष स्वागत करता है। जीवन की कटु अनुभूति उसे त्रस्त नही करती और सुखद अनुभूतियाँ उसे अपने भुलावे मे नही डाल सकती है। 'हर्ष-विषाद बिखेरे' ऐसे व्यक्ति न किसी की झूठी प्रशसा के मुहताज रहते हैं, न उन्हें किसी का भय होता है। जीवन के सभी प्रलोभनो से निर्लिप्त होकर मानव के उच्चतम ज्ञान से ही उत्प्रेरित होकर वे सभी कामो को तटस्थ रूप से सम्पादित करते हैं*। इस प्रकार के जीवन के (Attitude) को स्पिनोजा ने ईश्वर का बौद्धिक प्रेम (Amor intellectualis dei) कहा है। यह मानव मे वह इश्वरीय प्रेम है, जिसमे स्वय ईश्वर अपने को प्रेम करता है। इस प्रकार के प्रेम से आत्मा की सम्पूर्ण सतुष्टि होती और यह सभी अधम भावो को कुचलने मे अमोघ अस्त्र का काम करता है।

चूँकि ईश्वर और प्रकृति एक ही हैं, इसलिए ईश्वर के बौद्धिक प्रेम का अर्थ है कि ईश्वर तथा प्रकृति की नियतिवादी सत्ता मे अपने को लीन कर दिया जाय। अत मनोवैज्ञानिक नैतिक (Psychological-ethical) दृष्टिकोण से ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम का अर्थ है कि भावो को बुद्धि से जीतकर तटस्थ हो जाना चाहिए। तात्त्विक दृष्टिकोण से इसका अर्थ है कि जहाँ तक सभव हो व्यक्ति को ईश्वरीय सत्ता से आत्मसात् कर लेना चाहिए। चूँकि स्पिनोजीय ईश्वर धार्मिक सत्ता है नही, इसलिए स्पिनोजीय ईश्वरीय प्रेम अलौकिक अवश्य है, पर यह भक्तो

---

* "The man who lives according to reason will, therefore strive and rise above pity and vain regrets He will consider nothing worthy of hatred, mockery of contempt He will look at life dispassionately and fearlessly obeying no one but himself, doing that only which he knows to be best, conquered neither by human miseries nor his own mistakes"

की भक्ति नही है। इसलिए स्पिनोजा के ईश्वरीय प्रेम को धार्मिक रहस्यवाद तथा भक्तो की स्वानुभूति के रूप मे नही समझना चाहिए। यह वास्तव मे निर्मम बौद्धिक जीवन की अपूर्व तपस्या का चरम विकास है। यह प्रेम नि स्वार्थ ही नही वरन् वह प्रेम है, जिसमे अपनापन या स्वत्व ही मिट गया है,। यह दीया के प्रति पतग का वह प्रेम है जिसकी पराकाष्ठा मे पहुँचकर वह अपनी बलि चढा देता है। यह वह प्रेम है, जो प्रेमी प्रेमिका के प्रति बिना प्रीति पाने की अभिलाषा से करता है। स्पिनोजीय प्रेमी को बस इतना ही चाहिए कि वह इश्वर से प्रेम करे। उस दीवाने को इसकी क्या चिन्ता है कि ईश्वर उससे प्रेम करता है या नही।। वास्तव मे स्पिनोजीय ईश्वर मे मानव-भक्तो के प्रति प्रेम की सभावना नही देखी जाती है। यह वह तालाब है, जिसमे 'पछी प्यासो जाय'। ऐसे ईश्वर को प्रेम करना अत्यन्त कठिन है, पर स्पिनोजा का कहना है कि सभी उत्तम चीजें जितना अधिक अप्राप्य हैं उतनी ही अधिक दुस्तर भी हैं [२]।

स्पिनोजा के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्याकन—स्पिनोजा का दर्शन धर्म-प्रधान कहा जायगा और देकार्त से लेकर सामयिक विचारधारा में दर्शन को धर्म से स्वतन्त्र बनाने का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि स्पिनोजा का दर्शन उस रूप मे नही लिया गया है जिस रूप मे स्पिनोजा ने इसे समझा और इसका प्रतिपादन किया था। इसलिए कहा जाता है कि स्पिनोजीय दर्शन को समझने का कम और इसकी आलोचना ही करने का प्रयास अधिक हुआ है। कुछ दूर तक यह बात सच्ची है।

स्पिनोजा के दर्शन के तीन मुख्य भाग हैं अर्थात् तत्त्व-मीमासा, नीति और धर्म। हम इन तीनो के प्रति आलोचको के मत को देकर उनका मूल्याकन करेंगे।

तत्व-मीमासा के प्रति आपत्तियाँ—स्पिनोजा के दर्शन के सम्बन्ध मे कुछ परम्परागत और कुछ सामयिक आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। परम्परागत आपत्तियाँ यह की जाती है कि स्पिनोजावाद शून्यवाद मे परिणत हो जाता है और इसकी व्याख्या

1 This love is not selfish not unselfish, but selfless It was this aspect of Spinozism which had appealed to the mind of Goethe.

2. Ethica के अन्तिम भाग में स्पिनोजा की उक्ति उल्लेखनीय है, जिसमें काण्ट के निरपेक्ष आदेश (categorical imperative) तथा सुकरात के अन्तिम आदेश की अभिव्यजना देखने में आती है. "If the way which I have pointed out as leading to this result seems very hard, it can nevertheless be found Need must it be hard since it is so seldom discovered. If salvation were ready to our hand, and could without great labour be discovered, how could it be by almost all men neglected? But all things excellent are as difficult as they are rare."

हम पहले ही कर चुके हैं। समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववादी दृष्टिकोण से किसी भी तत्त्व-मीमासा को अर्थपूर्ण नही माना जायगा क्योंकि परम तत्त्व को वैज्ञानिक विधि के द्वारा स्थापित और प्रमाणित नही किया जा सकता है। वैज्ञानिक विधि के अनुसार जिस वस्तु या सत्ता का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते है उसे किसी रूप मे अनुभूति का विषय रहना चाहिए। स्पिनोजा के अनुसार एक द्रव्य अथवा ईश्वर परमार्थ सत्ता है। तो भी हमे इसकी अनुभूति हो सकती है ? हाँ, स्पिनोजा के अनुसार हमे परम सत्ता की अन्त प्रज्ञा (Intuition) हो सकती है। पर यह सहजज्ञान या अन्त प्रज्ञा है क्या ? वास्तव मे यह रहस्यमय अनुभूति है, जिसे गूढ़ या गहन ज्ञान की संज्ञा दी गयी है। परन्तु वैज्ञानिक अनुभूति वह अनुभूति है जो सर्वसुलभ हो और जिसे सिद्धान्त-रूप मे सभी अपने मे दुहरा सकें। स्पिनोजा के द्वारा बताये गये ईश्वर के गहन ज्ञान को सभी व्यक्ति नही प्राप्त कर सकते हैं और न इसे सार्वजनिक रीति से सबके सामने रखा जा सकता है। यदि कोई इन्द्रिय-अनुभूति के विषय पूछे तो सभी को बताया जा सकता है कि अमुक घास हरी है या अमुक गुलाब लाल है। पर ईश्वर के विषय मे किसी वस्तु को या मूर्त्ति को या आकाश दिखाकर नही कहा जा सकता है कि यह ईश्वर है। यह गूंगे के गुड के समान ऐसी अनुभूति है, जो किन्ही अन्य व्यक्तियो पर व्यक्त नही की जा सकती है। यह स्वानुभूति की बात है, कहा-कही की है नही, देखा-देखी की बात। इसलिए स्पिनोजा की ईश्वर-सम्बन्धी अन्त प्रज्ञा अति व्यक्ति-गत तथा आत्मगत ज्ञान है और इसे वैज्ञानिक ज्ञान से एकदम भिन्न समझना चाहिए। इसलिए अब चूंकि तर्कनिष्ठ अनुभववादी केवल वैज्ञानिक ज्ञान को ही ज्ञान की संज्ञा देते हैं, इसलिए वे स्पिनोजा द्वारा बताये गये परमसत्ता के गहन ज्ञान को ज्ञान नही मानते है।

अब परम्परागत तथा तर्कनिष्ठवादियो की आपत्तियाँ उनकी अपनी दृष्टि से की गई है और चूंकि ये दोनो प्रकार की दृष्टियाँ निर्मूल नही हैं, इसलिए स्पिनोजा की तत्त्वमीमासा की आलोचनाएँ भी निराधार नही हैं। इन दोनो दृष्टियो के अनुसार तत्त्व-मीमासा ज्ञानात्मक प्रक्रिया है, जिसमे वैज्ञानिक ज्ञान की स्थापना होती है। हम-लोगो ने प्रथम अध्याय मे ही दिखाने की कोशिश की है कि तत्त्व-मीमासा विज्ञान नही है। यह उपमामूलक शास्त्र है और इसका उद्देश्य है कि विचारको मे समस्त ब्रह्माण्ड के प्रति ऐसी अभिवृत्ति हो जाय जिससे उनमे और समस्त प्राणियो मे आत्मविकास और सर्वोदय सभव हो सके। इसलिए तर्क अथवा युक्तियाँ दर्शन के तत्त्व नही, वरन् विश्वचित्रण अथवा विश्व के प्रति दिव्य दृष्टि ही दर्शन का निचोड है। यह ठीक है कि अनुभूतियो की अवहेलना नही करनी चाहिए, क्योंकि इन्ही अनुभूतियो की व्याख्या करने, इनके वर्गीकरण तथा परिशोधन के लिए तो दिव्यदृष्टि की आवश्यकता होती है। इसलिए यदि स्पिनोजा का दर्शन शून्यवाद ठहरा तो यह इसकी कमी सिद्ध होगी।

हम अपनी आँखें बन्द कर लेने पर यथार्थ जगत को देखने से इनकार कर सकते है, पर इसमे जगत् काफूर नहीं हो जाता । 'मूँदे आँखि कतहु कोउ नाही' उसी के लिए है जिसने आँख मूँदी हैं, पर विश्व की अपनी वास्तविकता ज्यो की त्यो बनी रहती है ।

परन्तु इस सम्बन्ध मे भी सर्वप्रथम यह निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता कि स्पिनोजा का दर्शन शून्यवादी है ।[1] और, यदि हुआ भी तो इसमे वास्तविक सामग्रियो और तर्क की कमी तो अवश्य कही जायगी, परन्तु इसमे विश्वदृष्टि का लक्ष्य बडी प्रज्वलता के साथ निखरता है । स्पिनोजा का उद्देश्य था कि मानवो को क्षणिक सुख मे भुलानेवाले ससार से विमुख किया जाय, आपस के स्वार्थ-भाव को दूर किया जाय, विश्वप्रेम बढाया जाय और स्थितप्रज्ञ बनाया जाय । एकत्ववाद की रचना कर स्पिनोजा ने अपनी दार्शनिक दिव्यदृष्टि का भूरि-भूरि परिचय दिया है । हाँ, यदि स्पिनोजा के दर्शन मे कमी हुई है तो यह उनके तर्क और उपमा की । स्पिनोजा ने ज्यामिति-विधि और तर्क को अपने दर्शन का रचनात्मक प्रत्यय या मूल उपमा माना है और यही कारण है कि उनके दर्शन में दैनिक जीवन की कालविधि, इच्छा-स्वातन्त्र्य, उद्देश्यपूरकता इत्यादि की अवहेलना हुई है । किसी भी दर्शन मे विश्व चित्रण के लिए वास्तविक घटनाओ के साथ-साथ तर्क-युक्तियाँ सामञ्जस्यपूर्ण होनी चाहिए और स्पिनोजा के दर्शन मे विश्व की सामग्रियो और युक्तियो की परिपूर्णता नही पायी जाती है । जितनी स्पिनोजा की दिव्यदृष्टि पैनी है उतनी उनकी युक्तियाँ नही । परन्तु, किसी भी दर्शन के मूल्यांकन मे दिव्यदृष्टि की गहराई पर ही ध्यान जाना चाहिए । अब स्पिनोजीय सर्वेश्वरवाद मानव-बुद्धि का दिव्य आदर्श है । यदि इसकी त्रुटियाँ स्पष्ट हो जाती हैं तो सिद्ध हो जाता कि दार्शनिक समस्याओ का समाधान कोरी बुद्धि के आधार पर नही हो सकता है, अत हम यह पाठ स्पिनोजा के अध्ययन से सीखते है । हमलोगो ने स्पिनोजा की आलोचना अवश्य की है, पर इससे उनके महत्त्वपूर्ण विचारो का अनादर नही होता है । महान् विचारक इसलिए नही पैदा होते हैं कि लोग उनकी पूजा करें । उनके विचारो का समादर उनके श्रवण-मनन, खण्डन-मण्डन से होता है । यदि पक्षपातरहित अध्ययन के बाद भी उनके विचारो से मतभेद रह जाता तो इस मतभेद को श्रद्धाजलि के रूप मे अर्पित करने से ही उनके विचारो से सच्ची सेवा होती है ।

तब अन्त मे हमे मानना ही पडेगा कि कोई पूर्वानुभविक (a priori) प्रत्ययो के आधार पर वास्तविक विश्वचित्रण करना चाहे तो उसे भ्रमपूर्ण कहा जायगा । स्पिनोजा ने पूर्वानुभविक परिभाषाओ के आधार पर तत्त्व-मीमासा की रचना की है

---

1 देखें, स्पिनोजा का गुण-सम्बन्धी या अपरिमित प्रकार का सिद्धान्त ।

और इसलिए इसमे वास्तविक घटनाओं का स्थान नही है। इसलिए स्पिनोजीय विश्व-चित्रण परिपूर्ण नही माना जायगा।

आचार-दर्शन के प्रति आपत्ति :— स्पिनोजा के आचार पर दर्शन के सम्बन्ध मे प्राय ये आपत्तियाँ की जाती है स र्वप्रथम कहा जाता है कि स्पिनोजा के दर्शन मे सभी घटनाएँ नियतिवादी नियमो से जकडी हुई है। इसलिए मानव-व्यवहार और उसका ज्ञान भी इसी नियतिवादी व्यवस्था से सचालित होता है। यदि ऐसी बात है तो यह किसी व्यक्ति-विशेष पर निर्भर नही करता है कि उसे ईश्वर का बौद्धिक प्रेम प्राप्त हो या नही। यदि ईश्वरीय सत्ता के आधार पर किसी व्यक्तिविशेष मे ईश्वरीय प्रेम हो जाय तो यह उसकी चेष्टा पर निर्भर नही करता है। अत, मानव स्पिनोजीय शिक्षा से अपने आचार को ऊँचा-नीचा नही कर सकता है और इसलिए यह निरर्थक शिक्षा है। और यदि मानव मे इतनी स्वतन्त्रता है कि अपने को अपने इच्छानुसार ऊँचा उठा सकता है तो स्पिनोजा के दर्शन का नियतिवाद (Determinism) मिथ्या हो जाता है। अत स्पिनोजा की आचार-शिक्षा और उसकी तत्त्व-मीमासा मे ऐसा विरोध है, जिसे युक्तिसगत नही ठहराया जा सकता है।

फिर बौद्धिक प्रेम आत्मसगत प्रत्यय नही है। 'प्रेम' भाव तथा रागात्मक वृत्तियो का सकेत करता है और 'बुद्धि' ठीक इसके अभाव मे काम मे लाई जा सकती है। स्वय स्पिनोजा ने बताया है कि भाव बौद्धिक हो जाने पर भाव नही रह पाता है।[1] अत यदि प्रेम हो तो वह बौद्धिक नही हो सकता है और यदि वह बौद्धिक हो तो प्रेम नही हो सकता है।

वास्तव मे मानवता मे बुद्धि तथा सकल्प दोनो पाये जाते हैं और इन दोनो के सयोग से मानव-व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है। यदि मानव मे सकल्प हो तो उसे पूर्णतया बौद्धिक नही किया जा सकता और न बुद्धि ही को पूर्णतया सकल्पात्मक किया जा सकता है। स्पिनोजा मानव-सकल्प के प्रति अत्याचार करते है जब वे इसे केवल बौद्धिक ही समझते हैं। यही कारण है कि हमे सही ज्ञान हो जाने पर भी शायद उसके अनुसार हमारा व्यवहार न हो। यह साधारण ज्ञान है कि पियक्कड जानता है कि पीना बुरा है और फिर भी, इस ज्ञान के रहने पर भी, वह अपनी लत नही छोड सकता है। अत यह आक्षेप लगाया जाता है कि स्पिनोजा का आचार-दर्शन पूर्णतया बौद्धिकवादी है, जिसमे अन्य प्रक्रियाओ की अवहेलना की जाती है। इसलिए प्राय स्पिनोजा के दर्शन को विचारको ने अधूरा माना है। पर क्या ये आपत्तियाँ सार्थक है ?

कहा जाता है कि स्पिनोजावाद मे नियतिवाद है और जहाँ सभी प्रक्रियाएँ

---

[1] स्पिनोजा की उक्ति है कि an emotion ceases to be passion as soon as we form a clear and distinct idea of it.

नियतिवाद के नियमो से जकडी हो, वहाँ इच्छा-स्वातन्त्र्य नही होता और वहाँ आचार की सम्भावना नही हो सकती है।

इस आपत्ति को सार्थक तभी समझा जायगा जब नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य को परस्पर-विरोधी मान लिया जाय। परन्तु समसामयिक अनुभववादी इन्हें परस्पर-विरोधी नही मानते है। उनके अनुसार नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य दोनो मे कोई विरोध नही है। यदि हमारी इच्छात्मक प्रक्रिया नियतिवादी कही जाय तो इसमे कोई दोष नही है। इसके अनुसार किसी भी प्रक्रिया को स्वतन्त्रता की सज्ञा देने के लिए इसमे निम्नलिखित तीन शर्त्तें रहनी चाहिए।[1]

१. किसी भी स्वतन्त्र प्रक्रिया मे आन्तरिक और बाह्य बाध्यता नही रहनी चाहिए। यदि किसी को ढकेल दिया जाय और वह गिर पडे, तो इस गिर पडने को बाध्य, न कि स्वतन्त्र प्रक्रिया कहा जायगा। उसी प्रकार यदि आवेश या अचेतन प्रभावो मे आकर काम हो जाय तो ऐसे व्यवहार को आन्तरिक कारणो से नियन्त्रित होने के कारण स्वतन्त्र प्रक्रिया नही माना जाता है।

२ अनुभववादियों के अनुसार सभी प्रक्रियाएँ मानसिक, सामाजिक तथा अन्य कारणो से सचालित होती है। इसलिए स्वतन्त्र प्रक्रिया भी पूर्णतया नियन्त्रित होती है। अत नियतिवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य मे किसी प्रकार का विरोध नही है।

३ केवल काम के होने मे इस बात के कहने की गुजाइश रहनी चाहिए कि अमुक स्वतन्त्र प्रक्रिया जिस रूप मे हुई वह अन्य किसी रूप मे भी हो सकती थी।

अब यदि कोई भी स्वतन्त्र प्रक्रिया अपने कारणो से पूर्णतया नियन्त्रित कही जा सकती हैं, तो यह कहना कि स्पिनोजा के नियतिवाद मे स्वतन्त्र प्रक्रियाओ का स्थान नही है, युक्तिपूर्ण नही ठहरेगा। उसी प्रकार यह कहना कि आचार-विचार स्वतन्त्र प्रक्रियाओ से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिए नियन्त्रित प्रक्रियाओ मे बुरे-भले का आचार-निर्णय सभव नही हो सकता है, उचित नही ठहरेगा। इसलिए, समसामयिक अनुभव-वादी मत के अनुसार स्पिनोजावाद मे भी आचार की सभावना सरक्षित कही जायगी। इसलिये हमारी प्रक्रियायें पूर्णतया नियन्त्रित क्यो न हो, परन्तु यदि हम इस भाव को

---

१ यहाँ ऐर की उक्ति उल्लेखनीय है—

"To say that I could have acted otherwise is to say, first that I could have acted otherwise if I had so chosen, secondly that my action was voluntary in the sense in which actions, say of the kleptomaniac are not and thirdly that nobody compelled me to choose as I did. and these three conditions may very well be fulfilled" —Quoted by Maurice Cranston, Is there a problem of the freedom of the will ?' in the Hibbert Journal, Vol. 51, 1952-1953-pp 49-50

अपने मे ला सकते हैं कि हम अपने को सवेगो के तल से ऊपर उठा सकते हैं तो इस भाव को हम क्यो नही अपनायें और क्यो नही अपनेको पूर्ण बनाने का प्रयास करें ?

फिर स्पिनोजा ने अवश्य कहा है कि सर्वोपरि तल पर पहुँच जाने पर सभी घटनाएँ उसी प्रकार से निगमित होती है जिस प्रकार मे 'त्रिभुज' की परिभाषा में यह अनिवार्य रीति से निकलता है कि उसके सभी तीनो कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होंगे। इसलिए स्पिनोजावाद मे तर्कनिष्ठ अनिवार्यता अवश्य है और इसमे भाव-सवेगो की मनमानी और स्वैरता नही देखने मे आती है। इसलिए छिछली रीति से ही कहा जा सकता है कि निष्काम कर्म के करनेवाले मे प्रेम का भाव कैसे हो सकता है। जिस प्रकार से ज्यामिति के निष्कर्षो मे और इसकी विधि मे मानवो के भाव और सवेग का स्थान नही होता और उसी प्रकार अन्त प्रज्ञात्मक दृष्टि मे भाव और सवेग का स्थान नही होता। पर क्या ईश्वरीय प्रेम साधारण प्रेम और प्रीति का राग है ? फिर क्या स्पिनोजीय ज्ञान साधारण तथा वैज्ञानिक ज्ञान है ? स्वय स्पिनोजा ने कहा है कि ईश्वरीय प्रेम अन्त प्रज्ञात्मक दृष्टि का दूसरा पट है और चूँकि ईश्वरीय ज्ञान साधारण तथा वैज्ञानिक ज्ञान नही है, इसलिए ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम भी साधारण प्रेम-भाव नही है। स्पिनोजीय ज्ञान वह दिव्य दृष्टि है, जिसके रहने से व्यक्ति स्वय बदल जाता है। वह हर्ष विषाद विखेरे या वीतरागमय होकर स्थितप्रज्ञ हो जाता है, उसे सब कुछ ईश्वर-रजित प्रतीत होता है। क्या इस प्रकार के प्रत्यक्ष को, जिसमे सभी कुछ ईश्वरमय दीखे, साधारण प्रत्यक्ष कहा जा सकता है ? स्पिनोजीय विधि वह है, जिससे स्वय व्यक्ति मे ही उजाला होता और जिससे सबको उजाला मे लाया जाता है, 'सबको उजाला करे, आप उजाला होय'। वास्तव मे ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त और निर्वाणी कहा गया है। मुक्ति ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान समझना भारी भूल है। वह आलोक जिससे सभी वस्तुएँ आलोकित होती उसे किसी वस्तुविशेष का आलोक नही कहा जा सकता। उसी प्रकार ईश्वर का बौद्धिक प्रेम साधारण प्रेम नही और अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान को साधारण ज्ञान नही कहा जा सकता है। चूँकि आलोचको ने स्पिनोजीय बौद्धिक प्रेम को साधारण प्रेम समझा और अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान को साधारण ज्ञान समझा, इसलिए वे बौद्धिक प्रेम मे तथा ईश्वरीय ज्ञान मे पारस्परिक विरोध देखते है। यहाँ स्पिनोजा को नही, वल्कि उसके आलोचक को ही 'हिराना' कहा जायगा।

धर्म-दर्शन के प्रति आपत्ति —फिर स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद के प्रसग मे कहा गया है [1] कि स्पिनोजीय दर्शन मे धर्म का स्थान नही है। इसका कारण है कि इसमे उपासना का स्थान नही है। वही पर उपासना हो सकती है, जहाँ पुजारी और

१ देखें, 'स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद'

G W LEIBNIZ (1 646 to 1716)

आराध्य देवता एक-दूसरे से भिन्न हो और उन मे पारस्परिक दूरी और पृथक्ता हो। अव यह ठीक है कि स्पिनोजा के ईश्वर-विचार मे मानव और ईश्वर मे तरग और समुद्र का सम्बन्ध है। तरगो को समुद्र से भिन्न नही समझा जा सकता है और इसलिए स्पिनोजीय धर्म-दर्शन मे उपासना का स्थान नही देखने मे आता है। पर क्या इसमे धर्म की सम्भावना नही पायी जाती है ?

पाश्चात्य विचारको मे उपासनामूलक धर्म को ही धर्म की सज्ञा दी जाती है और समाधिमूलक धर्म को धर्म के नाम से नही पुकारा जाता है। इसलिए पाश्चात्य विचारक जैन, वौद्ध तथा निर्गुणवादी वेदान्त को धर्म के अन्तर्गत नही गिनते है। परन्तु भारतीयो के लिए समाधिमूलक धर्म को धर्म की सज्ञा न देना भारी भूल है। अव स्पिनोजा के दर्शन मे उपासना का स्थान नही है, पर समाधि का स्थान अवश्य है। स्पिनोजीय बौद्धिक प्रेम-प्राप्ति उनके धर्म-दर्शन का मुख्य उद्देश्य है और वौद्धिक प्रेम वह है, जो स्वय ईश्वर का ही गुण है। जब हम ईश्वर से वौद्धिक प्रेम करने लगते हैं तव यह वह प्रेम है, जिससे ईश्वर स्वय ओतप्रोत हैं। इसलिए बौद्धिक प्रेमी होना वास्तव मे ईश्वर को प्राप्त करने का ही दूसरा नाम है। यहाँ ईश्वर को दार्शनिक रीति से जानने का अभिप्राय है—स्वय ईश्वर वनना। यह बात बर्ग्सो और वेदान्त मे वडी स्पष्टता से कही गयी है। इसलिए स्पिनोजावाद मे भी धर्म-दर्शन है, पर इसमे सगुणोपासना नही, लेकिन निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति का सदेश है और वास्तव मे ब्रह्म-प्राप्ति ही धर्म की चरम अनुभूति है। इसलिए धर्म-उन्मत्त स्पिनोजा को धर्म-विमुखी पुकारना अज्ञानता का प्रदर्शन करना है।

गेटफ्रिड विल्हेलम लाइबनित्स

(सन् १६४६-१७१६ ई०)

यूरोपीय दर्शन मे अरस्तू के वाद एक लाइवनित्स ऐसे विचारक हैं, जिन्हें सर्वज्ञानसम्पन्न की सज्ञा दी जा सकती है। आज भी इतिहासकार इनके ज्ञान-भण्डार तथा मौलिक सिद्धान्तो की पैठ से चकित हो जाते है। ये स्पिनोजा के समान आरण्य-वासी दार्शनिक नही थे, पर आप राजनीति मे व्यस्त रहने पर भी गणितज्ञ, वैज्ञानिक, इतिहासकार तथा दार्शनिक थे। अत., इन्होने ज्ञान-अर्जन के लिए सपूर्ण विश्व को अपनी प्रयोगशाला समझा था और सभी क्षेत्रो मे इन्होने अपनी प्रतिभा की छाप छोड रखी है। इसीलिए इन्हें बहुमुखी प्रतिभावान् कहा गया है। लाइवनित्स का जन्म सन् १६४६ ई० मे हुआ था। आपके पिता लाइप्तसिग मे अध्यापक थे। इनके पिता की मृत्यु सन् १६५२ मे हो गई थी जब गेटफ्रिड लाइवनित्स ६ ही वर्ष के बच्चे थे। अपने ही परिश्रम से इन्होने अपने पिता के पुस्तकालय की पुस्तको से पूरा लाभ उठाया और सन् १६६६ ई० मे आपको डॉक्टर ऑव लॉ" की उपाधि दी गई। और साथ-ही-

साथ अध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया, जिसे इन्होने स्वीकार नहीं किया। सन् १६६० ई० से मरण-पर्यन्त ये राजनीति के क्षेत्र मे व्यस्त रहे। अनेक अवसरो पर राजदूतीय कार्य के लिए इन्हें यूरोपीय देशो की राजधानियो मे जाना पडा था, जहाँ इन्होने तत्कालीन विद्वानो से मिलकर अपने ज्ञान-भण्डार को भरा था। पत्र-विनिमय के बाद सन् १६७६ ई० मे ये स्पिनोजा से भी मिले थे, पर इस मिलन को आप यथा-शक्ति छिपाये रहे। हम आगे चलकर देखेंगे कि लाइबनित्स बहुत अशो मे तत्त्व-मीमासा के निष्कर्षो में स्पिनोजीय थे। शायद इसीसे अपने विचारो की नवीनता को सुरक्षित रखने के लिए इन्होने स्पिनोजा के साथ किये गये वार्त्तालाप पर पर्दा डाल दिया है।

लाइबनित्स बडे भारी गणितज्ञ थे और न्यूटन के विचारो को बिना जाने ही इन्होने अपरिमित कलन (Infinitesimal calculus) का स्वतन्त्र रूप से आविष्कार किया था। कहा जाता है कि न्यूटन इनसे इतने डरे रहते थे कि इनके मारे २० वर्ष तक गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त को नही छपवाया था। हम देखेंगे कि लाइबनित्स के दर्शन पर गणित की पूरी छाप पडी है। लाइबनित्स को इतना भी अवसर नही मिला कि वे शान्तिपूर्वक अपनी विचारधारा को क्रमबद्ध रूप दे देते। आपने अपने विचारो को तत्कालीन प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओ मे व्यक्त किया है और केवल तीन ही ऐसे लेख हैं, जिनमे आपकेके विचार क्रमबद्ध रूप मे पाये जाते हैं, अर्थात् Nouveaux Essai (सन् १७०३ ई०), Theodicee (१७१०) तथा La Monadologie (१७१४)। आपके जीवन की अन्तिम घडियाँ कटु वाद-विवादो से दुखित हो गयी थी। आपका देहान्त सन् १७१६ मे हो गया।

लाइबनित्स के दर्शन के मौलिक सिद्धान्त—लाइबनित्स ने अपने दर्शन के प्रसग मे कहा है कि उन्होने डिमोक्रिटस को प्लेटो से, अरस्तू को देकार्त से, शास्त्रियो (Scholastics) को आधुनिक दार्शनिको से तथा धर्म-विज्ञान को नीति-शास्त्र से युक्तियो के आधार पर मिलाने की कोशिश की है। यह उनके सामने समालोचनात्मक काम था। इसे सम्पादित करने के लिए उन्होने गणित के अपने प्रगाढ ज्ञान का आश्रय लिया है। अत, वे देकार्त तथा स्पिनोजा के समान गणित-शास्त्र से पूर्णतया प्रभावित थे और गणित-सम्बन्धी खोजो के आधार पर उन्होने मौलिक नियमो की स्थापना की है, जिनमे उनके आलोचनात्मक दर्शन की भित्ति बनी है।

तारतम्य (Continuity) का नियम– "It was originally a generalisation on the property of numbers.. viz. that they can be continued without end, and divided without limit .. and referred, in this respect to the infinitely large in which everything is contained, and to the infinitely small of which everything is made up" अत, सख्या का लगातार क्रम असीमित रूप से देखा जाता है। फिर अपरिमित कलन (Infinitesimal

calculus) के आधार पर देखा जाता है कि एक सख्या का सम्वन्ध दूसरी सख्या के साथ एकाएक नही होता, पर उनके बीच असख्य सूक्ष्म साख्यिक परिवर्त्तन पाये जाते हैं। अत, लाइवनित्स के अनुसार विश्व की उच्चतम तथा निम्नतम वस्तुओं के वीच असख्य वस्तुएँ है, जो क्रमश तलो (Levels) मे व्यवस्थित पाई जाती हैं। अव यदि उच्चतम और निम्नतम के वीच असख्य तल तथा स्तर हो तो कोई भी ऐसी श्रेणी की वस्तुएँ नही है, जिनमे प्राकारिक अन्तर (Difference in kind) हो। इसी नियम के आधार पर लाइवनित्स ने जीव तथा निर्जीव, मन तथा शरीर, अनुभववाद तथा बुद्धिवाद, डिमोक्रिटस तथा प्लेटो के वीच मेल स्थापित किया है।

व्यक्तित्व (Individuality) का नियम—प्राय गणित मे देखा जाता है कि गणित के अनेक पगो (Steps) को एक छोटे-से सूत्र (Formula) मे आवद्ध कर दिया जाता है। यही वात भारतीय दर्शन के सूत्रो मे पायी जाती है। अव लाइवनित्स के अनुसार विश्व-सत्ता द्रव्यो मे पायी जाती है। पर द्रव्य एक नही, अनेक हैं। परन्तु प्रत्येक द्रव्य ऐसा है कि समस्त सत्ता इसमे अन्तर्भूत है। प्राय. स्पिनोजा के द्रव्य की उपमा समुद्र से दी जाती हैं, जिसमे ससार की समस्त वस्तुएँ लहरो के समान विलीन हो जाती हैं। तो हम कह सकते है कि लाइवनित्स के द्रव्य उन बूँदो के समान हैं, जिनमे सागर समाया हुआ है, "in the smallest particle of matter there is a world of creatures, living beings, animals, entelechies, souls." लाइवनित्स ने अपने द्रव्य को चेतन परमाणु (Monads) कहा है, जिनमे से प्रत्येक मोनड जड तथा चेतना के सभी गुणो से विभूषित है। अव डिमोक्रिटस ने बताया था कि विश्व अनेक जड परमाणुओ से वना है और प्लेटो ने बताया है कि परम (Ultimate) सत्ता प्रत्ययो (Ideas) की व्यवस्था है। चूँकि लाइबनित्स का द्रव्य मोनड दोनो गुणो को धारण करता है, इसलिए उन्होने मोनडवाद के आधार पर डिमोक्रिटस तथा प्लेटो के वीच समन्वय किया है।

मेल (Harmony) का सिद्धान्त—लाइवनित्स ने तारतम्य तथा व्यक्तित्व के सिद्धान्त से इस वात को स्पष्ट किया है कि व्यष्टि तथा विशिष्टता ही सत्य है और समष्टि, जिसमे व्यक्ति-विशेषो की अवहेलना हो, सत्य नही है। अत लाइवनित्स के अनुसार विश्व की रचना अनेक मोनडो से की जा सकती है, जो असख्य स्तरो के क्रम मे आवद्ध हैं और फिर प्रत्येक मोनड उसी प्रकार से अनन्त, शाश्वत, स्वाधीनता तथा सर्वगुणो से सम्पन्न है जिस प्रकार से स्पिनोजा का द्रव्य परम सत्ता है। अन्तर इतना ही है कि स्पिनोजीय दर्शन की सत्ता एक है और लाइबनित्स मे अनेक। यदि सत्ताएँ अनेक हो तो इनके बीच एकता कैसे स्थापित की जाय? अब दर्शन मे वस्तुओ के बीच एकता स्थापित करना अनिवार्य है। इसे स्थापित करने के लिए

लाइबनित्स ने पूर्वस्थापित (Pre-established) सामजस्य या मेल (Harmony) के सिद्धान्त का आश्रय लिया है।

हम अब इन मौलिक सिद्धान्तो की पुष्टि लाइबनित्स के दर्शन की विविध समस्याओ मे पायेंगे। पर, यहाँ हमे ध्यान रखना चाहिए कि लाइबनित्स भी अपने गणित से उसी प्रकार प्रभावित रहे जिस प्रकार देकार्त और स्पिनोजा प्रभावित रहे थे।

पदार्थ-विवेचन

स्पिनोजा ने पदार्थ-विवेचन के आधार पर दर्शन की आदर्श एकता प्राप्त की थी, जो लाइबनित्स को बहुत भायी थी। परन्तु यह शून्यात्मक एकता थी जिसमे ससार की वास्तविकता की अवहेलना की गई थी। अत, लाइबनित्स इस निष्कर्ष पर आये कि विश्व की व्याख्या पदार्थ (Substance) के आधार पर तो होनी चाहिए, पर इस पदार्थ-विवेचन मे विशिष्टता अथवा व्यक्ति-विशेषो का सरक्षण होना चाहिए। पदार्थ को आत्माश्रयी, शाश्वत, अनन्त तथा सर्वगुण-सम्पन्न रहना चाहिए, पर इसे अनेक मानना चाहिए ताकि व्यक्ति-विशेषो की व्याख्या हो सके। यह ठीक है कि देकार्त ने अद्वैत की जगह पर द्वैतवाद की मदद ली थी, 'पर उनके विचारो मे मन तथा शरीर, जड तथा चेतन के बीच सही सम्बन्ध का समाधान नही हो पाया था। फिर उन्होने विस्तार को पदार्थ माना था, पर विस्तार आत्माश्रयी नही हो सकता है, क्योकि यह असख्य अशो मे विभाज्य (Divisible) हो सकता है और पदार्थ को अविभाज्य तथा पूर्णतया आत्माश्रयी रहना चाहिए। अपितु, 'विस्तार से वस्तुओ की निष्क्रियता झलकती है, परन्तु वास्तविक वस्तुएँ अति गत्यात्मक (Dynamic) हैं और इसलिए निष्क्रिय विस्तार प्रत्यय के आधार पर क्रियाशील वास्तविकता की व्याख्या नही हो पाती है। यह ठीक है कि देकार्त ने गति की व्याख्या के लिए माना था कि ईश्वर ने प्रारम्भ मे विस्तार मे गति उत्पन्न कर दी, इसलिए भौतिक वस्तुएँ गतिशील हैं। पर यदि सभी वस्तुएँ गतिशील होती रहें तो इसके विश्राम (Rest or inertia) की व्याख्या फिर कैसे हो? अत हमे ऐसे पदार्थ के प्रत्यय से काम लेना चाहिए, जो गति और विश्राम दोनो की व्याख्या कर दे।

फिर पुराने समय मे डिमोक्रिटस ने अणु को पदार्थ माना था, जिसे अविभाज्य तथा शाश्वत पदार्थ कहा गया है। कई कारणो से अणुवाद लाइबनित्स को आकर्षक मालूम दिया, परन्तु निम्नलिखित बातो के कारण वे इसे स्वीकार न कर पाये।

(क) वास्तव मे अणु अविभाज्य नही हो सकता है, क्योकि इसे विस्तारयुक्त समझा जाता है और विस्तार विभाज्य हुआ करता है।

(ख) फिर अणु को वज्र के समान अछेद्य तथा अभेद्य समझा जाता है। परन्तु कठोरत्व (Hardness) को सापेक्ष प्रत्यय समझना चाहिए, क्योकि जो वस्तु एक दृष्टि से कठोर होगी वह अन्य दृष्टिकोण से मुलायम समझी जा सकती है।

(ग) पुन अणुओ मे गुण का भेद नही है और यदि उनमे भेद है तो केवल परिमाण (Quantity) का। अब यदि हम विश्व की व्याख्या अणुओ के आधार पर करें, तो इसकी सभी विविधता (Variety) को हमे परिमाण के आधार पर प्रमाणित करना होगा। पर सभी प्रकार के गुणो (Qualities) की व्याख्या हम परिमाण (Quantity) ही के आधार पर नही कर सकते है। अत, यदि हम अणु-सम पदार्थो की मदद लें, तो हमे इनमे गुण का भेद भी रखना होगा।

तो अब प्रश्न उठता है कि पदार्थ का क्या स्वरूप होना चाहिए, जिसके आधार पर विश्व की ऐसी व्याख्या हो सके, जिसमे स्पिनोजीय विचार तथा अणुवाद के दोनो उत्कर्ष (Advantages) हो, पर इनके अपकर्ष (Disadvantages) न हो। ऐसी दशा मे देकार्त के अनुसधान मे एक पते की वात दीखती है। उन्होने बताया था कि आत्म-ज्ञान ही सभी ज्ञानो की तुलना मे श्रेष्ठ है, क्योकि इसे हम साक्षात् रूप से अनुभव करते हैं। अतः पदार्थ को आत्मा-तुल्य होना चाहिए। इसलिए पदार्थ को आत्मा-तुल्य आध्यात्मिक (Spiritual) इकाई मानना चाहिए, क्योकि इसी प्रकार के प्रत्यय से पदार्थ की सक्रियता, अविभाज्यता तथा आत्माश्रयत्व सिद्ध हो सकता है। अत इस प्रकार ली आत्मा-तुल्य आध्यात्मिक इकाई (Unit) को लाइबनित्स ने मोनड (चेतन परमाणु) कहा, जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है।

मोनडवाद (Monadology)

लाइवनित्स के अनुसार असख्य मोनड या चिद्विन्दु है, और प्रत्येक मे वे ही गुण है, जो स्पिनोजीय द्रव्य मे वताये गये हैं। प्रत्येक शाश्वत और अपने मे पूर्ण हैं, क्योकि प्रत्येक मे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड निहित है और इसमे भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य की सभी घटनाएँ अन्तर्भूत हैं। इसलिए यह ऐसा अणु है, जिसमे विराट् विश्व है (a macrocosm in microcosm) चूँकि इसमे आदि अन्त सभी हैं, इसलिए इसे हम भूत-भारी और भविष्य-गर्भी कह सकते है, अर्थात् इसमे बीती हुई सभी दशाएँ सरक्षित हैं और भविष्य मे होनेवाली सभी बातें बीज-रूप मे मौजूद है। चूँकि प्रत्येक मोनड स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी सत्ता है, इसलिए किसी मोनड को दूसरे की आवश्यकता नही होती है, न एक-दूसरे पर निर्भर होता है और न उनमे किसी प्रकार का आदान-प्रदान सम्भव है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होने बताया है कि मोनड गवाक्षहीन (windowless) या विना खिडकी के हैं।

परन्तु प्रश्न उठया है कि यदि मोनड गवाक्षहीन हैं तो उनके बीच के परस्पर सम्बन्ध को हम कैसे व्यक्त कर सकते हैं, क्योकि वास्तविक चीजो मे पारस्परिक आदान-प्रदान देखने मे आता है, जिसे मोनडवाद को स्पष्ट करना चाहिए। लाइबनित्स के अनुसार प्रत्येक मोनड आत्माश्रयी तथा आत्मनिर्भर है और ऐसा न मानने से उसकी स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी सत्ता मे बट्टा लग जायगा, पर गवाक्षहीन रहने

पर भी इनमे से प्रत्येक मे दो समान लक्षण हैं, जिनके कारण हमें आभासित होता है कि उनमे साक्षात् सम्बन्ध हैं। प्रत्येक मोनड मे ईक्षण (Perception) और प्रयासन (Appetition) शक्तियां है और इन दो सामान्य लक्षणो के आधार पर विश्व की सभी वस्तुओ के आपसी सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा सकता है।

ईक्षण-शक्ति के कारण प्रत्येक मोनड सभी असख्य मोनड की दशाओ को प्रतिविम्बित (Reflects or mirrors) करता है, और प्रयासन-शक्ति के कारण प्रत्येक मोनड की अपनी दशाओ मे क्रमवद्ध विकास होता रहा है। चूंकि असख्य मोनड है और वे अविच्छिन्न शृंखला मे क्रमबद्ध हैं, इसलिए निम्नतम से उच्चतम के वीच मे सोपान-क्रम (Hierarchy) है, अर्थात् क्रमश निम्नतम के वाद निम्न, तव मध्यवर्गी और अन्त मे उच्चवर्गी मोनड शृंखलावद्ध है। यह शृंखला, तारतम्य अथवा अविच्छिन्नता (Continuity) के सिद्धान्त पर आधारित है। अव प्रत्येक मोनड मे ईक्षण तथा प्रयासन है, पर जो मोनड जितनी निम्नकोटि के हैं, उनमे ये उतने अस्पष्ट रूप मे पाये जाते हैं और जितने मोनड उच्चकोटि के है उनमे ईक्षण और प्रयासन सबल रूप मे देखे जाते हैं। अत निम्नकोटि के मोनडो मे ईक्षण धुंधला होता है और उनका प्रयासन आवेशमय (Impulsive) तथा उद्देश्यहीन (Blind) मालूम देता है। परन्तु उच्चकोटिक मोनडो का ईक्षण स्पष्ट होता है और उनका प्रयासन भी स्पष्ट इच्छा (Desire) के रूप मे दीखता है। परन्तु चूंकि अस्पष्ट तथा स्पष्ट ईक्षण केवल क्रमिक अवस्थाएँ है, इसलिए इन दोनो मे कोई प्राकारिक (Difference in kind) अन्तर नही है। अव अस्पष्ट ईक्षण को हम प्राय सवेदना (Sensation) और स्पष्ट ईक्षण को विचार (Thought) कहते हैं, इसलिए लाइवनित्स के अनुसार इनमे केवल आंशिक ही अन्तर (Difference of degree) है अर्थात् एक अधिक और दूसरा कम स्पष्ट है। इसी मतानुसार इन्होने अनुभववाद तथा वुद्धिवाद के वीच समन्वय किया है।

प्रयासन (Appetition)–शक्ति के कारण प्रत्येक मोनड मे क्रमवद्ध विकास होता रहता है, जिसके कारण यह गतिशील मालूम देता है और इसलिए वास्तविक गतिशील विश्व की, मोनड के आधार पर, गत्यात्मक व्याख्या की जाती है। पर ध्यान मे रखने की वात है कि प्रत्येक मोनड का अपना आत्मनिहित (Self-imposed) लक्ष्य है, जिस दिशा मे इसकी प्रयासन-प्रक्रिया होती जाती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि मोनड का आत्म-निहित लक्ष्य सम्पूर्ण विश्व अर्थात् सभी मोनड के विकास से मेल खाता हुआ वताया गया है। यह मत अरस्तू का भी था कि प्रत्येक वस्तु का अपना विशेष लक्ष्य है, जिससे उस वस्तु की सभी प्रक्रियाएँ संचालित होती हैं। इस मत को होर्मीवाद (Hormic theory) कहते हैं और लाइवनित्स का मोनडवाद होर्मी-वाद से प्रभावित दीखता है। चूंकि प्रत्येक मोनड-प्रक्रिया लक्ष्यवद्ध (Teleological)

तथा उद्देश्यपूर्ण होती हैं, अर्थात् किसी-न-किसी लक्ष्य-प्राप्ति के ही लिए होती हैं। इसलिए मोनड अपने सोपान-क्रम अथवा स्तर की दशा से इसे अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। पेड-पौधो की क्रियाओ मे भी लक्ष्य है, पर चूँकि वे निम्नकोटि के मोनड हैं, इसलिए उनकी प्रक्रियाएँ लक्ष्य-शून्य या यान्त्रिक तथा अचेतन मालूम देती हैं। पर यन्त्रवाद (Mechanism) छिछला मत है और उद्देश्य या प्रयोजनवाद (Teleology) ही सही सिद्धान्त है। उच्चकोटि के मोनडो मे लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान होता है। इसलिए उनकी प्रयासन-प्रक्रिया को इच्छात्मक क्रिया (Voluntrary action) कहा जाता है। परन्तु चूँकि पेड-पौधो के यन्त्रवत् और मानव के स्पष्टतया उद्देश्यपूर्ण व्यवहार एक ही सोपान के अन्तर्गत हैं, इसलिए इनके बीच भी केवल आंशिक ही अन्तर है।

हमलोगो ने देखा है कि मोनड अवर-उच्चतर के सोपान-क्रम मे शृंखलाबद्ध हैं। इनके बीच सोपानक्रमिक सम्बन्ध है और अदृश्य रीति से एक मोनड के बीच दूसरे मोनड का स्थान आता है। फिर भी हम मोनडो को तीन मुख्य वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी मे वे मोनड हैं, जिनके समूह को हम निर्जीव या जड वस्तु समझते हैं। परन्तु ये भी विकासात्मक हैं, यद्यपि हम इनमे विकास नही देख पाते हैं और न हम इनकी ईक्षण-प्रक्रिया ही समझ सकते हैं। इनकी प्रयासन-प्रक्रिया हमे उद्देश्यपूर्ण नही मालूम देती है और हम समझते हैं कि इनमे केवल यान्त्रिक (Mechanical) व्यापार पाया जाता है। इनमे भी चेतना है, पर यह इतनी कम है कि हम कह सकते है कि ये निद्रित अवस्था (Stupor or sleep) मे हैं। द्वितीय वर्ग मे वे मोनड हैं जिनमे चेतना और स्मृति पायी जाती है। इन्हे हम चेतन मोनड कह सकते हैं। इस श्रेणी मे पेड-पौधे तथा तथा पशु गिने जा सकते हैं। परन्तु उच्चतर वर्ग के मोनड को आत्मचेतन (Self-conscious) मोनड कहा जा सकता है। इस श्रेणी मे मानव गिने जा सकते हैं। इनमे इच्छात्मक उद्देश्य-पूर्ण व्यापार देखा जाता है और इनका ईक्षण स्पष्ट होकर विचार तथा अनिवार्य ज्ञान के रूप मे पाया जाता है। यहाँ पर लाइबनित्स का कहना है कि देकार्त के अनुसार केवल आत्म-चेतन को ही आत्मा (Spirit) माना गया है। यही कारण है कि देकार्त के अनुसार पशुओ तथा अन्य वस्तुओ को निर्जीव जड मान लिया गया है। पर ऐसा समझ लेने पर द्वैत सिद्धान्त चला आता है, जिसमे मन-शरीर, जड-चेतन इत्यादि के सम्बन्ध की समस्याओ पर पूरा प्रकाश नही पड पाया है। पर जड, चेतन तथा आत्म-चेतन के बीच केवल आंशिक अन्तर स्वीकार कर लेने से लाइबनित्स के अनुसार

---

* समसामयिक दार्शनिक वाइटहेड का कहना है कि परमाणु में भी जीवद्रव्य Organism) का गुण है और इन्हे जैविक नियमों (Organic laws) से, न कि यान्त्रिक रूप से स्पष्ट करना चाहिए।

जड-चेतन, मन-शरीर, यन्त्रवाद, उद्देश्यवाद इत्यादि के बीच समुचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

पूर्वस्थापित मेल या छन्द (Harmony)

हमलोगो ने देखा है कि स्पिनोजा ने अपने दर्शन मे एकत्व स्थापित किया है, पर यह एकत्व (Unity) ऐसा है कि इससे व्यक्ति-विशेषो का लोप हो गया है और इसे दर्शन का दोष समझना चाहिए। समुचित दार्शनिक विवेचन मे एकत्व और विशिष्टता (Particularity) दोनो की एक रूप से सरक्षा होनी चाहिए। अब लाइबनित्स विशिष्टता के पक्षपाती हैं और इनके अनुसार असख्य मोनड एक दूसरे से स्वतत्र सत्ताएँ हैं और ये गवाक्षहीन हैं। "Each spirit being like a world apart, sufficient to itself, independent of every other created thing, involving the infinite, expressing the universe, is as lasting, as continuous in its existence, and as absolute as the very universe of created beings" परन्तु इस अनेकवाद (Pluralism) मे तथ्यो के बीच पारस्परिक निर्भरता, मेल और सम्बद्धता (System या order) के सम्बन्ध मे प्रश्न उठते है। हम इसे मोनड के अनेकवाद के अनुसार कैसे स्पष्ट कर सकते है? लाइबनित्स स्वीकार कर लेते हैं कि मोनडो के बीच छन्द या सामजस्य है, पर यह छन्द उनकी आपसी लेन-देन पर नही, वरन् ईश्वर की रचना पर आधारित है। ईश्वर ने सभी मोनडो को इस प्रकार सोपान-क्रम मे व्यवस्थित किया है कि जैसे एक मोनड मे कुछ परिवर्त्तन होता है तो तदनुरूप अन्य मोनडो मे भी यथोचित परिवर्त्तन अपने आप होता रहता है। जो इस प्रकार की शाश्वत व्यवस्था को नही जानते हैं, उन्हें मालूम देगा कि इस प्रकार के परिवर्त्तन मे कारण-कार्य का सम्बन्ध है। परन्तु सभी मोनड एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं और उनमे कारण-कार्य का सम्बन्ध नही हो सकता है। वास्तव मे मोनडो मे सभी परिवर्त्तन आन्तरिक प्रयासन के कारण हुआ करते हैं। परन्तु ये परिवर्त्तन इस प्रकार से व्यवस्थित हैं कि बाह्य दृष्टिकोण से ये सम्बद्ध मालूम देते हैं। यथार्थ मे परिवर्त्तन सहचारी (Concomitant) हुआ करते हैं। हमारे शरीर के मोनड अपने उद्देश्य से ही सचालित होते है, और हमारे मन के मोनड भी अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए प्रेरित होते हैं। परन्तु ईश्वर के पूर्वस्थापित छन्द के द्वारा ऐसा मालूम देता है कि मन की इच्छा के अनुसार शरीर के हाथ-पैर व्यापार करते हैं[१]। इस पूर्वस्थापित छन्द को समझने के लिए लाइबनित्स ने

---

१ यहाँ लाइबनित्स के अनुसार घटनाओं में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। वर्त्तमानकालिक तर्कशास्त्र में भी अब यही समझा जाता है कि जिसे हम कारण-कार्य का सम्बन्ध कहते हैं वह वास्तव में दो घटनाओं के बीच समरूपी सहचारी (Unifor

एकतानवाद्य (Orchestra) के बजवैयो की उपमा दी है। इस एकतानवाद्य मे अनेक बाजा बजानेवाले रहते है। जब वे सगीत के लिए एकत्र होते है, तब प्रत्येक बजवैया अपने राग की पुस्तिका को खोलकर उसके अनुसार तान-आलाप मे मस्त हो जाता है। एक बजवैया दूसरे के क्रिया-कलाप पर ध्यान नही देता है। वह केवल अपनी पुस्तिका की रागिनी के अनुसार बाजे का स्वर निकालता जाता है। पर सभी बजवैयो की रागिनी मे एक छन्द रहता है, जिससे एकतानवाद्य से लोग मुग्ध हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक मोनड अपनी आन्तरिक प्रयासन-वृत्ति के अनुसार क्रियाशील होता है। परन्तु सभी मोनडो की क्रियाशीलता ईश्वर के चरम लक्ष्य से सचालित होती है। "The monads, no doubt, work independently of all other monads, according to their own inner urge, but their inner plan coincides with the realisation of the one master plan in the mind of the creator"

वास्तव मे देखा जाय तो लाइबनित्स का पूर्वस्थापित छन्द स्पिनोजा के समानान्तरवाद (Parallelism) का सामान्यीकरण-मात्र है। स्पिनोजा के अनुसार चेतन और विस्तार, अथवा मन और शरीर के बीच समानान्तरवाद का सम्बन्ध है; परन्तु लाइबनित्स के अनुसार मन-शरीर दोनो का अस्तित्व अनेक मोनडो के सोपान-क्रम मे आबद्ध होने के कारण है, और इसलिए मन-शरीर नही, वरन् समस्त मोनडो की कार्यवाही समानान्तर रीति से सचालित होती है। परन्तु लाइबनित्स के सिद्धान्त के अनुसार इस समानान्तरवाद को गतिशील समझा गया है, क्योकि मोनडो के बीच की कार्यवाही विकासात्मक तथा गत्यात्मक है।

अब पूर्वस्थापित छन्द का सिद्धान्त लाइबनित्स के दर्शन मे महत्त्वपूर्ण है; क्योकि इसी के आधार पर वे अनेक विरोधी मतो और वादो का समाधान करते हैं। परन्तु पूर्वस्थापित छन्द का सिद्धान्त कई आपत्तियो से घिरा है और लाइबनित्स का दर्शन इस सिद्धान्त पर टिके रहने के कारण कमजोर मालूम देता है।

(१) वास्तव मे देखा जाय तो पूर्वस्थापित छन्द का सिद्धान्त केवल एक धारणा (Assumption) है, जिसे कभी सिद्ध या असिद्ध नही किया जा सकता है और ऐसा सिद्धान्त, जिसके विषय मे कुछ भी निश्चित रूप से निश्चित नही किया जा सके उचित (Legitimate) सिद्धान्त नही कहा जा सकता। अब इस सिद्धान्त को इसलिए मनगढन्त कहा जा सकता है कि मोनड अपने से बाह्य गुण का अन्दाजा नही लगा सकता है। अत, दार्शनिक भी एक मोनड है और वह उस सम्बन्ध को नही जान सकता है, जो सम्पूर्ण मोनडो को बाह्य रूप से जकडे हुए है। अगर देखा

---

consomitant) सम्बन्ध है, जिसे गाणितिक नियमों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। लाइबनित्स का स्थान वर्त्तमानकालिक तर्कशास्त्र में विशेष समझा जाता है।

जाय तो मोनडवादी एकात्मसत्तावादी (Solipsist) ही हो सकता है, क्योकि वह उसी बात को जान सकता है, जो उसकी गवाक्षहीन दुनिया के अन्दर है। यह ठीक है कि लाइबनित्स ईक्षण-शक्ति को मानकर बताते है कि प्रत्येक मोनड समस्त ब्रह्माण्ड को प्रतिविम्बित करता है। पर, जो मोनड आत्मनिहित अनुभूति को ही जान सकता है वह किस प्रकार निर्धारित कर सकता है कि उसका ईक्षण अन्य मोनडो को प्रतिविम्बित करता है ? उसी समय हम कह सकते हैं कि हमारा ईक्षण अन्य मोनडो का प्रतिविम्ब है जब हम मोनडो को साक्षात् रूप से जानें और इस साक्षात् ज्ञान से प्रतिविम्बित ईक्षण का मिलान करें। परन्तु गवाक्षहीन मोनडो के लिए यह संभव नही है। अत वास्तव मे लाइबनित्स का मोनडवाद एकात्मसत्तावाद मे परिणत हो जाता है, जिसे दर्शन मे सतोषजनक नही समझा जायगा।

(२) फिर जिस छन्द का लाइबनित्स ने उल्लेख किया है, वह मोनडो के अपने स्वरूप मे नही सिद्ध होता है। यहाँ deus ex machina का व्यवहार किया गया है। यद्यपि छन्द मोनडो के बीच समझा जाता है, तथापि इसे इनपर ईश्वर के द्वारा आरोपित किया गया है। अत इस आरोपित छन्द को सही नही समझा जायगा।

(३) वास्तव मे हम आगे चलकर देखेंगे कि ईश्वर को मोनडवाद मे लाकर लाइबनित्स ने अपने दर्शन को असगत बना दिया है। यदि मोनड शाश्वत है तो न इन्हें और न इनके बीच के सम्बन्ध को रचा जा सकता है और इसलिए छन्द की भी रचना किसी से नही की जा सकती है। पर यदि ईश्वर ने मोनडो की रचना की है तो इन्हें आत्माश्रयी तथा अनादि मानना गलत है। हम इस सम्बन्ध के अन्य प्रश्न लाइबनित्स के ईश्वर चिन्तन के सम्बन्ध मे देखेंगे, पर अब हम इस बात पर ध्यान देंगे कि इस पूर्वस्थापित छन्द के आधार पर लाइबनित्स ने किस प्रकार से अनेक समस्याओ का समाधान किया है।

जड़ और चेतन

देकार्त ने जड और चेतन को दो स्वतन्त्र सत्ताएँ माना है, परन्तु उन्होने सतोषजनक रीति से इनके बीच के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश नही डाला है। लाइबनित्स अपने मोनडवाद के पूर्वस्थापित छन्द के आधार पर इस द्वैतवाद की समस्या का समाधान करना चाहते हैं।

लाइबनित्स के अनुसार सभी मोनड जीवित हैं और उनमे अनेक मात्राओ मे चेतना भी पायी जाती है। अत, यथार्थ मे लाइबनित्स के अनुसार जड (Matter) है ही नही। परन्तु अपनी सुविधा के अनुसार अति निम्नतम वर्ग के मोनड के समूह को हम जड समझ सकते हैं, क्योकि न तो हम उनकी प्रयासन-प्रक्रिया (Appetitive activity) का उद्देश्य ही समझ पाते हैं और न उनकी ईक्षण-शक्ति की चेतना आदि

सकते हैं। इस अर्थ मे मानव-शरीर भी निम्नकोटिक मोनडो का सग्रह है और तव इसकी भी क्रिया यान्त्रिक समझी जा सकती है। पर मानव-शरीर एक ऐसा यन्त्र है, जिसका प्रत्येक भाग स्वय सम्पूर्ण यन्त्र है, क्योकि प्रत्येक भाग स्वय मोनड है और प्रत्येक मोनड स्वय स्वतन्त्र, सर्वसत्तात्मक पदार्थ है।[1] तो शरीर के मोनड-समूह मे सबसे अधिक विकसित मोनड को आत्मा (soul) कहा जा सकता है। चूंकि उच्चतर मोनड का ईक्षण स्पष्ट होता है, इसलिए आत्मा, शरीर की कार्यवाही को स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित करती है अर्थात् जान लेती है। फिर चूंकि शरीर के अन्दर भी अन्य सभी मोनड की झलक मिलती हैं, इसलिए विश्व की सभी दशाओ की वह झलक जो शरीर मे प्रतिबिम्बित होती है, उसे भी आत्मा अच्छी तरह से जान लेती है। इसलिए हमारी आत्मा शरीर और शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली सभी घटनाओ का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करती है।[2] सरल शब्दो मे आत्मा शरीर-विषयक ज्ञान और शरीर के द्वारा वाह्य जगत् का इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त करती है। इसलिए मन और शरीर, जड और चेतन का सम्बन्ध आसानी से स्पष्ट हो जाता है।

फिर पूर्वस्थापित छन्द के अनुसार भगवान् ने ऐसी व्यवस्था की हैं कि निम्नतर मोनड की कार्यवाही उच्चतर मोनड की उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही से मेल खा जाय। इसलिए जब आत्मा या मन मे किसी उद्देश्य की इच्छा होती है तो पूर्व छद के अनुसार तदनुरूप हाथ-पैर वाले मोनडो मे गति होने लगती है। इससे आभासित होता है कि आत्मा की इच्छा से हाथ-पैर चल रहा है। परन्तु वास्तव मे इनमे एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नही हो सकता है। " . ,the laws by which the motions of the body follow each other are likewise so coincident with the thoughts of the soul as to give our *volitions* and *actions* the very same

---

१. मानव-निर्मित यन्त्र, जैसे घड़ी इत्यादि, में सम्पूर्ण वस्तु अपने पुर्जे पर निर्भर करती है। परन्तु कोई भी पुर्जा सम्पूर्ण वस्तु नहीं समझा जायगा। अत. लाइबनित्स वतलाना चाहते हैं कि शरीर ऐसा यन्त्र है, जिसमें प्रत्येक अंश सम्पूर्ण शरीर पर निर्भर करता है और शरीर अपने अंगों पर निर्भर करता है। इस मत को organicism (अंगिवाद) कहा जा सकता है, जो हेगेल और वाइटहेड के दर्शन में विशेष दीखता है।

२ इस मत को आगे चलकर वर्गसों ने इस प्रकार अपनाया है: "Here is a system of images which I term my perception of the universe, and which may be entirely altered by a very slight change in a certain privileged image—*my body* This image occupies the centre, by it all the others are conditioned, at each of its movements everything changes, as though by a turn of a kaleidos-cope" (Matter and Memory p. 12, English Translation)

appearance as if the latter were really the natural and the necessary consequence of the former " अत, लाइबनित्स क्रिया-प्रतिक्रियावाद या अन्योन्यक्रियावाद (Interactionism) को, जिसे देकार्त ने माना था, स्वीकार नही करते हैं। अपने मत को स्पष्ट करने के लिए मन-शरीर को दो घडियां मानकर उनके पारस्परिक सम्बन्ध को इन्होने इस प्रकार बताया है .

१. सयोगवादियो (occasionalist) के अनुसार, जो देकार्तीय मत के अनुयायी थे, मन और शरीर मे किसी प्रकार का अन्योन्यक्रियावाद नही है। परन्तु जैसे ही मन मे इच्छा होती है, वैसे ही ईश्वर शरीर मे तदनुरूप परिवर्त्तन ला देता है। अत, यदि मन और शरीर दो घडियां हो, तो सयोगवादियो के अनुसार जैसे ही एक घडी मे ग्यारह बजता है, वैसे ही ईश्वर दूसरी घडी मे ग्यारह बजा देता है। परन्तु लाइबनित्स के अनुसार ईश्वर ऐसा पटु (Expert) रचयिता है कि बार-बार घडियो को मिलाने की उसे आवश्यकता होती ही नही।

२. इसलिए बार-बार की आश्चर्यजनक ईश्वरीय लीला (Perpetual miracle) के स्थान पर हमे समझना चाहिए कि ईश्वर ने दोनो घडियो को ऐसी उत्तम रीति से रचा है कि वे बराबर एक-दूसरे से मिली रहती है। अत, लाइबनित्स बार-बार के ईश्वरीय हस्तक्षेप की जगह पर एक बार मे ही सम्पादित लीला को ईश्वरीय रचना के योग्य समझते हैं।

३. घडियों की उपमा को ध्यान मे रखते हुए हम कह सकते हैं कि स्पिनोजा के अनुसार वास्तव मे मन तथा शरीर दो डायल (Dials) हैं, परन्तु उनका एक ही पुर्जा है। चूंकि कल-पुर्जा एक ही है, इसलिए दोनो डायलो मे एक ही समय मालूम देगा।

मन और शरीर से मिलता हुआ प्रश्न उद्देश्यवाद (Teleology) और यत्रवाद (Mechanism) का है, जिसका समाधान, लाइबनित्स ने निम्नलिखित रूप से किया है।

यन्त्रवाद और उद्देश्यवाद

यान्त्रिक सम्बन्ध देश, काल तथा क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है। जैसे पहले (काल-सम्वन्ध) हम घडी की चाभी (देश-सम्बन्ध) घुमाते हैं तब (काल-सम्बन्ध) घडी चलती है। यहां चाभी, स्प्रिग इत्यादि घड़ियो के पुर्जों मे क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्वन्ध है। अब यान्त्रिक व्यापार मे उपर्युक्त लक्षणो के रहने से, लाइबनित्स को इसे अस्वीकार करना पडा। पहली बात यह है कि मोनड गवाक्षहीन हैं और उनमे क्रिया-प्रतिक्रिया नही हो सकती है। फिर लाइबनित्स के अनुसार देश-काल की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। इसके अनुसार मोनडो के बीच के बाह्य सम्वन्ध के अग-

ग्रहण (abstraction) या अमूर्त्त-बोधन के आधार पर इनकी रचना की गयी है।[1] अब यदि देश, काल और क्रिया-प्रतिक्रिया असत्य हो तो इनपर आधारित यन्त्रवाद भी असत्य ठहरेगा। यद्यपि यन्त्रवाद वास्तव मे असत्य है, तो भी अपनी सुविधा के अनुसार लाइबनित्स उस व्यापार को यान्त्रिक कहते हैं, जिसे वस्तुओ के परिमाण, आकार तथा गति (Motion) के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। इस अर्थ मे लाइबनित्स का मत था कि देकार्त और न्यूटन के यन्त्रवाद को अधिक-से-अधिक स्थलो पर काम मे लाया जाय। उनके इस मत के कई कारण थे। पहली बात है कि निम्नकोटिक मोनडो की चेतना और उनकी प्रयासन-प्रक्रिया का उद्देश्य इतना क्षीण मालूम देता है कि उनकी क्रियाओ को यान्त्रिक समझा जा सकता है। फिर उच्चतर मोनडो की क्रियाएँ भी ऐसी हैं कि वे पूर्ववर्त्ती क्रियाओ का फल या परिणाम समझी जा सकती है और यान्त्रिक क्रिया मे भी पूर्ववर्त्ती के आधार पर बाद मे होनेवाली घटनाओ की व्याख्या की जाती है। अत, उच्चतर मोनडो की क्रियाओ को इस अर्थ मे यान्त्रिक समझा जा सकता है। अपितु, पूर्वस्थापित छन्द के अनुसार मोनडो की कार्यवाही ऐसी व्यवस्थित की गयी है कि एक मोनड के परिवर्त्तन से अन्य मोनडो के परिवर्त्तन मे मेल खा जाता है और इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व परिवर्तन उसके बाद के परिवर्त्तन का कारण है। अत, यन्त्रवाद कुछ दूर तक मान्य है।

यदि यन्त्रवाद को हम कुछ दूर तक मान्य भी स्वीकार कर लें तो इसे सत्य नही समझा जायगा। यथार्थ मे यन्त्रवाद उद्देश्यवाद के अन्तर्गत है, क्योकि निम्नतम मोनड मे भी कुछ चेतना अवश्य है और वह अपनी आन्तरिक उद्देश्यपूर्त्ति से ही प्रेरित होता है। फिर सभी मोनडो की कार्यवाही का कोई अन्तिम (ultimate) उद्देश्य है, जिसे ईश्वर पूर्वस्थापित छन्द के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं। अत, सभी मोनडो की कार्यवाही अन्तत उद्देश्यपूर्ण ही है।

लाइबनित्स के अनुसार उद्देश्यवाद का अर्थ यही है कि क्रिया का कोई उद्देश्य हो, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात। इस उद्देश्यपूर्णता को समसामयिक दार्शनिक बर्ग्सो सत्य नही समझते हैं। उनके अनुसार यदि उद्देश्य पहले से निर्धारित हो, तो इसे आन्तरिक यन्त्रवाद कहा जायगा। वास्तविक उद्देश्यवाद वह है, जिसमे नित्य-नवीन उद्देश्यो को गढकर उसकी पूर्त्ति की जाय। चूँकि लाइबनित्स के अनुसार सभी मोनडो के छन्द का पूर्वस्थापित उद्देश्य ईश्वर के मन मे है, इसलिए बर्ग्सो के मतानुसार लाइबनित्स के सिद्धान्त को शुद्ध उद्देश्यवाद नही, वरन् यन्त्रवाद ही कहा जायगा।

ज्ञान-मीमासा (Epistemology)

शायद लाइबनित्स की देन दार्शनिक विचारधारा मे ज्ञान-मीमासा के सम्बन्ध

1 देश-काल के प्रति लाइबनित्स के मत की आलोचना काण्ट ने की है, जिसका उल्लेख

मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझी जायगी; क्योकि इसमे काण्ट और समसामयिक तार्किक प्रत्यक्षवाद की बहुत बातो का पूर्वाभास देखने मे आता है। अब लाइबनित्स की ज्ञान-मीमासा को स्पष्ट करने के लिए देकार्त और लॉक के मत का भी यहाँ सकेत करना अनिवार्य है।

देकार्त के मत के अनुसार हमारे प्रत्ययो (Ideas) में कुछ आत्मजात (Innate) हैं। ये आत्मजात प्रत्यय स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो सकते हैं और जब ये स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते हैं तब सत्य ज्ञान हमे प्राप्त होता है। ठीक इसके विपक्ष मे लॉक का मत है। लॉक के अनुसार कोई भी प्रत्यय आत्मजात नही है और वे सब-के-सब जन्म के बाद अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। अत ज्ञान अनुभव तक ही सीमित रहता है। अनुभव केवल हमे यही बता सकता है कि घटनाएँ अमुक रीति से होती आयी हैं, और अनुभव के आधार पर नही कहा जा सकता है कि घटनाएँ अवश्यमेव इसी रीति से होती जायेंगी। उदाहरणार्थ अनुभव के आधार पर हम नही कह सकते हैं कि सभी मनुष्य अवश्य ही मरणशील हैं, क्योकि कम-से-कम हम सोच सकते हैं कि मनुष्य अमर हो सकते है। अतः, युक्तिसगत रूप मे अनुभव पर आधारित ज्ञान आपातिक (Contingent) † ही हो सकता है। परन्तु देकार्त के बुद्धिवाद के अनुसार सत्य-ज्ञान अनिवार्य होता है।

फिर लॉक के अनुसार सभी प्रत्यय अनुभव से ही प्राप्त होते हैं, क्योकि आत्मजात या सहजात प्रत्यय नही हो सकते है। आत्मजात प्रत्यय की आलोचना मे लॉक ने बताया है कि बच्चे, मूर्ख, अज्ञ इत्यादि मे आत्मजात ज्ञान नही पाया जाता है। और यदि कहा जाय कि शिशु, मूर्ख और अज्ञ मे आत्मजात प्रत्यय हैं, परन्तु वे इनसे अनभिज्ञ है, तो लॉक का कहना है कि प्रत्यय मन मे हो और फिर भी व्यक्ति उनसे अनभिज्ञ हो, यह व्याघातक (Contradictory) या असगत बात है। लॉक के अनुसार मन केवल चेतनमय ही हो सकता है।

अन्त मे लॉक ने बताया है कि ज्ञान उतनी ही दूर तक हो सकता है जितनी दूर इन्द्रिय-ज्ञान सम्भव हो सकता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है: "There is nothing in the intellect which was not previously given in the senses"

लाइबनित्स ने देकार्त और लॉक के बीच ऐसे मध्यमार्ग का अनुसरण किया है कि उनकी समस्याओ का समाधान हो जाय। चूँकि लाइबनित्स के बाद काण्ट ने इसी समीक्षावाद (criticism) को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है, इसलिए लाइबनित्सी

यथोचित प्रसग में किया जायगा।

† आपातिक ज्ञान वह है जिसका विपक्ष सोचा जा सकता है। जैसे, हम अपनी आँखों से देख रहे ह कि यह मेज भूरी है। यह आपातिक ज्ञान है, क्योंकि हम सोच सकते हैं कि मेज काली या सफेद हो सकती है, इसकी व्याख्या कुछ पृष्ठों के बाद विस्तारपूर्वक की जायगी।

मत को काण्ट के समीक्षावाद का पूर्वाभास कहा जा सकता है। देकार्त और लॉक के मत को समन्वित करने के लिए लाइबनित्स ने सूझ रखी है कि न यह कहना ठीक है कि कुछ ही प्रत्यय आत्मजात है और न यह मानना ठीक है कि कोई भी प्रत्यय सहजात नही है। वास्तव मे सभी प्रत्यय सहजात हैं; क्योकि सभी प्रत्यय गवाक्षहीन चिद्‌विन्दु या मोनड के अन्दर है और कोई भी प्रत्यय वाहर से अन्दर नही आ सकता है। परन्तु यद्यपि सभी प्रत्यय सहजात हैं तो भी वे सब एक ही अवस्था मे नही रहते हैं। इन प्रत्ययो की स्पष्टता मे प्रयासन (Appetition) के कारण विकास होता रहता है। प्रारम्भ मे सभी प्रत्यय अनिश्चित तथा धुधले रहते है और अनुभव-वृद्धि के साथ धीरे-धीरे कुछ प्रत्यय अन्त मे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते है। अनिश्चित तथा धुँधले प्रत्यय को इन्द्रिय-ज्ञान या सवेदना कहते है और परिस्पष्ट तथा स्पष्ट प्रत्यय को विचार कह सकते है। अतः, हम कह सकते हैं कि ज्ञान सवेदनाओ से प्रारम्भ होता है और स्पष्ट विचारो मे चरम सीमा को प्राप्त करता है (Knowledge begins with senses and ends in reason)। देकार्त की गलती यह थी कि वे स्पष्ट प्रत्ययो को ही ज्ञान के अन्तर्गत गिनते थे और लॉक की गलती यह थी कि वे सवेदनाओ के ही आधार पर ज्ञान की ईमारत खडी करना चाहते थे। ज्ञान के अन्तर्गत दोनो रहते हैं। दोनो की गलती है कि वे सवेदनाओ और परिस्पष्ट प्रत्ययो के वीच अनेक अति क्षीण तथा निर्विकल्पक (Indistinct) प्रत्ययो को, जिन्हें अति क्षुद्रतर सवेदना (Petites perception) कहते है[1], तिरस्कृत कर देते हैं। सत्य ज्ञान परिस्पष्ट प्रत्ययो से वनता है, परन्तु इसकी वुनियाद सवेदनाओ मे ही देखी जाती है।

इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि देकार्त के अनुसार ज्ञान अनिवार्य (necessary) होता है और लॉक सगत रूप[2] से केवल आपातिक ज्ञान को ही स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु वास्तव मे हमे समझना चाहिए कि प्रारम्भ मे ज्ञान आकस्मिक अथवा आपातिक होता है और अनुभव-वृद्धि के साथ यह अनिवार्य हो जाता है।

लाइबनित्स के मतानुसार देकार्त और लॉक दोनो की ज्ञान-मीमासा इसीलिए सकुचित हो जाती है कि दोनो 'मन' को केवल चेतन मानते हैं। परन्तु ऐसा समझना सर्वथा गलत है। यदि मन के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए चेतन का रहना अनिवार्य माना जाय तो हमे कहना पडेगा कि निद्रावस्था, वेहोशी इत्यादि मे मन का

---

1 Petites perception अति क्षीण तथा दुर्वल सवेदना को कहते हैं। जैसे समुद्र की लहरों की आवाज अनेकों क्षीण तथा दुर्वल लहरियों के समूह से उत्पन्न होती हुई कही जाती है।

2. वास्तव में लॉक ने असगत रूप से माना था कि ज्ञान अनुभव के आधार पर अनिवार्य हो सकता है।

लोप हो जाता है, क्योकि इन दशाओ मे चेतना नही पायी जाती है। परन्तु सोकर उठने के बाद भी हमें मालूम देता है कि हमारे मन की अवस्थाओं मे तारतम्य (Continuity) है। अत, निद्रावस्था तथा बेहोशी मे भी चेतना रहती है, परन्तु इसकी मात्रा कम हो जाती है। इसलिए हमे स्वीकार करना चाहिए कि मन अर्ध-चेतन तथा चेतन (Unconscious) रूप मे भी रहता है। यदि यह बात सत्य हो तो लॉक का कहना है कि 'मन मे प्रत्यय रहे और फिर इससे कोई अनभिज्ञ रहे, असगत है,' ठीक नही है, क्योकि प्रत्यय अचेतन रूप मे भी रह सकता है। अत., सहजात प्रत्ययो के खण्डन के सम्बन्ध मे लॉक की दी हुई युक्ति अमान्य ठहरती है।

फिर लॉक ने अनुभववाद के प्रसग मे कहा है कि there is nothing in the intellect which was not previously 'given in the senses। कुछ दूर तक लाइबनित्स भी इस बात को स्वीकार करते हैं, क्योकि उनके अनुसार सभी ज्ञान सवेदनाओ से प्रारम्भ होते है। परन्तु सवेदनाएँ बाह्य जगत् से मोनड के अन्दर नही आती हैं। सब मोनड के अन्दर ही पैदा होती है और इसलिए यदि हम मान भी लें कि ज्ञान सवेदनाओ से प्रारम्भ होता है तोभी लाइबनित्स, सहजात प्रत्ययो के मत का खण्डन नही होता है। फिर लाइबनित्स ने लॉक की इस युक्ति मे एक महत्त्वपूर्ण सशोधन जोड दिया है। nisi ipse intellectus अर्थात् बुद्धि स्वयं किसी सवेदना से उत्पन्न नही होती है। लाइबनित्स के इस सशोधन का अभिप्राय है कि सवेदनाओ से सभी ज्ञान प्रारम्भ हो सकते हैं, परन्तु सवेदन अर्थात् सवेदन-शक्ति स्वय जन्मजात है और यह शक्ति स्वय सवेदनाओ की देन नही है। यदि सवेदनाओ को ग्रहण करने की क्षमता प्रागनुभव न होती तो सवेदनाएँ भी सम्भव नही हो सकती। अत, अनुभव की सम्भावना-मात्र के लिए प्रागनुभव (a priori) बुद्धि का होना अनिवार्य है। अब आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी सिलसिले मे काण्ट ने लाइबनित्स के इस मत को विस्तारपूर्वक समझाया है और इसीसे लाइबनित्सी मत को काण्टीय ज्ञान-मीमासा का पूर्वाभास कहा जाता है।

ज्ञान मे दो प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य (Proposition) पाये जाते हैं। एक को हम अनिवार्य (Necessary) और दूसरे को आपातिक अथवा संयोगात्मक (Accidental) वाक्य कहते हैं। अनिवार्य सत्यता वह है जिसमे तार्किक तथा गणितिक (Mathematical) अनिवार्यता तथा बाध्यता हो, अर्थात् ऐसी सत्यता हो जिसका विपक्ष हम सोच भी नही सकें। इस प्रकार की सत्यता ज्यामितिक युक्तियो मे देखी जाती है। यदि हम २, 'और', ४ तथा 'योगफल' का अर्थ समझते हो, तो हमे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि २ + २ = ४। इस प्रकार की सत्यता आत्मसिद्ध और आत्मसगत (self-consistent) होती है जो अन्त मे अव्याघात (Non Contradiction) नियम पर आधारित होती है। इस प्रकार की सत्यता जटिल वाक्यो मे भी देखी जा

सकती है, पर अन्त मे ऐसे वाक्यो के करने मे सरल तादात्म्यीय (Identical) वाक्य हमे स्पष्ट मिल जाते हैं। फिर लाइबनित्स का मत था कि अनिवार्य सत्यता वह है, जो किसी भी उद्देश्य से रहित हो। इसी अर्थ मे स्पिनोजीय सत्यता को, लाइबनित्स ने अनिवार्य सत्यता कहा है, क्योकि स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर मे इच्छा है ही नही, और इसलिए उसमे किसी प्रकार का उद्देश्य नही है[1]।

अनिवार्य सत्यता के अतिरिक्त सयोगी या आपातिक सत्यता वह है जो नैतिक (Moral) तथा वास्तविक स्थितियो मे सचालित हो। इन दोनो सत्यताओ के बीच अन्तर करते हुए लाइबनित्स ने 'Theodicee' मे इस प्रकार लिखा है "It would be impossible to choose a more suitable method to show the difference there is between the moral necessity which rules the choice of the wise and the brute necessity of Strato and Spinozists, who allow God neither understanding nor will than to consider the difference between the reason for the laws of motion and reason for the ternary member of dimensions the former consisting in the choice of what is best, and the latter in a geometrical and blind nacessity' अत प्रकृति के नियम सयोगात्मक हैं, क्योकि ईश्वर ने इसे सर्वश्रेष्ठ बनाने के उद्देश्य से ही इन्हें रचा है। यदि ईश्वर के अन्दर दूसरा उद्देश्य होता तो वे इन नियमो को बदलकर अन्य नियमो की स्थापना करते। इसलिए सयोगात्मक सत्य वह है, जिसके विपक्ष की कल्पना हम कर सकते हैं। इस अर्थ मे वास्तविक जगत् के सम्बन्ध की सभी बातो को हम सयोगात्मक सत्य ही कह सकते है। निस्सन्देह वह मेज जिसपर हम लिख रहे हैं, काली है। पर हम सोच सकते हैं कि वह मेज काली न होकर भूरी या हरी हो। अब जिस रीति से अनिवार्य सत्य अव्याघात के नियम पर आधारित है, उसी प्रकार सयोगात्मक सत्य पर्याप्तता (Sufficiency) या पर्याप्त हेतु (Sufficient reason) पर आधारित है। इस विषय मे लाइबनित्स ने *'Mondology'* मे लिखा है कि sufficient reason is that by which we believe that no fact can be true or real no statements trustworthy, unless there is sufficient reason why it should be so and not otherwise although in the greater number of cases we cannot know these reasons " यह ठीक है कि कुछ दूर तक हम कह सकते हैं कि क्यो यह मेज काली है और क्यो यह कमरे के पूरब मे रखी है, इत्यादि। यह सब हेतु मेज के रखनेवाले की इच्छाओ पर तथा कमरे की स्थिति पर, तथा धूप-पानी के विचार इत्यादि पर निर्भर करता है। अत सभी वस्तुओ की

1, देखें Joseph, H W B · 'Lecture on the philosophy of Leibnitz, pp. 89-92, फिर देख Russell, B . 'A critical exposition of the philosophy of Leibniz', P 34 (1951)

सयोगी सत्यता को दिखाने के लिए हम प्रकृति-विधान तथा वास्तविकता की बात के आधार पर अपने हेतु (Reason) को रख सकते है, तोभी हमारे हेतु कभी भी इतने सम्पूर्ण नही हो सकते है कि हम सिद्ध कर लें कि यह मेज काली छोडकर हरी या भूरी हो ही नही सकती थी। अत, लाइबनित्स ने *Monadology* मे बताया है कि अनिवार्य सत्यता बौद्धिक है और इसे स्पष्ट करने के लिए या इसके हेतु को दिखाने के लिए हमे विश्लेषण (Analysis) की आवश्यकता पडती है। परन्तु वास्तविक वस्तुओ या घटनाओ के हेतु पर्याप्त हेतु पर ही निर्भर करते है। इसका विपक्ष सोचा जा सकता है और इसलिए वास्तविक घटनाएँ कभी भी अनिवार्य रीति से सत्य नही हो सकती है।

सत्यता को necessary और contingent, दो भागो मे बाँट देने से तार्किक प्रत्यक्षवादियो के कथन की पुष्टि होती है और अनिवार्य वाक्य की अनिवार्य सत्यता उसके परिभाषित शब्द-विश्लेषण पर निर्भर करती है। परन्तु वास्तविक घटनाओ की सत्यता आनुभविक (empirical) वाक्यो द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है और इस प्रकार की सत्यता केवल आपातिक ही हो सकती है।

ज्ञान के सम्बन्ध मे लाइबनित्स ने सम्भाव्य (Possible) और पूर्ण सम्भाव्य (Compossible) का भेद बताया है। वह जो आत्म-व्याघात से रहित हो, सम्भाव्य है। जैसे 'सोने का पहाड' सम्भाव्य है। परन्तु वास्तविक घटनाएँ पूर्ण सम्भाव्य हैं; क्योकि वे यथार्थ घटनाओ से सम्बद्ध रहती है। अब पेड-पौधे, कुर्सी-मेज इत्यादि पूर्ण सम्भाव्य हैं, क्योकि ये वास्तविक घटनाओ से मेल खाकर यथार्थ होती हैं। अत, किसी घटना की पूर्णसम्भाव्यता (Compossibility) यथार्थ वास्तविक विधान पर निर्भर करती है और यही यथार्थ वास्तविक विधान किसी घटना का पर्याप्त हेतु होता है।

यह ठीक है कि कोई भी मानव वास्तविक घटनाओ की व्याख्या पूरी नही कर सकता है, क्योकि वह उन सभी कारणो को नही बता सकता है, जिनकी वजह से यह मेज किसी अमुक रग की या जगह पर है। सभी यथार्थ घटनाएँ मानव के लिए सयोगी ही मालूम देती हैं। पर क्या यही बात ईश्वर के लिए भी लागू है? लाइबनित्स के अनुसार ईश्वर ने मोनडो की रचना की है और प्रत्येक मोनड मे विराट् ब्रह्माण्ड छिपा है और उसकी सभी भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य की घटनाएँ प्रत्येक मोनड मे सन्निहित हैं। इसलिए ईश्वर जो मोनड या चिदबिन्दु की सम्पूर्ण सम्भावना को जानता है, वह जानता है कि उसके अन्दर सभी घटनाएँ उसके स्वरूप से अनिवार्य रीति से सम्पादित होती जाती हैं और इस प्रसग मे लाइबनित्स ने यो लिखा है —"From the moment when my existence began it could be said of me (i. e truly) that this or that would happen to me, we must grant that these attri-

were involved in my nature in its completeness, which is the basis of the connexion of all my varying inner states and which God has known perfectly from all eternity" अब यदि प्रत्येक मोनड की प्रतिक्रियाएँ उसके निहित स्वरूप से सम्पादित होती है और ईश्वर उन्हें पूर्णतया जानता है, तो कम-से-कम ईश्वर के लिए कोई भी घटना सयोगी (Contingent) न हुई और इसलिए ईश्वर के लिए contingent और necessary का भेद नही होना चाहिए।

परन्तु लाइबनित्स इस मत का समर्थन नही करते हैं। उनके लिए contingent और necessary का भेद प्राकारिक है और यह भेद ईश्वर के लिए भी रह जाता है। लाइबनित्स स्वीकार करते है कि मोनडो की सारी कार्यवाही उनके स्वरूप से सम्पादित होती है और ईश्वर उसे पूर्णतया जानते हैं। परन्तु मोनडो की सम्पूर्ण सम्भावना ईश्वर की इच्छा के अन्तर्गत है। चूँकि ईश्वर मोनडो द्वारा अपने परम उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते है, इसलिए उन्होने उस उद्देश्य के उपयुक्त मोनडों का स्वरूप बनाया है। अत', मोनडो का स्वरूप ही ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहने के कारण सयोगी या आपातिक है। अत , प्रकृति और सभी वस्तुओ की घटनाएँ मोनडो के स्वरूप पर निर्भर करती हैं और मोनडो का स्वरूप ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है, जिससे इस विश्व का कल्याण हो। इस सम्बन्ध मे लाइबनित्स ने Theodicee मे लिखा है "This fitness too has its rules and reasons, but it is the free choice of God, and not a Geometrical necessity, which makes him perfer what is fit, and bring it into being Thus we may say that *physical necessity* is based on *moral necessity*, i e , on the choice of the wise, which is worthy of his wisdom, and that they ought both to be distinguished from *geometrical necessity* "

अत , लाइबनित्स द्वारा contingent और necessary का भेद, समसामयिक तार्किक प्रत्यक्षवादियो के कथन की पुष्टि करता है।

लाइबनित्स की ज्ञान-मीमांसा की समालोचना —लाइबनित्स की ज्ञान-मीमासा अपने समय से बहुत आगे थी। इस परम्परा मे पलकर काण्ट ने अपनी गम्भीर देन दर्शन को दी है। इसमे समसामयिक गाणतिक न्याय (Mathematical logic) का पूर्वाभास प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। परन्तु फिर भी हम नही कह सकते हैं कि लाइबनित्सी ज्ञान-मीमासा पूर्ण है। उन्होंने देकार्त और लॉक की ओर उँगली उठाई है और उनके अधूरेपन को स्पष्ट कर दिया है, पर स्वय उन्होने ज्ञान-मीमासा को पूरा नही किया है। लॉक का समाधान निस्सन्देह छिछला है, पर उनकी समस्या गहरी है। लाइबनित्स ने लॉक के छिछलेपन को स्पष्ट कर दिया है। पर समस्या की गहराई का समाधान नही किया है। यदि हम मान ले कि सवेदनाओ से

धीरे-धीरे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट ज्ञान होता है, तो हमारी समस्या है कि किस प्रकार से यह विकसित होता है। जबतक हम उन सब पगो और सीढियो को न जान लें जिनसे अनिश्चित सवेदनाओ से असन्दिग्ध-ज्ञान होता है, तबतक ज्ञान-मीमासा के प्रश्न हल नही होते है और यह काम लाइबनित्स ने नही किया है।

फिर यदि हम लाइबनित्स के मोनड की ईक्षण-शक्ति पर, जिससे ज्ञान प्रारम्भ होता है, ध्यान दें तो इसके आधार पर ज्ञान सापेक्ष (Relative) ही हो सकता है। 'क' मोनड 'ख' को प्रतिबिम्बित करता, पर 'ख' स्वय 'ग' को प्रतिबिम्बित करता, और 'ग' अपनी बारी मे 'घ' के ईक्षण को प्रतिबिम्बित करता है। अत किसी भी मोनड के किसी भी ईक्षण को निरपेक्ष (Absolute) नही कहा जा सकता। अत. लाइबनित्सी समाधान सापेक्षता के गहरे पक मे धस जाता है, जहाँ से भाग निकलना दुस्तर है।

अपितु, लाइबनित्स देश-काल तथा मोनडो के बीच के सम्बन्ध को अवास्तविक मानते हैं, क्योकि वास्तविकता मोनड और उनकी समाविष्ट स्थितियो की हो सकती और देश, काल इत्यादि मोनडो की बाह्य स्थितियाँ ही बतायी गई है। ऐसी अवस्था मे ईक्षण क्या प्रतिबिम्बित करता है ? क्या एक मोनड अन्य मोनडो के ईक्षण को ही प्रतिबिम्बत करता है ? परन्तु ईक्षण केवल प्रतिम्बित है और अनेक प्रतिबिम्ब मिलकर कोई सत्ता नही बना सकते हैं। "Even an infinity of little mirrors with nothing but each other to reflect must at once collapse into absolute vacuity" यहाँ हम प्लेटो के गह्वर मे रहकर छाया को ही सत्य मान सकते है। अत. लाइबनित्स की ज्ञान-मीमासा मे वास्तविकता की अवहेलना की गई है।

फिर यहाँ लिखने की आवश्यकता नही है कि ईक्षण के आत्मनिष्ठ (subjective) रहने के कारण लाइबनित्स की ज्ञान-मीमासा एकात्मसत्तावाद (solipsism) मे परिणत हो जाती है।

ईश्वर-सम्बन्धी विचार

लाइबनित्स, देकार्त तथा स्पिनोजा की परम्परा से प्रभावित हुए थे और इसी परम्परा के अनुसार उन्होने अपने दर्शन को ईश्वर-केन्द्रित किया है। परन्तु ईश्वर-विचार के सम्बन्ध मे आप प्लेटो और अरस्तू के मत से भी प्रभावित हुए थे। प्लेटो के शुभ सम्बन्धी प्रत्यय (The idea of good) से आपका ईश्वर-प्रत्यय बहुत मिलता-जुलता है। फिर ईश्वर की शुद्ध वास्तविकता (actus purus) का विचार अरस्तू के विचार से बहुत मेल खाता है।

अब यह निश्चित है कि लाइबनित्स ईश्वरवादी (Theist) थे, परन्तु मोनडवाद और ईश्वरवाद दोनो मे पूरी सगति नही दिखाई देती है। कभी तो ईश्वर को मोनडो का रचयिता माना जाता है, तो कभी ईश्वर को मोनडो के छन्द (Harmony) का

अन्तिम उच्चतम शिखर कहा जाता है, और कभी मोनडो के छन्द को ही ईश्वर मान लिया गया है। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, यदि ईश्वर मोनडो का रचयिता हो तो मोनडो को अनादि तथा शाश्वत नही कहा जा सकता है, और यदि मोनड शाश्वत हो तो ईश्वर को उनका रचयिता नही कहा जा सकता है। अब यदि ईश्वर पूर्वस्थापित छन्द की अन्तिम लडी हो तो सभी मोनड इसी ईश्वर-मोनड से उसी प्रकार निसृत (Emanated) होते हैं जिस रीति से सुगन्ध फूल से निकलती है, अथवा सभी मोनड इसी पूर्ण मोनड की नकल तथा प्रतिच्छाया कहे जा सकते हैं। परन्तु इस हालत मे ईश्वर ही एकमात्र निरपेक्ष (Absolute) सत्ता हो जाता है और अन्य सभी मोनड छाया-तुल्य सारहीन हो जाते हैं। उनकी स्थिति स्पिनोजीय पदार्थ के प्रकार (Modes) के समान हो जाती है। इस दृष्टिकोण से लाइबनित्स का अनेकवाद दिखलौआ हो जाता है और स्पिनोजीय एकसत्तावाद यथार्थ सिद्धान्त बन जाता है। फिर यदि हम मोनडो के सामजस्य (Harmony) को ही ईश्वर मान लें, तो जगत् ही (क्योंकि मोनडो का समूह ही विश्व है) ईश्वर और ईश्वर विश्व हो जाता है। तो ऐसी हालत मे भी स्पिनोजा का वह सिद्धान्त, जिसके अनुसार विश्व ही ईश्वर और ईश्वर ही विश्व हैं (Natura Naturata and Natura Naturans) लाइबनित्स के दर्शन मे भी सत्य हो जाता है। अत., ऐसा मालूम होता है कि जितनी लाइबनित्स ने स्पिनोजीय दर्शन से पिण्ड छुडाने की चेष्टा की है उतना ही अधिक स्पिनोजा के भूत ने उन्हें दबोच डाला है। अत, जिस रीति से भी हम मोनडवाद को मानकर ईश्वर-विवेचन करें, उसमे ईश्वर की रक्षा नही होती है।

अब जो भी लाइबनित्स का मत ईश्वर के सम्बन्ध मे हो, उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कई प्रमाण दिये है, जिनमे तात्त्विक या सत्तामूलक (Ontological) प्रमाण विशेष है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता हैं प्रत्येक मोनड मे दो पक्ष हैं, अर्थात् वास्तविक (Actual) और सम्भावित (Possible), सक्रियता (Activity) और निष्क्रियता (Passivity)। जो मोनड जितने ही उच्चतर होंगे उनमे उतनी ही अधिक सक्रियता तथा वास्तविकता होगी, और मोनड जितने निम्नतर होंगे उनमे उसी मात्रा मे निष्क्रियता होगी। अब सोपानक्रम (Hierarchy) मे ईश्वर सर्वोच्च मोनड है और उसके अन्तर्गत सभी निष्क्रियता और सम्भावना वास्तविक हो चुकी है। अत ईश्वर ही पूर्णतया वास्तविक है (Actus purus)। इस प्रसंग मे ईश्वर का अस्तित्व इस प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है, 'यदि ईश्वर सम्भव है तो वह है, क्योकि उसका अस्तित्व उसकी सम्भावना का अनिवार्य परिणाम है।' दूसरे शब्दो मे अन्य मोनडो मे सम्भावना यथार्थ नही हो पायी है, परन्तु ईश्वर की सभी सम्भावनाए वास्तविक हैं। अब यदि ईश्वर सभव है, तो वह अवश्य ही वास्तविक भी है, और ईश्वर अवश्य ही सम्भव है, क्योकि ईश्वर के विषय मे सगत

रूप से सोचा जा सकता है और जो सगत रीति से सोचा जा सकता है, वह सम्भव होता है। परन्तु यह उक्ति देकार्त के तात्त्विक प्रमाण के समान दोषपूर्ण है। यदि ईश्वर सम्भव है, तो वह वास्तविक नही, और वास्तविक है तो सम्भव नही कहा जा सकता है। अत सम्भव (अथवा वह जिसके विषय मे सोचा जा सके) के आधार पर वास्तविकता सिद्ध नही की जा सकती है।

उपर्युक्त तात्त्विक प्रमाण मे लाइबनित्स ने विश्व सम्बन्धी प्रमाण (Cosmological) जोड दिया है। यथार्थ मे लाइबनित्स को दिखाना है कि ईश्वर सम्भव है और उसे स्पष्ट करने के लिए उन्होने विश्वसम्बन्धी प्रमाण दिया है। अब विश्व की की प्रत्येक वस्तु सयोगात्मक (Contingent) है, क्योंकि हम उनका अनस्तित्व (Non-existence) सोच सकते हैं। उसी प्रकार हम सम्पूर्ण विश्व का अनस्तित्व सोच सकते हैं और इसलिए विश्व भी सयोगात्मक है। परन्तु सभी सयोगात्मक सत्य के आधार मे पर्याप्त हेतु रहना चाहिए। समस्त विश्व का पर्याप्त हेतु ईश्वर है। परन्तु इस प्रमाण को भी दोषपूर्ण ही समझना चाहिए, क्योंकि सयोगात्मक कार्य का कारण भी सयोगात्मक, न कि अनिवार्य (Necessary) हो सकता है।

इन दो प्रमाणो के अतिरिक्त लाइबनित्स ने तीसरा भी प्रमाण दिया है। यह शाश्वत सत्ताओ (Eternal truths) पर आधारित है। कुछ सत्य है, जैसे २+२=४। इस प्रकार की अनादि सत्यता का आधार आपातिक नही हो सकता है। ये ईश्वर के मन मे रहते है और इसलिए ईश्वर अवश्य है। परन्तु लाइबनित्स ने इस बात पर ध्यान नही दिया है कि वास्तविक घटनाएँ आपातिक ही हो सकती है। यह ठीक है कि लाइबनित्स ने ईश्वर के अस्तित्व को भी अनिवार्य सत्यता के अन्तर्गत माना है, पर यह उनकी ही तार्किक खोज से मेल नही खाता है।

ईश्वर, लाइबनित्स के अनुसार, मगलकारी तथा प्रेममय है। उसने समस्त विश्व की रचना ऐसी की है कि सभी का अत मे कल्याण हो। यहाँ लाइबनित्स का प्रबल आशावाद झलक उठता है। "The world is the result of the wisest and best choice and so it must be the best possible world" पर यदि यह विश्व सम्भवत सर्वश्रेष्ठ विश्व है तो इसमे दु ख और बुराई कैसे हुई? लाइबनित्स के अनुसार, बुराई के रहने से अच्छाई की सुन्दरता और उसका मूल्य बढता है (Evil is foil to the good)। जिस प्रकार भूख की प्रबलता से भोजन का स्वाद बढता है, उसी प्रकार दु ख के भाव से सुख का अनुभव अधिक आनन्ददायी होता है। लाइबनित्स बुराइयो को तीन वर्गों मे बाँट देते है और प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार देते हैं। सर्वप्रथम, तात्त्विक (Metaphysical) बुराई है। प्रत्येक मोनड सीमित है और इसमे सीमित ज्ञान और देह रहने के कारण विकार का रहना अनिवार्य है। जैसे, हम न तो विश्व की सभी बातो को और न अपने भविष्य को ही जानसकते

है। और इस प्रकार के अज्ञान से दु ख भोगना आवश्यक हो जाता है। पर, सीमित मोनडो मे इन सब दोषो का रहना उनके स्वरूप पर निर्भर करता है और इसे हटाया नही जा सकता है। तोभी लाइबनित्स के अनुसार यदि हम प्रत्येक मोनड को सम्पूर्णतया लें या विश्वकल्याण पर ध्यान दे, तो दु.ख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक दिखाई देगी या किसी के थोडे से दु ख से अन्य मोनडो का सुख बहुत अधिक मात्रा मे बढता मालूम देगा। इसलिए दुःख तथा बुराई के सम्बन्ध मे व्यापक दृष्टि के आधार पर निर्णय करना चाहिए और तब ये शुभ और कल्याणकारी ही दीखेंगे।

द्वितीय, शारीरिक विकार है, जैसे शारीरिक दु ख, बीमारी इत्यादि। लाइबनित्स के अनुसार, इस प्रकार के विकार से मोनडो की शिक्षा और उनका बचाव होता है। यदि आग से हाथ न जले, तो बच्चा अपने को मृत्यु के गाल मे अकाल ही डाल देगा। यदि बाघ न होता तो हरिण की चौकडी का विकास न होता। अतः शारीरिक विकार सम्पूर्णतया मोनडो के कल्याण के लिए ही होते हैं। अत मे, नैतिक (Moral) विकार की बारी आती है। लाइबनित्स के अनुसार, ईश्वर ने मोनडो को स्वतत्र बनाने की चेष्टा की है और जब उन्हें स्वतत्र इच्छा दी, तो उनके साथ बुरी बातो को अपनाने की भी क्षमता दी है। अत, ईश्वर चाहता तो नही है कि मोनड नैतिक पतन मे पड़ें, पर स्वतत्र इच्छा द्वारा ही मोनड नैतिक आदर्श की चरम सीमा तक पहुँच सकते और आदर्श नैतिकता बिना स्वतत्र इच्छा के सम्भव नही हो सकती है और जहां स्वतत्र इच्छा होगी वहां पतन की सम्भावना भी रह जाती है। अत, ईश्वर नैतिक विकार नही चाहता है, पर इसकी सम्भावना उसे स्वीकार करनी पडती है (God does not will, but allows moral evil)।

लाइबनित्स का विकार-सम्बन्धी विचार गवेषणापूर्ण है, पर इसे पूर्णतया सन्तोषजनक समझना कठिन है। जिस मोनड को दु.ख का शिकार होना पडता है, वह लाइबनित्स के दर्शन को जानकर उस दु ख से कम पीडित नही होता है। पर शायद ही कोई ईश्वरवाद है, जिसमे दु ख की समस्या का पूर्ण समाधान हो सकता है। परन्तु हमे अब देखना है कि वास्तव मे मोनड अपने काम के उत्तरदायी (Responsible) हैं या वे अपने स्वरूप से विवश होकर सभी काम करते हैं, अर्थात् हमे स्वतत्रवाद और नियतिवाद (Determinism) का निपटारा करना है।

स्वतन्त्रता तथा अनिवार्यता (Necessity)

लाइबनित्स के अनुसार, मानव अपने श्रेय (the good) को प्राप्त करने के लिए स्वतत्र है और उसका नि.श्रेयस इसीमे है कि वह लोकहित मे लगा रहे। परन्तु स्वतत्र व्यवहार का अर्थ यह नही है कि उसमे नियत्रण न हो। कुछ हद तक सभी मानव-क्रियाओ मे नियतिवाद रहता है, क्योंकि सभी क्रियाएँ भूत कारणो से नियन्त्रित

होती हैं। अब यदि प्रक्रियाएँ भूत आधार से नियन्त्रित न हों तो हमें यह मानना पडेगा कि प्रक्रियाएँ एकाएक हो जाती है। परन्तु ऐसा स्वीकार करने से तारतम्य के नियम का उल्लघन होता है। अत, हमे यह मानना पडेगा कि सभी प्रक्रियाएँ भूत कारणो से नियन्त्रित होती हैं।

परन्तु यद्यपि मानव-प्रक्रियाएँ भूत कारणो से नियन्त्रित होती हैं तथापि उन्हें अनिवार्य (Necessary) नही कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी वास्तविक घटना का अनस्तित्व सोचा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से सभी मोनडो की प्रक्रियाओ को सयोगात्मक समझा जा सकता है, पर उन्हें स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। किसी प्रक्रिया को स्वतन्त्र कहने के लिए उसमे तीन लक्षणो का होना आवश्यक है। (१) सूझ या बुद्धि, जिसके कारण प्रतिक्रियाओ को उनके स्पष्ट लक्ष्य को जानकर सम्पादित किया जाय। इसके अनुसार जिस काम को जितना अधिक हम अनजाने करेंगे उतना ही अधिक वह काम नियतिवाद से सचालित होगा, और जिस काम को हम जितना अधिक समझ-बूझकर करेंगे वह उतना ही अधिक स्वतन्त्र समझा जायगा। लाइबनित्स के इस मत मे स्पिनोजा की झलक मिलती है। (२) दूसरी बात है कि स्वतन्त्र प्रक्रियाओ मे आत्म-प्रेरणा (Spontaneity होनी चाहिए, अर्थात् जिस काम को स्वय हम करें, और (३) तीसरी बात है कि इसमे आपातिकता हो अर्थात् जिसमे तार्किक अनिवार्यता न हो। अत, a free action is a contingent activity having spontaneous unfolding of the action guided by clear perception इस अर्थ मे ईश्वर अति स्वतन्त्र हैं, क्योकि उनकी प्रक्रियाएँ अति स्पष्ट ईक्षण से आत्म-प्रेरित होती हैं। फिर उनकी प्रक्रियाओ को सयोगात्मक कहा जायगा, क्योकि ये ईश्वर के परम कल्याणकारी उद्देश्य से सचालित होती हैं। अब यदि लाइबनित्स ईश्वर की प्रक्रियाओ को सयोगात्मक नही मानते, तो स्पिनोजा के समान उन्हे स्वीकार करना पडता कि सभी घटनाएँ ईश्वर से अनिवार्य रीति से सचालित होती है। पर, फिर भी प्रश्न उठता है कि क्या लाइबनित्स अपने को स्पिनोजा के निष्कर्षों से मुक्त कर सके हैं? हमलोगो की समझ मे लाइबनित्स गुप्त रूप से स्पिनोजावादी ही रहे हैं।

लाइबनित्स और स्पिनोजा

लाइबनित्स के जीवन-काल मे ही लोग कहा करते थे कि वे स्पिनोजावादी थे और लाइबनित्स इस मत का खण्डन किया करते थे। वे बताते थे कि उनका दर्शन स्पिनोजीय दर्शन के विपक्ष मे है, क्योकि स्पिनोजा एकसत्तावादी (Monistic) थे और आप अनेकवादी थे। परन्तु वास्तव मे पूर्वस्थापित छन्द के सिद्धान्त के प्रति कहा जा सकता है कि मोनडो का अनेकवाद परिभास-मात्र (Mere appearance) है और इसलिए वास्तव मे आप एक सत्तावादी थे। मोनडवाद तथा लाइबनित्स के

ईश्वर-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्पिनोजा के समान आप भी शून्यवादी, नियति-वादी (Determinist) तथा सर्वेश्वरवादी (Pantheistic) थे, और हम इन सब बातो को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते है :

लाइबनित्स का शून्यवाद (Nihilism) — लाइबनित्स के लिए देश, काल तथा भौतिक पदार्थ की सत्ता है ही नही। अब यदि कुछ बचता है तो वह है मोनडो का पारस्परिक प्रतिबिम्बित ईक्षण। परन्तु हमलोग पहले ही देख चुके हैं कि यह केवल छाया-मात्र है और इसमे कोई ठोस वास्तविकता नही है। यदि कही वास्तविकता न हो तो उसे शून्यवाद ही कहा जायगा।

नियतिवाद— फिर लाइबनित्स के अनुसार मोनडो की प्रक्रियाएँ भूत प्रक्रियाओ से नियन्त्रित होती हैं और आत्म-प्रेरित होने के कारण लाइबनित्स ने इच्छात्मक प्रक्रियाओ को स्वतन्त्र प्रक्रिया कहा है। परन्तु स्पष्ट-से-स्पष्ट ईक्षण से नियन्त्रित होने पर भी इसे स्वतन्त्र नही कहा जा सकता है, क्योकि अति स्पष्ट ईक्षण का उद्देश्य भी मोनडो मे वही है, जिसे ईश्वर ने उनके स्वरूप मे स्थापित कर दिया है। अत मोनडो की प्रक्रियाएँ ईश्वरीय उद्देश्य से सचालित होती हैं। मानव को इतनी ही स्वतन्त्रता है कि वह जान-बूझकर उस उद्देश्य की पूर्त्ति करे। अब यही बात तो स्पिनोजा ने भी स्वतन्त्र प्रक्रियाओ के विषय मे कही है, जिसे हमने नियतिवाद कहा है।

सर्वेश्वरवाद —पूर्वस्थापित छन्द के अनुसार, प्रत्येक मोनड प्रयासन-वृत्ति के कारण ईश्वर के स्वरूप की नकल करता है। अत, वास्तविकता केवल एक ईश्वर की है और सभी मोनड उसकी प्रतिकृतियाँ (Copies) है। कई स्थलो पर तो लाइबनित्स ने यह भी कहा है कि मोनड ईश्वर से उसी तरह निकलते है जिस तरह से विचार मानव-मन से सम्भव होते हैं। अत, मोनड भी स्पिनोजा के प्रकार (Modes) का रूप धारण कर लेते हैं।

उपसहार

यद्यपि लाइबनित्स बहुत दूर तक स्पिनोजावादी थे, तथापि उनका दर्शन स्पिनोजा के विचारो की पुनरावृत्ति नही करता है। लाइबनित्स बहुमुखी और सर्व-पटु थे। उन्होंने अपने युग की अनेक धाराओ को एकत्र कर सम्बद्ध रूप से उनकी व्याख्या करनी चाही और यही कारण है कि उनके दर्शन को समझौता (Compromise) या समन्वय का दर्शन कहा जाता है। इस प्रयास मे उन्होने अनेक सूत्र हमारे सामने रखी हैं, जो आज तक हमारे विचारो का मार्ग-दर्शन कराती हैं। परन्तु फिर भी हम लाइबनित्स के सुझाव को सन्तोषजनक नही समझ सकते हैं। उनकी कमी यह थी कि उन्होने अपनी युक्तियो को पदार्थ-गुण (Substance-attribute) की मूलधारणाओ (Categories) से सम्पादित किया था और आपने यहाँ भी

स्पिनोजा के बताये हुए पदार्थ-गुण को अपनाया था और यही कारण है कि वे स्पिनोजा के निष्कर्षों से छुटकारा न पा सके। आगे चलकर हम पाते हैं कि ब्रैडले ने भी परम सत्ता को उद्देश्य (Subject) और अन्य सभी वस्तुओं को विधेय या उसका गुण माना है और इसी पदार्थ-गुण की धारणा मे पडकर एकसत्तावाद की स्थापना की है। अत, पदार्थ-गुण की धारणा पर आधारित रहने पर अनिवार्य रूप से एकसत्तावाद स्थापित हो ही जाता है।

हमलोगो ने पहले ही कहा है कि दर्शन वैचारिक कला है और दार्शनिक अपनी सूझ के अनुसार सब अनुभूतियो को सम्बद्ध करता है। लाइबनित्स भी गाणितिक अपरिमित कलन (infinitesimal calculus) से प्रभावित हुए थे। आप यदि मोनडवाद को ही अपनाते और ईश्वर-विवेचन को स्थान नही देते तो आपका दर्शन अधिक सगत होता। पर आपने धर्म और विज्ञान की दो विरोधी सूझो को मिलाने की कोशिश की है और यही कारण है कि यह न तीतर हुआ न रहा बटेर।

जौन लॉक (सन् १६३२—१७०४ ई०)

आपका जन्म २९ अगस्त, सन् १६३२ ई० मे इगलैंड के समरसेट नामक नगर मे हुआ था और आपकी शिक्षा-दीक्षा ऑक्सफोर्ड मे हुई थी। आप डॉक्टर थे, पर राजनीतिक कार्यों मे बहुत भाग लिया करते थे। आपने जो कुछ लिखा वह आपकी प्रौढावस्था का परिपक्व परिणाम था। आपकी मुख्य रचना 'Essay concerning human understanding' शायद सन् १६७९ मे पूरी हो गयी थी, पर इसका मुद्रण सन् १६९० ई० मे किया गया था। आपकी मृत्यु सन् १७०४ ई० के २८ अक्टूबर को हो गई।

लॉक की समस्या—हम देखते हैं कि मेज हमारे सामने है और हम कहते हैं कि हम मेज को जानते हैं। अब यहाँ दो प्रकार के प्रश्न हैं, अर्थात् (१) मेज का तत्त्व क्या है, जिसे जानने से हम समझते हैं कि हम 'मेज' को जानते हैं। इस प्रकार के प्रश्न ज्ञेय अथवा ज्ञान की वस्तु के तत्त्व से सम्बन्ध रखते है और इस प्रकार की गवेषणा को तत्त्व-मीमामा (Ontology) कहा जाता है। देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइबनित्स अधिकतर तत्त्व-मीमासक थे। (२) परन्तु हमारी गवेषणा स्वय ज्ञान के सम्बन्ध मे भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, हम इस बात को भी निर्धारित करना चाह सकते हैं कि किस प्रकार के 'जानने' को जानना या ज्ञान कहा जा सकता है। इस प्रकार की गवेषणा ज्ञान-मीमासा कहलाती है। अब ज्ञान के प्रति चिन्तन बिना ज्ञेय को पार्श्वभूमि (Background) मे रखे हुए नही हो सकता है, पर फिर भी हम ज्ञान की समस्याओ पर, ज्ञेय की अपेक्षा अधिक ध्यान दे सकते हैं। यही बात लॉक, बर्कले तथा ह्यूम मे पायी जाती है। वे विशेषतया ज्ञान-मीमासक कहे जा सकते हैं।

JOHN LOCKE (1632 to 1704)

'ज्ञान' किसे कहा जाय ? लॉक के अनुसार उसी जानने को ज्ञान कहा जायगा, जो असदिग्ध (Certain) हो* । हम जानते हैं कि इस प्रकार का ज्ञान गणितशास्त्र में पाया जाता है । अत , लॉक भी गाणितिक परम्परा से प्रभावित थे । पर उन्होने आचरण-विज्ञान तथा धर्म-विज्ञान (theology) का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहा है । परन्तु लॉक को असदिग्ध ज्ञान सभी विषयो के प्रति सम्भव नही मालूम दिया और इसलिए उन्होंने असदिग्ध ज्ञान को सीमावद्ध वताया है । अत , लॉक की समस्या है कि वे असदिग्ध ज्ञान के उद्भव (Origin), स्वरूप, सीमा तथा महत्त्व की जाँच करें । परन्तु. इस विषय मे भी उन्होने वताया है कि उन्होने एक मजदूर की भाँति केवल जमीन की सफाई की है ताकि इसके बाद ज्ञान-सम्बन्धी इमारत खडी की जा सके ।†

लॉक जानते थे कि ज्ञान वाक्यो के आधार पर व्यक्त किया जाता है, पर अन्त मे ये वाक्य भावनाओ (Ideas) पर आधारित हैं । इसलिए प्रश्न उठता है कि ये भावनाएँ किस प्रकार से प्राप्त की जाती हैं । परन्तु लॉक को चाहिए था कि भावना (idea) का अर्थ स्पष्टतया निर्धारित करते औरइनके विषय मे भी लॉक ने निश्चित तथा असदिग्ध काम नही किया है । 'भावना' का विश्लेषण करने पर इनमे दो बातें मालूम देती हैं कि—

(१) यह किसी एक व्यक्ति विशेष की चेतना का एक अश है, जिसे जानने के लिए किसी वस्तु को ध्यान मे रखने की आवश्यकता नही है ।

(२) फिर भावना किसी वस्तु का प्रतीक या प्रतिनिधि (Representative) भी हो सकती है ।

लॉक ने दोनो अर्थो मे 'भावना' शब्द ,का प्रयोग किया है, जिससे उनकी गवेषणा मे काफी गडबडी आ गई है । पुन , भावनाओ का अध्ययन हम दो रूप से कर सकते हैं, अर्थात् (क) हम किसी भावना का विश्लेषण संवेदनाओ, प्रतिमाओ (Images) तथा भावो (Feelings) के आधार पर कर सकते हैं, या (ख) हम भावना

*. "With me", says Locke, " to know and to be certain is the same thing, what I know that I am certain of .. . and what comes short of certainty, I think cannot be called knowledge "

(Essays BK IV 16 3)

† लॉक का कहना है "Morality is the proper business and science of mankind in general " फिर कहा है "Morality and divinity are those parts of knowledge that men are most concerned to be clear in.

†† उन्होंने अपने विषय में कहा है कि "It is ambition enough to be employed as an underlabourer in clearing the ground a little, and removing some of the rubbish that lies in the way to knowledge "

के अन्तर्गत शाश्वत, कालातीत तथा तार्किक विषय (Content) का अध्ययन कर सकते है। इस तार्किक विषय को, जो भावनाओ मे सामान्य रूप से रहता है, हम शुद्ध प्रत्यय या पदार्थ (Categories) कहते हैं। प्रथम अध्ययन-विधि को मनोवैज्ञानिक और दूसरी को तार्किक गवेषणा कहा जाता है। अब लॉक ने यहाँ भावनाओ का सूक्ष्म विश्लेषण नही किया है, और इसलिए अपनी ज्ञान-मीमासा मे मनोवैज्ञानिक अध्ययन को घुसेड दिया है। फिर भी लॉक की समस्या थी कि वे भावनाओ की उत्पत्ति और उनके स्वरूप का अध्ययन करें और वे चाहते थे कि इस सम्बन्ध मे पूरी सफाई रहे और इसीलिए उन्होने सहजात प्रत्ययो के सिद्धान्त का खण्डन किया है, जिसे हम निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर सकते हैं ·

सहजात प्रत्ययों का खण्डन (Refutation)

देकार्त ने सहजात प्रत्यय (Innate ideas) का सिद्धान्त अवश्य ही बताया था, परन्तु उनका सहजात प्रत्यय ऐसा था, जो शिशु तथा अनपढों मे केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप मे पाया जाता है और लॉक भी इस मत को अस्वीकार नही करते हैं। अत, लॉक ने देकार्त के मत का खण्डन नही किया है और न किसी अन्य दार्शनिक के मत का खण्डन किया है। उन्होने केवल अपनी भावनाओ के सिद्धान्त को उग्र रीति से स्पष्ट करने के लिए खण्डन की मदद ली है।[†]

लॉक ने सहजात प्रत्यय से उन प्रत्ययो (Ideas) का अर्थ लिया है जिनके विषय मे यह मत था कि वे ईश्वर प्रदत्त हैं और जो बिना किसी अनुभूति के आधार पर सभी व्यक्तियो मे स्पष्टतया पाये जाते हैं। परन्तु लॉक की यही धारणा है कि सभी प्रत्यय वस्तुओ की जानकारी के प्रयास से मानव-अनुभूति के आधार पर उत्पन्न होते है। सहजात प्रत्ययो के माननेवालो ने सभी सहज प्रत्ययो की तालिका तो दी नही है, पर उन्होने बताया है कि सहज प्रत्यय वे हैं जो सार्वभौमिक (universal) हैं। अत· इस प्रसंग मे लॉक ने यह बताया है कि कोई भी प्रत्यय शायद ही सार्वभौमिक सिद्ध किया जा सकता है और यदि किसी प्रत्यय को सार्वभौमिक मान लिया जाय तो सार्वभौमिकता (Universality) की व्याख्या सहजात के आधार पर नही होकर अनुभव से ही स्पष्ट की जा सकती है।

यदि सहजात प्रत्यय से समझा जाय कि कुछ भावनाएँ मानव मे जन्म से ही पाई जाती हैं तो ऐसी कोई भावना देखने मे नही आती है। प्राय 'सहज' प्रत्यय के समर्थक अव्याघात (Contradiction) तथा तादात्मय (Identity) सिद्धान्तो को सहज मानते हैं। परन्तु वास्तव मे ये सिद्धान्त इतने जटिल हैं कि मानव मे जीवन के प्रारम्भ मे न होकर वे प्रौढावस्था में अति कठिन चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त होते है। परन्तु यहाँ पर सहज प्रत्यय' के समर्थक कह सकते हैं कि

[†] D. J O. 'Connor 'John Locke', P. 39 (A pelican book)

ये प्रत्यय शिशु, अनपढ तथा पागल इत्यादि मे रहते हैं, पर ये इनसे अनभिज्ञ रहते हैं। परन्तु लॉक देकार्तीय परम्परा को मानते हुए मन को केवल चेतन समझते थे और इसलिए उन्होंने बताया है कि कोई प्रत्यय मन मे रहे और फिर भी लोग उससे अवगत न हो, ये दोनो परस्पर-विरोधी बातें हैं* । अत, लॉक का कहना है कि कोई भी प्रत्यय सहजात नही है, क्योकि कोई भी प्रत्यय सार्वभौमिक नहीं पाया जाता है।

जो बात बौद्धिक प्रत्ययो के विषय मे कही जा सकती है वही नैतिक तथा धार्मिक प्रत्ययो के विषय मे भी कही जा सकती है। शायद ही कोई ऐसा आचार-सिद्धान्त है जिसे दुनिया-भर मे सभी लोग एक रूप से सत्य मानते हैं। चोरी तथा हत्या को ठग तथा स्पार्टा निवासी धर्म समझते थे और सभ्य व्यक्तियो मे भी युद्धधर्म में सभी दुराचार को मान्य समझा जाता है। अत, नैतिक धर्मों को भी सार्वभौमिक न रहने के कारण, सहज नही माना जा सकता है।

फिर ईश्वर के प्रति प्रत्ययो को सहज समझा गया है। परन्तु, यहाँ भी सार्वभौमिकता का अभाव दीखता है। नाना धर्मों मे ईश्वर-सम्वन्धी प्रत्यय भी विभिन्न माने गये है। फिर कुछ व्यक्तियो को कौन कहे, कितनी समस्त जातियाँ बिना ईश्वर के ज्ञान के पायी जाती हैं। अत, ईश्वर-सम्बन्धी प्रत्यय भी सार्वभौमिक नही समझा जा सकता, और इसलिए इसे भी सहजात नही गिना जा सकता है।

अत, वे सब प्रत्यय, जिन्हें सहज समझा जाता था सार्वभौमिक नही सिद्ध पाये जाते हैं और फिर कितने प्रत्यय वास्तव मे सार्वभौमिक हैं, पर उन्हें सहज नही समझा जाता है। उदाहरणार्थ सूर्य, अग्नि, ताप इत्यादि का प्रत्यय सभी लोगो मे है और फिर भी उन्हें सहज नही माना जाता है।

अन्त मे, यदि सहजात प्रत्ययो के समर्थक कहें कि सहज प्रत्यय अस्फुट (Implicit) रूप मे रहते हैं और कालान्तर मे ये स्पष्ट हो जाते हैं तो सहज प्रत्ययो की विशेषता जाती रहती है, क्योकि यही बात तो सभी प्रत्ययो मे लागू होती है कि कालान्तर मे वे सभी स्पष्ट हो जाते हैं। लॉक का कहना है कि उन्होने सहज प्रत्यय का खण्डन अवश्य किया है, पर ज्ञान प्राप्त करने की सहज शक्ति (Innate powers) का खण्डन कही नही किया है।** अत मेण्डक या उभयतोपाश (Dilemma) के

---

* It seems "to me near a contradiction to say, a notion is imprinted on the mind, and yet at the same time to say that the mind is ignorant of it"

**इस सम्बन्ध में लॉक की उक्ति है "I think nobody who reads my book can doubt that I spoke only of innate *ideas* and not of innate *powers*"

रूप मे लॉक ने अपने मत को इस प्रकार रखा है—'Either the theory signifies that certain ideas and principles are explicitly present from the earliest period of consciousness, or it merely asserts the existence of a general capacity for knowledge In the former case it is admittedly false In the latter case it is totally unable to support the theory of certainty which has been reared upon it.

प्रत्ययो का उद्भव और रचना (Formation)

यदि प्रत्यय सहजात नही हैं तो हमे देखना है कि हम उन्हें किस प्रकार प्राप्त करते हैं। अब 'अर्जन-विधि' (The method of acquiring) अर्थात् किस प्रकार से प्रत्यय हमारे अन्दर उत्पन्न होते है, कई प्रकार से समझी जा सकती है। प्रत्यय के उद्भव (origin) के ये अर्थ लगाये जा सकते हैं —

(क) प्रत्ययो का विकासात्मक इतिहास और वास्तव मे लॉक ने अपनी विधि को 'सरल ऐतिहासिक विधि, (Plain historical method) कहा है।

(ख) प्रत्ययो के उद्भव का अर्थ यह हो सकता है कि उन कारणो को हम खोज निकालें, जिनसे प्रत्यय उत्पन्न होते है, अर्थात् कुर्सी, मेज, नदी-पहाड आदि जो स्वय प्रत्यय नही है, पर जो प्रत्ययो को हमारे अन्दर उत्पन्न करते है।

(ग) फिर 'प्रत्ययो' से अर्थ मूलधारणाओ से भी लिया जा सकता है, जिनसे सभी ज्ञान निर्मित होता है। इन्हें पदार्थ (Categories) कहा गया है।

हम देखते हैं कि ज्ञान-मीमासा का सम्बन्ध विशेषतया मूल धारणाओ से रहता है, जो अनुभूति के साथ सक्रिय (Active) हुआ करती हैं। चूँकि ये अनुभूति के साथ ही सक्रिय होती हैं, इसलिए इन्हें अनुभवजन्य अर्थात् इन्द्रियजन्य नही कहा जा सकता है। अनुभव केवल अवसर-मात्र प्रदान करता है, जिसमे वे सक्रिय हो सकें। कमल पकज अवश्य है, पर पकिल नही है। उसी प्रकार मूलधारणायें (Categories) अनुभव के होने के साथ जाग्रत होकर ही अनुभव को सम्बद्ध करती हैं, पर वे स्वय अनुभवजन्य नही हैं। यहाँ जैसा कि हम पहले ही कह चूके हैं, अनुभव का अर्थ है 'इन्द्रिय-अनुभव'। 'चूँकि लॉक ने मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक गवेषणा को एक साथ मिला दिया है, इसलिए यह दोषपूर्ण हो गयी है, परन्तु इनका अभिप्राय अवश्य था कि वे उन आधारो को स्पष्ट कर दें, जिनसे निश्चित ज्ञान उत्पन्न होता है।

अबतक हमलोगो ने देखा है कि कोई भी प्रत्यय सहजात नही है। सभी प्रत्यय अनुभव के द्वारा हमारे अन्दर उत्पन्न होते हैं। जन्म के समय मानव-मन सफेद कागज या कोरी पट्टी के समान साफ रहता है और सभी ज्ञान के अक्षर धीरे-धीरे

अनुभव के द्वारा उस पर अंकित हो जाते हैं *। अनुभव के दो रूप हैं अर्थात् संवेदन (Sensation) और आत्म-चिन्तन (Reflection)। संवेदना और आत्म-चिन्तन दो ही खिडकियाँ हैं, जिनसे मन-कूप में ज्ञान-रश्मियाँ आती हैं और अन्त मे जो कुछ भी ज्ञान के अन्तर्गत हो उसे अनुभव के इन्ही दो रूपो के द्वारा किये गये प्रत्यय से स्पष्ट करना चाहिए† "All those sublime thoughts which tower above the clouds and reach as high as heaven itself, take their rise and footing here in all that great extent wherein the mind wanders, in those remote speculations it may seem to be elevated with, it stirs not one jot beyond those ideas which sense or reflection has offered for its contemplation."

1. (24) इसलिए हमे सवेदना और आत्म-चिन्तन के स्वरूप को स्पष्ट करना चाहिए।

सवेदना—शारीरिक इन्द्रियो के भौतिक पदार्थ से प्रवाहित होने पर सवेदना उत्पन्न होती है। भौतिक पदार्थ शारीरिक इन्द्रियो को उद्दीप्त करता है और यह प्रक्षोभन (Excitation) मस्तिष्क (Brain) मे पहुँचकर सवेदना उत्पन्न करता है। शारीरिक प्रक्षोभन किस प्रकार से चेतना उत्पन्न करता है यह लॉक के अनुसार बुद्धिगम्य (Intelligible) नही मालूम देता है, पर ऐसा होना निर्विवाद है। फिर लॉक वस्तुवादी थे और उनके अनुसार लाल, पीली वस्तु की अवश्य स्वतन्त्र सत्ता है और हमारी सवेदनाएँ इनकी नकल है या इनका प्रतिनिधित्व करती हैं।

आत्म-चिन्तन (Reflection)—जिस प्रकार से वाह्य वस्तुओ का ज्ञान सवेदनाओ से उत्पन्न होता है उसी तरह तरह आभ्यन्तरिक (Internal) दशाओ का ज्ञान आत्म-चिन्तन के आधार पर होता है। इसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा मे आत्म-निरीक्षण (Introspection) कहा जा सकता है और इसके आधार पर हमे अपने अन्दर भय, क्रोध, सुख-दु ख इत्यादि अवस्थाओ का ज्ञान होता है। सवेदनाओ से मिलान करने पर आत्म-चिन्तन की दो विशेषताएँ स्पष्ट मालूम देती हैं

(क) संवेदनाएँ बाह्य वस्तुओ के प्रतिरूप है, परन्तु बिना किसी प्रतिरूप के आत्म-चिन्तन के द्वारा सुख-दु ख या भय-क्रोध का हमे साक्षात् (Direct) ज्ञान प्राप्त होता है।

(ख) साधारण सवेदनाओ को भी सम्भव बनाने मे अवधान (Attention)

---

* D. J. O Connor, 'John Locke', P. 31.

†"Mind at birth is a clean slate or tabula rasa and all the characters of knowledge are acquired through experience"

BK II 1·24

की आवश्यकता पड जाती है। पर आत्म-चिंतन मे अवधान की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता पड जाती है।

सरल प्रत्यय —जो भावनाएँ सम्वेदनाओ तथा आत्म-चिंतन से मिलती है उन्हें सरल प्रत्यय कहा जाता है। लॉक के समय की विज्ञानधारा यन्त्रवादी थी और यन्त्रवाद का सिद्धात है कि 'सम्पूर्ण' की व्याख्या उसके अवयव या अश के आधार पर की जा सकती है। यही कारण है कि मानसिक प्रक्रियाओ को स्पष्ट करने के लिए लॉक ने सरल प्रत्ययो को खोज निकाला है। सरल प्रत्ययो को लॉक ने निश्चय निरवयव अथवा अविश्लिष्ट्य (Unanalysable) बताया है। वही आगे चलकर अनुभववाद मे sense-datum के रूप मे रसेल, मूर इत्यादि विचारको मे देखा जाता है। परन्तु लॉक ने विस्तार (Extension) तथा काल-तारतम्य (Duration) को भी प्रत्यय कहा है, जो वास्तव मे निरवयव (Partless) नही कहे जा सकते हैं।

निरवयव के अतिरिक्त लॉक ने सरल प्रत्यय के दो लक्षण बताये हैं।

(क) जब मन निष्क्रिय रूप से प्रत्ययो का ग्रहण करता है तब वे 'सरल' कहे जाते हैं, जब मन सक्रिय हो जाता है तब जटिल (Complex) प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

(ख) सरल प्रत्यय साक्षात् रूप से हम जानते हैं, जैसे, लाल, पीला, गरम, ठढा आदि का ज्ञान हमे साक्षात् होता है। यह ठीक है कि वस्तु जिससे सरल प्रत्यय उत्पन्न होते हैं अनेक सवेदित (Sensed) गुणो से युक्त हो सकती है, पर एक-एक करके ही हमे सरल प्रत्यय प्राप्त होते हैं।

काण्ट तथा अनुकाण्टीय विचारको ने स्पष्ट कर दिखाया है कि बिना मन के योगदान के सरल प्रत्यय या sense-datum सफल नही होता है। मन रचनात्मक है और वह सवेदित प्रदत्त (sense-datum) को सरल ज्ञान मे परिणत कर देता है। लॉक ने भी मन की रचनात्मक शक्ति का उल्लेख किया है, पर सरल प्रत्ययो के सम्बन्ध मे मन को निष्क्रिय (Passive) माना है। शायद उनका मत था कि यदि हम मन को रचनात्मक मान लें तो ज्ञान को विश्वसनीय समझने मे आपत्ति हो जायगी, क्योकि तब ज्ञान काल्पनिक रचना के समान हो जायगा।

जटिल (Complex) प्रत्यय

लॉक के अनुसार जब हमे सरल प्रत्यय प्राप्त हो जाते हैं तब मन सक्रिय होकर उन्हें असख्य विधियो से जोडकर जटिल प्रत्यय बना सकता है। जोडना या मिश्रण करना (Compounding) वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सवेदना तथा आत्मचिन्तन से प्राप्त सरल प्रत्ययो को एक साथ सजाकर जटिल प्रत्यय बनाया जाता है। परन्तु मिश्रण मे हम केवल सरल प्रत्ययो को एकत्र ही नही करते, बल्कि उनमे एकत्व (Unity) भी पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ, पीला, सुगन्ध, चिकना इत्यादि के

सरल प्रत्ययो को जोडकर हमे आम का जटिल प्रत्यय मिलता है, और यहाँ आम में एकत्व है। यौगिक (Compound) जटिल प्रत्यय मे 'एकत्व' वह धारणा आ गयी है जो न तो सरल प्रत्यय मे थी और न मिश्रण-प्रक्रिया मे थी। वह वास्तव मे जटिल प्रत्ययो की रचना मे मन की अपनी विशेष देन है। फिर मिश्रण के अतिरिक्त लॉक को तुलन (Comparing) और अमूर्त्तबोधन (Abstraction) नामक दो मानसिक प्रक्रियाओ को भी स्वीकार करना पडा। तुलना करना या तुलन वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसमे हम दो प्रत्ययो को (चाहे वे सरल हो या जटिल) एक साथ ऐसा अपने सामने रखते हैं कि विना मिलाये हुए हम उन्हे एक साथ देख सकें। प्रत्ययो को एक-दूसरे से मिलान करने पर हम उनके बीच के सम्बन्ध को जान लेते हैं, जैसे एक प्रत्यय दूसरे के पहले या बाद आता है या एक प्रत्यय दूसरे के समान या भिन्न है, इत्यादि। अव न तो एकत्व और न प्रत्ययो के बीच समानता (Similarity) तथा विभिन्नता (Difference) सवेदित धर्म हैं। यदि यह सत्य हो तो लॉक का कहना कि ज्ञान मे ऐसी कोई बात नही जो सवेदित नही है, सत्य नही ठहरती है। अतः, लॉक ने एकत्व, समानता, विभिन्नता इत्यादि को स्वीकार कर अपने अनुभववाद के सिद्धान्त को स्वय अधूरा सिद्ध कर दिया है।

फिर मिश्रण, तुलन के अतिरिक्त अमूर्त्तबोधन की भी प्रक्रिया है और लॉक ने ठीक ही कहा है कि वैज्ञानिक ज्ञान मे अमूर्त्तबोधन विशेष रूप से पाया जाता है। अमूर्त्तबोधन से हमे सामान्य (General) प्रत्यय मिलता है, जो वैज्ञानिक ज्ञान का आधार है। पर यह भी स्पष्ट है कि अनुभव से हमे केवल मूर्त्त (Concrete) और विशेष वस्तुओ ही का ज्ञान मिल सकता है और अमूर्त्तबोधन से प्राप्त सामान्य प्रत्ययो को ज्ञान मे विशेष स्थान देकर लॉक ने अपने को असंगत (Inconsistent) अनुभवादी बना दिया है। लॉक के अनुसार अमूर्त्तबोधन मे दो प्रक्रियाएँ पायी जाती हैं :—

(क) पहली बात है कि वह लक्षण, जिसे हमे सामान्य वनाना है, हमे अकेले ही अन्य धर्मों से अलग कर देखना चाहिए, और

(ख) फिर इस पृथक्कृत (Isolated) लक्षण मे उस प्रकार के सभी गुणो का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता होनी चाहिए।

उदाहरणार्थ, यदि हमे त्रिभुज का सामान्य प्रत्यय बनाना हो तो हमे किसी भी त्रिभुज-विशेष के आकार, रग, क्षेत्र इत्यादि की अवहेलना कर केवल उसके त्रिभुजाकार पर ध्यान देना चाहिए। इस त्रिभुजाकार को सभी त्रिभुजो का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। सामान्य प्रत्यय की विशेषता किसी गुण के पृथक्करण मे नही, पर इसके प्रतिनिधित्व करने की क्षमता मे पायी जाती है। बर्कले ने गलत समझा था कि लॉक का सामान्य प्रत्यय से अर्थ किसी प्रतिमा-विशेष (Image) से था। वास्तव मे लॉक सामान्य प्रत्यय को न तो कोई प्रतिमा ही समझते थे और न

प्रतिमाओ का योग ही मानते थे। बर्कले की इस गलती को हम उनके प्रतिमा-बोध तथा सामान्य प्रत्यय के खण्डन के सम्बन्ध मे देखेंगे।

जटिल प्रत्ययो का विभाजन— सयोजन (Compounding), वियोजन (Decompounding), तुलन तथा अमूर्त्तबोधन के आधार पर जो जटिल प्रत्यय प्राप्त होते है, उन्हें हम तीन वर्गों मे बांट सकते हैं अर्थात् (१) प्रकार (Modes), (२) द्रव्य (Substance) और (३) सम्बन्ध (Relations)। हम इनकी अब अलग-अलग सक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

प्रकार—ये वे यौगिक (Compound) प्रत्यय है, जो सरल प्रत्ययो के जोड़ने से बनते है, परन्तु सरल प्रत्ययो को हम कितना ही अधिक सघटित कर क्यो न जोडें, उनमे यौगिक प्रत्ययो की स्वतन्त्र सत्ता नही देखने मे आती है। प्रकार वे हैं जो द्रव्य पर निर्भर रहें और जो द्रव्य से स्वतन्त्र रहकर वास्तविक न हो। लॉक के प्रकार के सम्बन्ध का मत बहुत कुछ स्पिनोजा के मत की छाया है। लॉक के अनुसार सख्या (Number) काल-प्रक्रिया (Duration), कृतज्ञता (Gratitude) इत्यादि प्रकार के उदाहरण है। लॉक के अनुसार प्रकार की रचना मे मन अनेक सरल प्रत्ययो को जोड़कर एक जटिल प्रत्यय बनाकर उसे कोई एक नाम देकर स्थिर या स्थायी कर लेता है।

प्रकार भी दो तरह के हैं, अर्थात् (क) सरल और (ख) मिश्रित (Mixed)। अब यदि एक ही तरह के सरल प्रत्ययो से प्रकार बने हो तो उन्हें सरल कहते हैं और यदि प्रकार भिन्न तरह के सरल प्रत्ययो से बने, तो हम उसे मिश्रित कहते है। 'सुन्दरता' मिश्रित प्रकार का उदाहरण है, क्योंकि इसमे रूप, आकार, रंग, मोहकता इत्यादि सरल प्रत्ययो का योग है। मिश्रित प्रकार की रचना मे हमे ध्यान रखना चाहिए कि असगत प्रत्यय एक साथ न जुट जायँ।

एक ही तरह के सरल प्रत्ययो के विभिन्न योग को सरल प्रकार कहते है।[1] इसे सख्याओ के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हम सख्या की इकाइयो को जोडते जायँ तो बडी सख्या बन जायगी। परन्तु इस रीति से हम कितनी ही बडी सख्या क्यो न बनायँ, हम जानते हैं कि इकाइयो को यदि हम जोडते जायँ तो बडी-से-बडी सख्या बनती जायगी और इस तरह से किसी भी सख्या को परिमित (Limited) नही समझा जा सकता है। अत, हम समझते है कि सख्यायें अपरिमित (Infinite) है। इसलिए अपरिमित प्रत्यय (infinite idea) की धारणा अभावात्मक (Negative) है, न कि भावात्मक। यहाँ पर देकार्त और लॉक एक-दूसरे के विरोधी मत रखते हुए दिखाई देते है।

द्रव्य (Substance) —प्रकार-सिद्धान्त की अपेक्षा द्रव्य तथा सम्बन्ध के प्रति लॉक का सिद्धान्त अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इन सिद्धान्तो मे अनुभववाद का सशय-

1 Simple modes are 'Variations or different combinations of the same simple idea' without the mixture of any other.

(Scepticism) अस्फुट रूप मे पाया जाता है, जिसे आगे चलकर बर्कले तथा ह्यूम ने चरम सीमा तक पहुँचाया है।

द्रव्य के सम्बन्ध मे लॉक का विचार स्पष्ट नही दीखता है, क्योकि उन्होने इस प्रसग मे मनोवैज्ञानिक, तार्किक (Logical) तथा तात्त्विक (Metaphysical) भेदो के बीच अन्तर नही किया है। सामान्य रूप से बोध होता है कि द्रव्य आलम्बन या सहारा (Support) है, जो अनेक सरल प्रत्ययो को आश्रय देता है। उदाहरणार्थ, मीठे, सुगन्ध, गोलाकार, रग इत्यादि प्रत्ययो का एक आलम्बन है, जिसे हम सेब के नाम से पुकारते हैं। यहाँ लॉक का कहना है कि मीठा, सुगन्धित, गोलाकर इत्यादि गुण अपने से नही रह सकते हैं। उन्हें आलम्बन की आवश्यकता हो जाती है ताकि वे उसमे निहित हो। यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं। पहली बात यह है कि स्वय सरल प्रत्ययों मे द्रव्य-प्रत्यय नही पाया जाता है, पर इसके आधार पर सरल प्रत्ययो को व्यवस्थित किया जाता है। अत., द्रव्य प्रत्यय मन की अपनी देन है, जिसे सवेदना तथा आत्म-चिन्तन के आधार पर स्पष्ट नही किया जा सकता है। इसलिए लॉक का वह अनुभव-वाद, जिसके अनुसार ज्ञान मे सरल प्रत्ययो के अतिरिक्त कुछ है ही नही, असगत ठहरता है। दूसरी बात है कि लॉक के अनुसार द्रव्य-धारणा विचारो की बाध्यता पर निर्भर करती है। हम सोच ही नही सकते हैं कि बिना द्रव्य नामक आलम्बन के गुण स्वतन्त्र रीति से वास्तविक हो सकते हैं।[1] इसलिए हम बाध्य हो जाते हैं कि हम गुणो को द्रव्य-धारणा के आधार पर व्यवस्थित कर दें। पर यह बाध्यता (necessity) दो प्रकार की हो सकती है—मनोवैज्ञानिक और तार्किक। मनोवैज्ञानिक बाध्यता मानसिक आदत पर निर्भर करती है। बहुत कुछ ह्यूम के समान लॉक कहते हैं कि जब हम बहुत से सरल प्रत्ययों को बहुत बार एक साथ पाते है तो हमारे अन्दर आदत-सी हो जाती है कि हम उन्हें किसी आलम्बन या आश्रय मे सूत्रबद्ध समझें। परन्तु 'आदत या टेव' किसी प्रतिक्रिया को पुष्ट कर सकती है, न कि किसी नयी प्रतिक्रिया की रचना कर सकती है। यदि सरल प्रत्ययो मे द्रव्य धारणा हो ही नही, तो पचासो बार सरल प्रत्ययो को एक साथ देखकर भी हममे इस नयी धारणा की रचना नहीं हो सकती है।

परन्तु, शायद लॉक बताना चाहते थे कि सभी प्रकार के पदार्थों के सम्बन्ध मे विचारने मे कुछ ऐसी मूलधारणाएँ (Categories) हैं, जिनकी मदद लेना अनिवार्य हो जाता है। इस दृष्टिकोण से द्रव्य-धारणा तार्किक प्रत्यय हो जाती है। परन्तु मूलधारणा तो सवेदना तथा आत्मचिन्तन से प्राप्त नही हो सकती है, पर उससे प्राप्त

1 लॉक की युक्ति है कि idea of substance is 'obscure and relative', "being nothing but the supposed but unknown support of those qualities we find existing, which we imagine cannot subsist *sine re substantes* without something to support them"

सरल प्रत्ययों को सूत्रबद्ध तथा व्यवस्थित करने के लिए मन अपनी रचनात्मक शक्ति के कारण मूलधारणा को काम मे लाता है। अत, मूलधारणा सरल प्रत्यय नही है, पर सरल प्रत्यय को अनुभव मे सभव होने के लिए ही मूलधारणाओ की मदद लेनी पडती है। इसलिए यदि हम मूलधारणा को सरल प्रत्यय समझकर सवेदना तथा आत्म-चिन्तन के आधार पर स्पष्ट करना चाहें तो यह सभव नही हो पाता है। यही बात लॉक की द्रव्य-धारणा के सम्बन्ध मे हम पाते हैं। लॉक की द्रव्य-धारणा न तो सवेदना और आत्मचिन्तन से प्राप्त मालूम देती है और इसलिए तार्किक दृष्टिकोण से लॉक को द्रव्य-धारणा अज्ञात मालूम देती है (It is an unknown substratum or I-know-not-what)। परन्तु यदि द्रव्य अज्ञात प्रत्यय हो और अनुभवातीत हो, तो किस प्रकार अनुभववादी इसे स्वीकार कर सकता है? अत, द्रव्य धारणा को अज्ञात मानकर लॉक असंगत अनुभववादी हो गये हैं। फिर यदि द्रव्य का स्वरूप अज्ञात हो तो न हम भौतिक पदार्थ को और न आत्मिक पदार्थ को जान सकते हैं, और इसलिए लौक के दर्शन मे सशयवाद अस्फुट (Implicit) या गुप्त रीति से पाया जाता है। परन्तु वास्तव मे लॉक सशयवादी नही थे और इसलिए द्रव्य-विवेचन मे उन्होने तात्त्विक दृष्टिकोण की भी मदद ली है।

लॉक को द्रव्य को तात्त्विक सत् इसलिए मानना पडा कि यदि द्रव्य अज्ञात हो तो ईश्वर भी अज्ञात और अज्ञेय हो जाता है। लॉक ईश्वरवादी थे और ईश्वर को वे अज्ञात नही मान सकते थे। इसलिए धर्म-चर्चा के सम्बन्ध मे उन्होने बताया है कि द्रव्य-विवेचन मे प्रत्यय (Idea) और सत् (Being) दोनो आते है। द्रव्य की अज्ञातता इसके प्रत्यय से सम्बन्ध रखती है, पर द्रव्यात्मक सत्ता का अनस्तित्व नही माना जा सकता है। इस अर्थ मे लॉक पुद्गल या भौतिक पदार्थ (Matter), मन तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते है और साथ-ही-साथ इनके सम्बन्ध का ज्ञान भी सभव समझते हैं। तत्त्व-मीमासी दृष्टिकोण से द्रव्य वह है, जो सभी परिवर्त्तनो के रहने पर भी स्थायी रहे। इसी अर्थ मे देकार्त, स्पिनोजा तथा लाइबनित्स ने 'द्रव्य' को समझा था और वैज्ञानिक भी पुद्गल के सम्बन्ध मे इसी अर्थ को काम मे लाते हैं। वैज्ञानिक के अनुसार भी भौतिक जगत् की सभी वस्तुओ का नाश हो जाने पर भी इसका अणु (Atom) स्थायी तथा अक्षुण्ण रहता है। फिर वे मानते है कि पदार्थ ज्ञेय होता है। अत, लॉक इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए समझते हैं कि द्रव्य है और बहुत कुछ यह ज्ञात भी है। यह बात लौक के भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध मे स्पष्ट हो जाती है। अत लॉक के विचारो मे द्रव्य-धारणा तार्किक और तात्त्विक दृष्टिकोण से आत्म-विरोधी दिखाई देती है।

पुद्गल अथवा भौतिक पदार्थ :—भौतिक पदार्थ का सारगुण देकार्त्त के अनुसार विस्तार (extension) है, परन्तु लौक इस मत का खण्डन करते हैं।

उनके अनुसार भौतिक पदार्थ का सारगुण, ठोसपन (Solidity) है और यह इसलिए है कि भौतिक पदार्थ अभेद्य अणुओ के योग से वना है। इन अणुओ को लॉक ने अतीन्द्रिय (Insensible) कहा है और यद्यपि लॉक के वैज्ञानिक युग के अनुसार यह सही कहा जा सकता है तो भी इससे लॉक का अनुभववाद असगत हो जाता है।

फिर लॉक के अनुसार पुद्गलो मे दो प्रकार के गुण है, अर्थात् प्राथमिक (Primary) और अप्राथमिक (Secondary) या गौण गुण। छ प्राथमिक गुण हैं, अर्थात् ठोसपन, विस्तार, आकार, गति, विश्राम या स्थिति (Rest) और सख्या (Number)। प्राथमिक गुण वास्तव मे भौतिक पदार्थ मे हैं और इन्ही प्राथमिक गुणो के कारण गौण गुण हममे उत्पन्न होते हैं। फिर चूंकि लॉक प्रतिरूपात्मक सिद्धान्त (Copy theory) को असाक्षात् रीति से मानते हैं, इसलिए इनके अनुसार प्राथमिक गुणों की सही-सही नकल हमारे ज्ञान मे पायी जाती है। इन दोनो मे गौणगुण प्राथमिक गुण से भिन्न हैं। रंग, स्वाद, ध्वनि इत्यादि गौण गुण हैं। ये वास्तव मे भौतिक वस्तुओ मे नही पाये जाते हैं, परन्तु ये पूर्णतया विषयी (Subjects) पर निर्भर करते हैं। यदि मानव मे आँख न हो तो रग का गुण न होगा और यदि कान न हो तो ध्वनि न होगी। इसी रीति से सभी गौण गुण मानवो की इन्द्रियो पर निर्भर करते हैं। फिर गौण गुण सापेक्ष (Relative) है, क्योकि एक ही प्रकार का गौण गुण व्यक्तियो को भिन्न-भिन्न मालूम देता है। यहाँ पर लॉक ने उदाहरण दिया है कि यदि किसी वर्त्तन मे हम गरम पानी रख दें और फिर दाहिने हाथ को उसमें थोडी देर तक डाले रहें तो दाहिने हाथ के लिए पानी सुसुम मालूम देगा। पर यदि हम एकाएक बायाँ हाथ इसमे डालें तो यह गरम प्रतीत होगा। अब यदि जल का ताप वास्तव मे जल मे रहता तो यह दोनो हाथो के लिए एक समान होता। पर ऐसी वात नही देखने मे आती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गौण गुण इन्द्रियो पर निर्भर करते हैं। पर यदि गौण गुण इन्द्रियो पर निर्भर करते हैं तो भी उनका कोई वास्तविक आधार है और यह हैं प्राथमिक गुण। ठोसपन, विस्तार इत्यादि का प्रभाव हमारी इन्द्रियो पर पडता और तब हमारे अन्दर गौण गुण उत्पन्न होते हैं।

अतः, भौतिक पदार्थों के गुण-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ को अज्ञात नही समझा जा सकता है।

मन-विवेचन—जिस प्रकार बाह्य भौतिक पदार्थों को हम सवेदनाओ के आधार जानते हैं, उसी प्रकार से आत्मचिन्तन (Reflection) के द्वारा हम मन के विषय मे ज्ञान प्राप्त करते है। आत्मचिन्तन के आधार पर हम जानते है कि वस्तु सवेदन (perceiving), स्मरण-प्रक्रिया, विचारना, सकल्प करना इत्यादि मन के

गुण है। लॉक के अनुसार मन के दो प्राथमिक गुण हैं, अर्थात् (क) विचार और (ख) सकल्प के द्वारा शारीरिक व्यापार को उत्पन्न करने की क्षमता। इन दोनो गुणो मे अज्ञात आलम्बन (Unknown substratum) के प्रत्यय को जोडकर हम मन की धारणा स्थापित करते है[1]। अत लॉक के अनुसार पदार्थों के समान गुणो को तो जानते हैं, परन्तु उनके द्रव्य-सम्बन्धी (Concerning substantial nature) स्वरूप को नही जानते हैं। परन्तु क्या गुण और द्रव्य के बीच ऐसे भेद का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है कि हम गुण को जानें, और इसके आलम्बन द्रव्य को न जानें ? द्रव्य और गुण के बीच अवियोज्य (Inseparable) सम्बन्ध है और वास्तव मे द्रव्य बिना गुण के सम्भव नही होता है। अत, जब हम गुण को जानते हैं तब उसी परिमाण मे हम द्रव्य को भी जानते हैं। अत, द्रव्य और गुण को एकदम दूसरे से अलग करके लॉक ने गलत समस्या हमारे सामने रख दी है।

फिर लॉक ने असगत रूप से यह भी बताया है कि हम अपने मन या आत्मा को साक्षात् रीति से सहज ज्ञान या प्रतिभान (Intuition) के द्वारा जानते हैं और इस प्रकार के ज्ञान को स्पष्ट तथा परिस्पष्ट[2] कहा है। अत यहाँ भी हम देखते हैं कि लॉक ने द्रव्य-प्रत्यय को दो भिन्न-भिन्न रूपो मे काम मे लाया है अर्थात् तार्किक और तात्त्विक (Metaphysical)। अब तार्किक द्रव्य-विचार के दृष्टिकोण से द्रव्य अज्ञात है, पर तात्त्विक दृष्टिकोण से यह ज्ञात रहता है। चूँकि लॉक ने अपने इन दो मतो को स्पष्ट नही किया है, इसलिए वे द्रव्य-सम्बन्धी मीमासा मे असगत हो गये है और यह बात उनके ईश्वर-विवेचन मे भी स्पष्ट रीति से पायी जाती है।

---

1 भौतिक तथा आत्मिक द्रव्यो के बीच अन्तर को स्थापित करते हुए लॉक ने इस प्रकार लिखा है : 'The one is as clear and distinct an idea as the other, the idea of thinking and moving a body being are as clear and distinct ideas as the ideas of extension, solidity and being moved. For our ideas of substance is equally obscure, or none at all, in both, it is but a supposed I-know-not, what to support those ideas we call accidents' (Essays B K II 23 15)

2 "As for our own existence; we perceive it so plainly and so certainly that it neither needs nor is capable of any proof For nothing can be more evident to us than our own existence—Experience then convinces us that we have an *infinite knowledge* of our own existence and an internal infallible perception that we are In our act of sensation, reasoning, our thinking we are conscious to ourselves of our being and in this matter, come not short of the highest degree of certainty" (Essays, BK IV. 9.3)

ईश्वर-विचार—ईश्वर के सम्बन्ध मे लॉक इस बात को स्वीकार नही करते हैं कि ईश्वर अज्ञात या अज्ञेय है। ईश्वर के प्रति लॉक का मत है कि ईश्वर ज्ञात हैं और इस प्रकार के ज्ञान को असंदिग्ध समझना चाहिए[1]। ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान को लॉक ने प्रदर्शनात्मक (Demonstrative) या निर्देशात्मक कहा है। ईश्वर के गुण के विषय मे लॉक ने बताया है कि ईश्वर मे वे सब गुण पाये जाते है, जो हम आत्म-चिन्तन के आधार पर अभीष्ट समझते है। परन्तु ये सब गुण ईश्वर मे अपरिमित रीति से पाये जाते हैं।

कारण-कार्य का सम्बन्ध— लॉक ने बताया है कि सभी सरल प्रत्ययो में चाहे वे सवेदन के द्वारा या आत्मचिन्तन के आधार पर प्राप्त हो, परिवर्त्तनशीलता देखने मे आती है। इन सभी घटनाओ को हम बिना कारण-कार्य के सम्बन्ध को काम मे लाये हुए नही समझ सकते हैं। इसलिए लॉक के अनुसार जहाँ किसी भी घटना का आरम्भ हो, वही उसका कारण भी अवश्य होगा, Everything that has a beginning must have a cause. अब उत्पादक (Producer) को कारण और उत्पादित (Produced) को कार्य कहा जा सकता है। परन्तु, जहाँ हम उत्पादक-उत्पादित के सम्बन्ध पर ध्यान देते हैं, वहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादक मे ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा वह कार्य उत्पन्न करता है। इसलिए प्रश्न उठता है कि क्या हम ऐसी किसी शक्ति की अनुभूति करते हैं, जिससे हम कह सकें कि अमुक कारण (क) मे अमुक कार्य (ख) मे परिवर्त्तन होता है? अब लॉक का कहना है कि बाह्य वस्तुओ के परिवर्त्तन मे हम उत्पादक और उत्पादित के बीच किसी शक्ति को नही देखते हैं। हम केवल उनके बीच के पूर्वापर (Successive) सम्बन्ध-मात्र को ही देखते हैं*। यदि ऐसी बात हो तो लॉक को स्वीकार नही करना चाहिए कि कारण मे उत्पादक शक्ति (Power) है जिससे कार्य उत्पन्न होता है। परन्तु लॉक यहाँ भी असगत अनुभववादी सिद्ध होते है।

अब लॉक का कहना है कि बाह्य वस्तुओ मे तो हम उत्पादक शक्ति नही देखते है, परन्तु इसे हम अपनी इच्छात्मक या सकल्पात्मक प्रक्रियाओ (Voluntary

---

1 Thus from the consideration of ourselves and what we infallibly find in our constitutions our reason leads us to the knowledge of this certain and evident truth, that there is an eternal, most powerful and most knowing Being, which whether any one pleases to call God, it matters not", (Essays, Part IV, 10 6)

*यहाँ लॉक विलिअर्ड के बौल की उपमा देते हैं। यदि विलिअर्ड के एक बौल मे धक्का दिया जाय तो बौल दूसरे बौल से टक्कर मारकर उसमे गति उत्पन्न कर देता है, पर क्या उसमे हम उत्पादक शक्ति को पाते हैं?

actions) मे अवश्य देखते है [2] और इसी अनुभूति के आधार पर हम कह सकते हैं कि सभी घटनाएँ किसी-न-किसी उत्पादक शक्ति के आधार पर सभव होती हैं। परन्तु यहाँ लॉक की युक्ति (Argument) ठीक नही है। सकल्पात्मक प्रक्रिया मे शरीर-मन का (Psycho-physical) सम्बन्ध है और जो बात यहाँ सत्य होगी उसे कैसे कहा जाय कि वह शुद्ध भौतिक वस्तुओ मे भी सही होगी ?

अत, लॉक का कारण कार्य के प्रति विचार स्पष्ट नही था और उनका यह कहना है कि everything which has a beginning must have a cause, पूर्वानुभवजन्य (a priori) बात है, जिसे उनके ऐसे अनुभववादियो को स्वीकार नही करना चाहिए।

ज्ञान-मीमांसा (Theory of knowledge)

लॉक का उद्देश्य था कि वे ज्ञान के आदि या पूर्वरूप (Original archetype) तथा उसकी असदिग्घता और सीमा का अध्ययन करें। साथ ही साथ इस बात का भी निर्णय करें कि ज्ञान का क्या आधार है और फिर किन-किन मात्राओ (Degrees) मे किन-किन वस्तुओ या विषयो का ज्ञान हमे प्राप्त होता है [2]। फिर हमलोगो ने देखा है कि लॉक के अनुसार ज्ञान मतो (Opinions) से भिन्न है और इसे असदिग्घता तथा शिक्षाप्रद (Instructive) होना चाहिए और वास्तविकता के साथ इसका मेल रहना चाहिए। अत लॉक की ज्ञान-मीमासा मे तीन मुख्य प्रश्न देखने मे आते है

(१) ज्ञान की असदिग्घता (Certainty) और सभाविता (Probability) कैसे स्थापित की जाती है ?

Also when by impulse it sets another ball in motion it had received from another, and loses in itself so much as the other received, which gives us but a very obscure idea of an *active* power moving in a body, Whilst we observe it only to *transfer* but not produce any motion (BK. II, 21 4) यहाँ इसी बात को ह्यूम ने और अधिक स्पष्ट की है जिसे हम आगे चलकर देखेंगे।

1. "The idea of the *beginning* of motion we have only from reflection on what passes in ourselves when we find by experience that barely by wishing it, barely by a thought of the mind, we can move the parts of our bodies, which, were before at rest." (BK II 21 4)

2 लॉक ने ज्ञान-मीमासा के प्रति अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है।
His purpose is to enquire into the origin, certainty and extent of *human knowledge* together with the ground and degrees of belief, opinion and assent.

(२) ज्ञान की वास्तविकता (Reality) कैसे निर्धारित की जाय ?

(३) ज्ञान मे किस प्रकार की नवीनता रहने पर इसे शिक्षाप्रद समझा जाय ?

परन्तु इसके पहले कि हम तीनो प्रश्नो पर प्रकाश डालें, हमे जानना चाहिए कि लॉक के अनुसार ज्ञान का स्वरूप क्या था। उन्होने ज्ञान की परिभाषा इस रीति से की है : प्रत्ययो के बीच सगति (Agreement) या असगति (Disagreement) या विरोधिता (repugnance) के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को ज्ञान कहते हैं [1]। इस परिभाषा पर ध्यान देने से पहली बात तो यह मालूम देती है कि ज्ञान-प्राप्ति मे मन निष्क्रिय न रहकर सक्रिय रहता है, क्योकि स्वय मन को देखना पडता है कि प्रत्ययो के बीच सगति है या नही। दूसरी बात है कि ज्ञान को सम्बन्धात्मक (Relation) कहा गया है, क्योकि प्रत्ययो के बीच की सगति या असगति के सम्बन्ध पर ज्ञान निर्भर करता है। फिर लॉक ने ज्ञान की परिभापा मे केवल प्रत्ययो का ही उल्लेख किया है और वस्तुओ तथा प्रत्यय के बीच प्रतिरूपता या अनुरूपता इत्यादि के सम्बन्ध की अवहेलना की है। हम आगे चलकर देखेंगे कि वास्तव मे लॉक प्रत्ययवादी (Idealist) नही थे, क्योकि ये प्रत्ययो को वस्तुओ का चिह्न (Signs) समझते थे और इसलिए इनके ज्ञान मे वास्तववाद है। हाँ, यह ठीक है कि इस बात को इन्होने अपने ज्ञान की परिभाषा मे स्पष्ट नही किया है। परन्तु यदि हम मान भी लें कि लॉक वास्तववादी थे तो भी इन्होने प्रत्ययो के बीच ज्ञान को सीमित बनाकर अपने अनुभववाद को एकागी बना लिया है। अब लौक के ज्ञान के स्वरूप के प्रति मत को जानकर हम इसके सम्बन्ध मे उसकी मात्रा, वास्तविकता और शिक्षाप्रदता के प्रश्न पर विचार करेंगे।

ज्ञान की असदिग्धता की मात्रा (Degrees)—सहज प्रत्यक्ष ज्ञान (Intuitive knowledge) सबसे अधिक असदिग्ध है। जहाँ हम दो प्रत्ययो के बीच सगति या असगति साक्षात् रीति से देखते हैं उसे हम अन्त प्रज्ञा कहते हैं [2]। जैसे सफेद काला नही है या तीन दो से अधिक है। ऐसा मालूम होता है कि लॉक भी देकार्त, स्पिनोजा इत्यादि की भाँति गणित से प्रभावित हुए थे और चूँकि इसमे अनिवार्य तथा असदिग्ध ज्ञान पाया जाता हैं, इसलिए समस्त ज्ञान को इसी आदर्श से प्रभावित होकर असदिग्ध माना है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ज्ञान को इस प्रकार मान लेने मे कठिनाई पड जाती है।

---

1 Locke defines knowledge as "nothing but *the perception of the connetion of and agreement or disagreement and repugnancy of any of our ideas* In this alone it consists" (BK IV, 1 2)

2 "Sometimes the mind perceives the agreement or disagreement of two ideas immediately by themselves, without the intervention of any other and this, I think, we may call intuitive knowledge."

सहज अन्त प्रज्ञा के बाद निर्देशात्मक (Demonstrative) या प्रदर्शनात्मक ज्ञान की बारी आती है। जब हम दो प्रत्ययों के बीच साक्षात् तुलना में सम्बन्ध नही देख पाते है तब हम अन्य प्रत्ययों के माध्यम से उनकी तुलना की संगति या असगति को खोज निकालते है, जैसे $A > B$; $B > C$, $\therefore A > C$ । यहाँ हमें कई पग देखने मे आते है, परन्तु प्रदर्शनात्मक ज्ञान को असदिग्ध बनाये रखने के लिए प्रत्येक पग मे सहज प्रत्यक्ष रहना चाहिए। प्रदर्शनात्मक ज्ञान असंदिग्ध अवश्य है, पर इनमे गलती की गुंजाइश है। पहली बात है कि ध्यान बँटने पर गलती हो जा सकती है। फिर जबतक हमे सदेह न हो तबतक हम नाना पगो के आधार पर प्रदर्शनात्मक प्रक्रिया नही दुहराते हैं। अत इसमे सदेह किसी रूप मे रह सकता है। अत मे प्राय प्रदर्शनात्मक ज्ञान मे अनेक पग रहते है और इसलिए पिछले पगो मे अगले पगो की स्मृति रखनी पडती है और हम जानते है कि स्मृति मे धोखा हो जाता है। इसलिए स्मृति पर आधारित रहने के कारण प्रदर्शनात्मक ज्ञान उतना असदिग्ध नही समझा जा सकता है जितना अत प्रज्ञा होती है।

अब लॉक की विशेषता है कि वे समझते थे कि गणितशास्त्र को छोड़कर आचारशास्त्र तथा ईश्वर-विज्ञान (Theology) मे भी प्रदर्शनात्मक ज्ञान सभव है। परन्तु लोगो के अनुरोध करने पर भी आपने इस प्रकार की युक्तियो का उदाहरण हमारे सामने नही रखा है।

इन्द्रिय-ज्ञान (Sensitive knowledge)—लॉक ने ज्ञान को प्रत्ययों के बीच ही सीमित रखा है और प्रत्यय तो सार्वभौम (Universal) ही हो सकते है। अत लॉक की परिभाषा के अनुसार ज्ञान केवल सार्वभौम ही हो सकता है। अत लॉक के विचारो मे प्लेटोवाद की झलक मालूम देती है, परन्तु आप वास्तव मे प्लेटोवादी न होकर अनुभववादी थे। परन्तु अनुभव के आधार पर केवल वस्तु-विशेषो (Particulars) का ज्ञान सभव हो सकता है। इसलिए अनुभववादी लाक ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को भी एक प्रकार का ज्ञान कहा है ताकि इसके आधार पर वस्तु-विशेषो का ज्ञान प्राप्त हो सके*। परन्तु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान मे न तो अनिवार्यता है और न असदिग्धता। अत सचमुच लाक की परिभाषा के अनुसार इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ज्ञान समझना ही नही चाहिए, परन्तु फिर भी लाक इसे 'ज्ञान' की सज्ञा दिये बिना रह नही सके।

---

* इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के सम्बन्ध मे लॉक ने इस प्रकार लिखा है "There is indeed, another perception of the mind, employed about *the particular existence of finite beings without us*. which going-beyond bare probability and yet not reaching perfectly to either of the foregoing degrees of certainty, passes under the name of knowledge (BK. IV,2 14)

तो वास्तव मे क्या लाक इतने अधिक आत्मविरोधी थे कि आँख मूँदकर प्रत्यय-सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रदर्शनात्मक ज्ञान और इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के बीच अन्तर समझकर भी सब को 'ज्ञान' पुकारने लगे ? बात यह नही थी। लौक अनेक स्थलो पर असगत अनुभववादी अवश्य थे, पर यहाँ पर वे असगत नही है। वे बतलाना चाहते थे कि वास्तव मे ज्ञान दो प्रकार का है—एक है सार्वभौम और यह प्रत्ययो मे सीमित है, और दूसरा है वस्तुविशेषो का ज्ञान, पर यह सभव-मात्र है अब जहाँ अनिवार्य, असदिग्ध तथा सार्वभौम ज्ञान है वहाँ वस्तुविशेषो की वास्तविकता (Existence) का ज्ञान नही मिल सकता है, और जहाँ वस्तु-विशेषो की वास्तविकता मिलती हैं वहाँ असदिग्धता तथा सार्वभौमिकता नही मिल सकती है † लौक की इस उक्ति मे ह्यूम का प्रसिद्ध निष्कर्ष झलकता है, जिसके अनुसार केवल दो ही प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य सभव हैं अर्थात् वे, जिनका सम्वन्ध सख्या की अमूर्त्तबोधित युक्तियो (Abstract reasoning) से है और वे, जिनका सम्वन्ध वास्तविक वस्तुओ से है। हम पाते हैं कि इन उक्तियो का प्रभाव वर्त्तमानकालिक तार्किक प्रत्यक्षवादियो (Positivists) पर पर बहुत है। इसलिए लौक की देन यहाँ महत्त्वपूर्ण समझी जायगी।

ज्ञान की वास्तविकता —अब जो बात इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को भी ज्ञान पुकारने मे पायी जाती है वह बात ज्ञान की वास्तविकता के सम्बन्ध मे स्पष्ट हो जाती है। यदि हम ज्ञान को प्रत्ययो के बीच ही सीमित करें, तो हमारा ज्ञान वास्तविक वस्तुओ के प्रति किस प्रकार से सत्य होगा और विज्ञान तथा जीवन मे हमे तो यथार्थ वस्तुओ से ही काम लेना है। स्वय लौक ने इस प्रसग मे लिखा है,

"But of what use is all this fine knowledege of *men's own imaginations* to a man that inquires after the reality of things ? It matters not what men's fancies are, it is the knowledge of things that is only to be prized it is this alone (which) gives a value to our reasonings, and preference to one man's knowledge over another's that it is of things as they really are and not of dreams and fancies ' (BK,IV I 4)

अत , यद्यपि लौक ने ज्ञान को प्रत्ययो के बीच ही सीमित रखा है तोभी उनका उद्देश्य यही था कि ज्ञान वास्तविक भी हो। ज्ञान को वे इसलिए वास्तविक समझते थे कि

---

† **सार्वभौमिक तथा अशव्यापी ज्ञान के बीच अन्तर करते हुए लौक ने लिखा है;**
Where, by the way, we may take notice, that universal propositions of whose truth-falsehood we can have certain knowledge, concern not existence : and further that all particular affirmations . . are only concerning existence, they declaring only the accidental union or separation of ideas in things existing " (BK. IV, 9 1)

उनके अनुसार प्रत्यय वास्तविक वस्तुओ का चिह्न और उनका प्रतीक है और इस लिए यदि ज्ञान प्रत्ययो मे सगत रूप से प्राप्त हो जाय तो असाक्षात् रीति से इस ज्ञान को वास्तविक भी समझा जा सकता है। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि हम प्रत्ययो को ही साक्षात् रीति से जानें और उनके आदिरूप (Original) को इस रीति मे न जाने तो हम किस प्रकार से आदि रूप और प्रत्ययो के वीच की अनुरूपता (Correspondence) या प्रतिरूपता (Representation) को सही या गलत वता सकते हैं ? स्वय लाक ने इस कठिनाई को हमारे सामने इस प्रकार रखा है "It is evident that the mind knows not things immediately but only by the intervention of the ideas it has of them Our knowledge, therefore, is real only so far as there is a *Conformity* between our ideas and the reality of things. But what shall be here the criterion ? How shall the mind, when it perceives nothings but its own ideas, know that they agree with things themselves ?" (BK IV,4 3) परन्तु लाक ने स्वय इस आपत्ति का कोई समाधान नही किया है। उन्होने केवल बताया है कि प्रत्ययो और वास्तविक वस्तुओ के वीच अनुरूपता अवश्य होनी चाहिए चाहे उनके वीच सादृश्य (Resemblance) हो या न हो।

अब सरल प्रत्ययो की वास्तविकता मे तो कोई आपत्ति नही हो सकती है, क्योकि लौक का कहना है कि इसपर हमारी इच्छा का कोई अधिकार नही रहता है। हम अपने मन से सफेदी, कालापन, ताप या ठण्डा पैदा नही कर सकते हैं और जब हम ध्यानस्थ हो तो यदि हमारे सामने लाल या हरा रग हो तो हम उन्हें अवश्य ही देख लेते हैं। अत, सरल प्रत्ययो मे अपनी वाध्यता होती है, जिससे हम उन्हें जान लेते हैं। इसलिए उनकी वास्तविकता इसी मे है कि वाह्य वस्तुओ से उत्पन्न हो। इसलिए सरल प्रत्ययो तथा वाह्य वस्तुओ के वीच अनुरूपता रहती है और इसलिए वे वास्तविक कहे जा सकते हैं।

अव मिश्रित तथा जटिल (Complex) प्रत्ययो की वास्तविकता का प्रश्न उठता ही नही है, क्योकि ये मानसिक रचनाएँ हैं और मन इनकी रचना मे किसी आदिरूप (original Archetypes) से प्रभावित नही होता है। यहाँ केवल इसी बात का ध्यान रखना चाहिए कि मिश्रित तथा जटिल प्रत्यय ऐसे हो कि इनके वास्तविक हो जाने की सम्भावना वनी रहे। यहाँ लौक ज्यामितिक रचना को अपने ध्यान मे रखे हुए थे। वे जानते थे कि विन्दु, रेखा, धरातल इत्यादि वास्तविक नही होते है और फिर भी उनके आधार पर सत्य रचनाएँ की जा सकती हैं†। अपितु, इस

†Thus according to Locke the knowledge of the mathematician is real, for "he is sure what he knows concerning those figures when they have barely an ideal existence in his mind, will hold true of them also when they have a real existence in matter"

प्रकार की गाणितिक रचना को वास्तविक समझा जा सकता है; क्योंकि आदर्श वृत्त तथा त्रिभुज के वास्तविक होने की सम्भावना रहती है। यही बात लाक ने नीतिशास्त्र के सम्बन्ध मे कही है। हो सकता है कि नीतिशास्त्रज्ञ को 'हत्या-सम्बन्धी' वास्तविक ज्ञान न हो, तो भी उसके नैतिक विचारो को वास्तविक कहा जा सकता है, क्योंकि हत्या इत्यादि घटनाएँ वास्तविक हो सकती हैं।

लौक का मत गाणितिक सत्यता के सम्बन्ध मे पर्याप्त नही था। वास्तव में मे गाणितिक विचारो को इसलिए नही सत्य माना जाता है कि वे स्पष्ट तथा परिस्पष्ट प्रत्ययो पर आधारित होते हैं या उनके वास्तविक हो जाने की कोई सम्भावना होती है। गाणितिक युक्तियाँ इसलिए असंदिग्ध मालूम देती हैं कि वे मन-रचित परिभाषाओ तथा मन्तव्यो (Assumptions) पर आधारित रहती हैं। जबतक हम विन्दु, रेखा, सामानान्तर रेखा इत्यादि की परिभाषाओ को स्वीकार करेंगे तबतक युक्लिड की ज्यामितिक युक्तियाँ मानव-रचित मन्तव्यो की स्वीकृति पर आधारित होती हैं और इसलिए इनमे वास्तविकता का प्रश्न उठता ही नही है।

फिर लौक समझते थे कि किसी वस्तु की सम्भावना-मात्र से उनकी वास्तविकता का प्रश्न हल नही हो सकता है। "For the having of the idea of anything in our mind, no more proves the existence of that thing than the picture of a man evidences his being in the world or the visions of a dream make thereby a true history."(BK IV, 1.11)। यह बात द्रव्य के सम्बन्ध मे विशेषतया सत्य ही कही जा सकती है। यदि हम सरल प्रत्ययों को जोडकर समझ लें कि उडनखटोला या उडाऊ घोडा है तो इससे इन द्रव्यो की वास्तविकता सत्य नही हो सकती है। द्रव्यो के सत्य होने के लिए हमे जानना चाहिए कि वास्तव मे प्रत्ययो का जटिल प्रत्यय यथार्थ है और फिर हमे उनका वास्तविक अनुभव करना चाहिए। † लौक ने द्रव्य के सम्बन्ध मे इन शर्तों को इसलिए रखा है कि वे द्रव्य को तात्त्विक सत्ता समझते थे और चाहते कि उनके सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान भी वास्तविक रीति से सत्य हो।

ज्ञान मे शिक्षाप्रदता (Instructiveness) —लाक ने ज्ञान के अन्दर सभी वाक्यो को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा है। उन्होने वाक्यो को तुच्छ (Trifling) और शिक्षाप्रद (Instructive) दो वर्गों मे बाँट दिया है। तुच्छ वाक्य वे हैं, जिनसे ज्ञान-वृद्धि नही होती है। या तो वे तादात्म्य वाक्य (Tautologous) होते है या विश्लेषणात्मक (Analytic) होते हैं। तादात्म्य वाक्य का उदाहरण है कि 'राम' राम है; या 'क' क है। उसी प्रकार से विश्लेषणात्मक वाक्य वे हैं, जिनमे हम उद्देश्य के पूरे

†Our ideas of substances "must not consist of ideas put together at the pleasure of our thoughts, without any real pattern they were taken from, though we can perceive no inconsistency in such a combination" (BK. IV, 41 12)

या कुछ ही गुणो को विधेय मे व्यक्त करते है, जैसे—सभी मानव पशु हैं, या मानव विवेकशील प्राणी है। अब तादात्म्य तथा विश्लेषणात्मक वाक्य अनिवार्य रूप से सत्य है, पर लाक ने इन्हें तुच्छ इसलिए कहा है कि इनमे ज्ञानवृद्धि अथवा नूतन ज्ञान नही मिलता है। इनके विपरीत शिक्षाप्रद वाक्य वे है जिनसे ज्ञानवृद्धि होती है और इसलिए इन वाक्यो के विधेय मे उन गुणो को व्यक्त किया जाता है जो उद्देश्य की गुणवाचकता मे नही पाये जाते है। लौक का उदाहरण इस प्रसग मे है कि किसी भी त्रिभुज का वहिष्कोण उसके सामने के अन्त कोण से बडा होता है।

हम देखेंगे कि आगे चलकर इन वाक्यो को काण्ट ने विश्लेषणात्मक तथा सश्लेषणात्मक (Synthetic) वाक्यो मे बांटा है और जो वर्त्तमानकालिक तार्किक अनुभववाद मे परिशुद्ध होकर विशेष स्थान रखता है।

ज्ञान की सीमा (Limits)

इतनी बात निश्चित है कि ज्ञान प्रत्ययो मे ही सीमित है। जिन पदार्थों का हमे प्रत्यय नही हो सकता, उनका हमे ज्ञान भी सभव नही है। पर जहाँ प्रत्यय भी हो वहाँ भी हो सकता है कि हमारा ज्ञान मभव न हो, क्योकि अति दूर तथा अति सूक्ष्म वस्तुओ का प्रत्यय भी स्पष्ट नही होता है। यही कारण है कि लौक परमाणुओ के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उनके सम्वन्ध के ज्ञान को सार्वभौम तथा अनिवार्य नही मानते है। फिर ज्ञान सम्बन्धात्मक (Relational) होता है और अनेक स्थलो पर हम प्रत्ययो के बीच अनिवार्य सम्बन्ध नही पाते हैं, जैसे प्राथमिक तथा गौण गुणो के बीच हम अनिवार्य सम्बन्ध नही देखते हैं। अत, यहाँ भी हमारा ज्ञान सीमित रह जाता है। यह ठीक है कि गणित तथा आचारशास्त्र (Ethics) मे हमारा ज्ञान अनिवार्य तथा असदिग्ध रहता है, पर यहाँ अमूर्त्तबोधित (Abstract) प्रत्यय रहते हैं, जिनकी अपनी वास्तविकता नही पायी जाती है। अत, एक तो ज्ञान जो अनिवार्य तथा असदिग्ध हो अतिसीमित ही पाया जाता है और फिर इसकी वास्तविकता सभव नही होती है। इसलिए प्रत्ययो के बीच ही ज्ञान को सीमित रखकर लौक ने ऐसे ज्ञान को, जो असदिग्ध तथा वास्तविक दोनो ही असभव बना दिया है। ऐसी अवस्था में उन्हें सन्देहवादी तथा अज्ञेयवादी ही रहना चाहिए था, पर लौक अज्ञेयवादी नही थे, क्योंकि उन्होने सामान्यतया ऐसे ज्ञान को स्वीकार किया है, जो वास्तविक भी हो और असदिग्ध भी हो।

पहली बात है कि वे मानते हैं कि हमे अपनी आत्म (self) के सम्बन्ध मे सहज प्रत्यय ज्ञान (Intuitive knowledge) है, जो असदिग्ध और वास्तविक दोनो है। फिर उन्होने स्वीकार किया है कि ईश्वर वास्तविक है और इसके सम्बन्ध मे हमे असदिग्ध प्रकार का प्रदर्शनात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। अपितु, जगत् के सम्बन्ध मे भी वे सशयवादी नही थे। इस प्रसग मे वे मानते थे कि—

(क) वस्तु-विशेष वास्तव मे हैं, जिनकी ओर प्रत्ययो का सतत सकेत रहा

करता है। इस अर्थ मे प्रत्यय सही चिह्न हैं, जिनसे वस्तुओ की जानकारी हो सकती है।

(ख) फिर यथार्थ वस्तुओ का प्राथमिक गुण हम जान सकते हैं।

(ग) सम्पूर्ण जगत की सत्ता भी सत्य माननी चाहिए, क्योकि

(१) यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि यदि जगत् सत्य न होता तो सवेदना और प्रतिमा (Image) के बीच कोई भेद न रहता। पर हम जानते हैं कि सवेदनाओ की सजीवता इसलिए होती है कि वे वास्तविक जगत् के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं।

(२) फिर सवेदनाओ मे अपनी बाध्यता होती है, जिसके कारण हमे उनकी ओर ध्यान देना होता है।[1] ये सवेदनाएँ इसलिए हमारी इच्छाओ से स्वतत्र रहती हैं कि वास्तविक जगत् से उत्पन्न होती है।

(३) अन्त मे इन्द्रियो से गुण उत्पन्न नही होते हैं, पर इनसे ये ग्रहण किये जाते हैं। यदि इन्द्रियो से गुण भी उत्पन्न होते तो बिना वास्तविक पदार्थ के हमे गुणो का ज्ञान हो जाता।

अत, लौक आत्म, ईश्वर तथा जगत् की वास्तविकता ग्रहण करते हैं, पर प्रश्न उठता है कि क्या वे सहज प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, शिक्षाप्रद तथा तुच्छ ज्ञान के बीच के अन्तर को निभाते हुए वास्तविक ज्ञान को असदिग्ध या असदिग्ध ज्ञान को वास्तविक स्वीकार कर सकते है? लौक ने ज्ञान के दो प्रकार के वाक्यो को उचित ही दो भागो मे बाँटा है अर्थात् एक को प्रत्ययो के फलस्वरूप माना है और दूसरे को वस्तु-विशेषो के सम्बन्ध मे ही सत्य समझा है।[2] पर सगत रीति से उन्हें मानना चाहिए था कि अनिवार्य तथा असदिग्ध ज्ञान केवल अमूर्त्तबोधित तथा परिभाषित प्रत्ययो मे ही सभव होता है और वस्तु-विशेषो का ज्ञान सभाव्य (Probable) ही हो सकता है। पर उन्होने असगत रूप से आत्मा तथा ईश्वर के ज्ञान को वास्तविक और असदिग्ध दोनो माना है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ह्यूम ने और फिर काण्ट ने स्पष्ट कर दिया है कि हमे किसी स्थायी आत्मा का ज्ञान आत्मनिरीक्षण के आधार पर सभव नही हो सकता है। फिर हमे ईश्वर का ज्ञान न तो सवेदना से और न आत्म-चिन्तन से हो सकता है।

फिर जगत् के सम्बन्ध मे लौक की देन स्पष्ट नही है। अब वस्तु और प्रत्यय के बीच तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रमुख हैं, अर्थात् (क) प्रत्ययो के द्वारा हम वस्तुओ को साक्षात् रीति से जानते हैं, (ख) वस्तुओ से हमारे मन मे प्रत्यय उत्पन्न होते है,

1 "If I turn my eyes at noon towards the sun, I cannot avoid the ideas which the light or sun then produces in me"

2 लॉक ने इस प्रकार के वाक्यों के सम्बन्ध में लिखा है "In the former case, our knowledge is the consequence of the existence of things ... in the latter, knowledge is the consequence of the ideas"

(BK IV, 11. 14, फिर देखें BK. IV. 9. 1)

परन्तु हम प्रत्ययो को ही साक्षात् रीति से जानते है और वस्तुओं को असाक्षात् रीति से ही जानते हैं। (ग) प्रत्ययो को छोडकर वस्तुओ की अपनी और कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। लौक ने अपने मत को (ख) के समान ही हमारे सामने रखा है, परन्तु वे (क) के समान अपने को वास्तववादी मानते थे। इन सब कारणो से लौक का मत अस्पष्ट तथा असगत-सा मालूम देता है।

अत, ज्ञान को अनिवार्य तथा असदिग्ध मानकर लौक ने बुद्धिवादियो का साथ दिया है और फिर इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को हीन वताकर अपने अनुभववाद को पुष्ट नही किया है। इसलिए आपको बेकनीय अनुभववादी न कहकर देकार्तवादी कहना चाहिए *। आप ज्ञान की इमारत अनुभववाद की नीव पर रख करके बुद्धिवादी नमूने को अपनाना चाहते थे और इसलिए इस इमारत के ठोसपन मे कमी रह गई है।

लॉक के दर्शन का मूल्याकन— आधुनिक दर्शन मे बेकन और देकार्त ने नयी विधि खोज निकाली, जिसके आधार पर वे ज्ञान की ठोस इमारत खडी करना चाहते थे। पर इसके पहले कि ज्ञान की इमारत हम खडी करें, हमे जानना चाहिए कि ज्ञान का स्वरूप क्या है और इसी प्रश्न को लौक ने हमारे सामने रखकर इसका समाधान करना चाहा है। आप दर्शन मे सर्वप्रथम ऐसे विचारक थे, जिन्होने ज्ञान-मीमासा के ऊपर इतना अधिक जोर दिया है और इसमे सन्देह नही कि ब्रिटिश विचार को इस ओर मोडने का श्रेय लौक को देना चाहिए। यदि लौक ज्ञान-मीमासा के सम्बन्ध मे इन सब प्रश्नो को न उठाते, तो बर्कले तथा ह्यूम की विचारधारा शायद ही तीव्र गति से बढती और तब काण्ट की गहरी गवेषणा भी शायद ही सभव होती। यह ठीक है कि लौक छिछले विचारक थे, परन्तु इन्होने ज्ञान-सम्बन्धी सभी प्रश्नो को हमारे सामने रखा है। इनका समाधान दोषपूर्ण अवश्य है, पर इन्ही दोषो को हटाकर सम-सामयिक विचारक आज सही स्थान पर पहुँचे हैं। लौक इसलिए महान् विचारको मे गिने जाते हैं कि उन्होंने मानव-विचार के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को उठाकर दर्शन को नूतन दिशा मे मोड दिया है।

चूँकि लाक ने नये सिरे से नवीन प्रश्नो को हमारे सामने रखा है इसलिए उनकी खोजो मे कमियो का रहना अनिवार्य है। पर उनकी भूलो से भी विचारको को लाभ ही पहुँचा है। लाक ने ज्ञान-सम्बन्धी समस्या मे तार्किक तथा मनोवैज्ञानिक खोजो को मिला दिया है। यद्यपि यह दर्शन मे गलत बात थी, तथापि इस गलती से मनोविज्ञान की उत्पत्ति हुई है और लौक को प्राय आधुनिक मनोविज्ञान का जन्मदाता समझा जाता है।

* "Instead of being a Baconian empiricist, he was really a Cartesian with Baconian touch. Then, the rationalistic edifice contradicts his empirical foundation"

GEORGE BERKELEY (1685 to 1753)

लौक ज्ञान-मीमासा मे ठीक ही अनुभववादी के रूप मे विख्यात हैं, यद्यपि आप अनेक स्थलो पर असगत रहे हैं, तथापि आपने अनुभववाद को हमारे सामने रखकर रहस्यवाद तथा अधविश्वास के चगुल से विचारको को बचाया है।

अत., सन्तायना ने ठीक ही लौक के विषय मे कहा है "...had Locke's mind been more profound, it might have been less influential · Locke played in the eighteenth century very much the part that fell to Kant in the nineteenth ·his opinions became a point of departure for *universal developments" (George Santayana 'Five Essays' P.3)*

जॉर्ज बर्कले (सन् १६८५—१७५३ ई०)

जार्ज वर्कले आयरलैण्ड के निवासी थे। आपका जन्म सन् १६८५ ई० मे हुआ था। किल्केनी मे जव आपकी स्कूली शिक्षा समाप्त हो चुकी तो आपने डब्लिन मे ट्रिनिटी कॉलेज मे सन् १७०० ई०मे प्रवेश किया। वही से डिग्री लेकर आप वही १३ वर्षों तक उपाध्यापक के पद पर अधिष्ठित रहे। आप अत मे क्लोयन के विशप नियुक्त किये गये। सन् १७५२ ई० मे आक्सफोर्ड मे आये और यही सन् १७५३ई० मे आपका देहान्त हो गया। आप प्रकाड पण्डित होते हुए भी बहुत ही सरल जीवन व्यतीत करते थे। अटरवरी ने आपका चरित्र तथा विद्वत्ता देखकर कहा है "So much understanding, so much knowledge, so much innocence, and such humility, I did not think had been the portion of any but angels till I saw this gentleman"

वर्कले ने अनेक रचनाएँ की हैं, परन्तु २९ वर्ष की अवस्था मे ही आप की प्रमुख रचनाएँ लिखी जा चुकी थी। आपकी रचनाओ मे ये उल्लेखनीय हैं· Commonplace Book (सन् १७०६-८), New Theory of Vision (सन् १७०९), Principles of Human knowledge (सन् १७१०), Three Dialogues (सन् १७१३), Alcipheron (सन् १७३२) और Siris (सन् १७४४)।

वर्कले अध्यात्मवादी (Spiritualist) थे और इसलिए विज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न भौतिकवाद तथा नास्तिकवाद (Atheism) आपको पसन्द नहीं आया था और आजन्म इनके खण्डन के लिए आप प्रयत्नशील रहे। *Siris* मे आपने वताया है कि विश्व की समस्त वस्तुएँ एक सर्वोच्च नि श्रेयस् (Suprem good) से सचालित होती है और हमे इसी के आधार पर सभी वस्तुओ की व्याख्या करनी चाहिए। आपका मत था कि यदि भौतिकवाद (Materialism) का खण्डन कर दिया जाय तो अध्यात्म वाद की जड आप-ही-आप जम जायगी। भौतिकवाद तथा नास्तिकवाद को निराधार सिद्धकरने के लिए आपने लौक की ज्ञान-मीमासा को अपनाया था। परन्तु आपने लौक की ज्ञान-मीमासा मे कमी देखी, इसलिए उसे सरल तथा सगत वनाने के लिए निम्नलिखित धारणाओ पर जोर दिया है —

I ताप, घ्राण तथा रग इत्यादि के केवल विशेप, सरल तथा पृथक् गुणो से ही हमारे ज्ञान का प्रारम्भ होता है।

(क) ये गुण या तो साक्षात् रीति से सवेदन के द्वारा प्राप्त होते हैं,

(ख) या इनकी प्रतिमाओ (Images) को ही हम जानते हैं।

II इन सरल प्रत्ययो को छोडकर ज्ञान के अन्दर और कोई प्रत्यय नही होता है।

III परन्तु ये सब प्रत्यय मन के ऊपर निर्भर रहते है। अत, जो कुछ भी हमारे अनुभव मे अँटता है वह मन-आश्रित या मानसिक है। इसलिए सभी ज्ञात सत्ता मानसिक है। इसे बर्कले ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति के रूप मे कहा है कि esse (सार) est percipi, अर्थात् किसी भी वस्तु का सार या उसकी वास्तविकता मन के प्रत्यय (प्रतीति) पर निर्भर करती है। इसी बात को परोक्ष रीति से कहा जा सकता है कि अदृष्ट रग, जिसे किसी ने कभी नही देखा है तथा अश्रुत स्वर, जिसे किसी ने कभी नही सुना है, हम सब के लिए आयँ-बायँ के समान निरर्थक हैं। इसलिए बर्कले का दावा है कि हमे किसी भी वस्तु का बोध करा दो, जो अज्ञात या अप्रत्यय के रूप मे सभव हो सकती है। यदि कोई कहे कि जमीन मे गडा हुआ धन अज्ञात रहता है, तो यहाँ बर्कले का कहना है कि यदि यह अज्ञात है तो आलोचक को इसका कैसे पता मिला? अत, कोई भी वस्तु अज्ञात या अप्रत्यय के रूप मे सभव नही हो सकती। यहाँ एक और आपत्ति की जा सकती है कि चाँद का दूसरा हिस्सा, जो हमारे सामने नही आता है, हमारे लिए अदृष्ट है तो क्या इसकी सत्ता भी स्वीकार नही की जा सकती है? यहाँ बर्कले का कहना है कि चाँद का ओझल भाग भी प्रत्यय है, परन्तु यह साक्षात् प्रत्यय न होकर अनुमित (Inferred) है। अत, उन सबको भी प्रत्यय के अन्दर गिनना चाहिए, जो साक्षात् प्रत्यय के द्वारा प्रयोगात्मक रीति से अनुमित हो। यदि हम ठीक समय पर किसी रीति से ऐसे स्थान पर पहुँच जायँ, जहाँ से चाँद का ओझल भाग दीख सकेगा तो नि सन्देह यह प्रत्यय हो जायगा। इसलिए बर्कले का कहना है कि विश्व की समस्त वस्तुएँ प्रत्यय होने के कारण मानसिक है और प्रत्यय को छोडकर इनकी सत्ता सभव नही है। यहाँ इनकी उक्ति है "Some truths there are so near and obvious to the mind that a man need only open his eyes to see them Such I take this important one to be viz that all the chair of heaven and furniture of the earth, in a word all those bodies which compose the mighty frame of the world, have not any subsistence without a mind that their *being is to be perceived or known* ."[1]

VI परन्तु प्रत्यय निष्क्रिय है और इसलिए सवेदित प्रत्ययो को छोडकर कुछ और सत्ता है, जो प्रत्यय प्राप्त करती है,पर जो स्वय प्रत्यय नही है। यह है आत्मा।

1 Principles, 11, 6, फिर देखें 22-23

वस्तुओ की सत्ता उनके सम्बन्ध के प्रत्ययो मे निहित है, पर आत्मा की सत्ता *percipi* मे न होकर *perceiving* क्रिया या *percipere* मे है, अर्थात् आत्मा की सत्ता इसकी सक्रियता मे है । वर्कले ने आत्माओ के ज्ञान के सम्बन्ध मे लिखा है, "But besides all that endless variety of ideas or objects of knowledge there is likewise *something which knows or perceives them, and exercises diverse operation,* as willing, imagining, remembering about them This perceiving, active being is that I call Mind, Spirit, Soul, or Myself." [२]

अत , वर्कले के अनुसार केवल आत्मा ही एक पदार्थ है और प्रत्यय उसपर निर्भर करते है । इसलिए आत्मा और आत्मिक प्रत्यय के अतिरिक्त किसी अन्य चीज की सत्ता नही है । इसलिए वर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद (Spiritualism) कहते हैं । चूंकि जनसाधारण तथा दार्शनिक भी भौतिक पदार्थ की सत्ता को मानते हैं, इसलिए वर्कले ने जडवाद (Materialism) की अति तीक्ष्ण आलोचना की है और जवतक हम जडवाद को उखाडकर न फेंक दें तबतक हम अध्यात्मवाद की नीव पक्की नही कर सकते है । इसलिए अव हम वर्कले के द्वारा जडवाद की आलोचना का अध्ययन करेंगे ।

भौतिकवाद अथवा जड़वाद की आलोचना

वर्कले के अनुसार जड़ पदार्थ की वास्तविकता तीन प्रमुख वातो पर निर्भर करती है, अर्थात् (क) अमूर्त्तवोधित प्रत्यय, (ख) प्राथमिक तथा गौण गुण के भेदो और (ग) प्रत्ययो के स्पष्टीकरण पर । वर्कले इन तीन वातो की आलोचना निम्नलिखित रूप से करते हैं ।

1 जड पदार्थ की वास्तविकता अमूर्त्तवोधन (Abstraction) पर निर्भर करती है । परन्तु अमूर्त्त वोधन अनधिकार प्रक्रिया है और इसलिए जड पदार्थ की वास्तविकता भी अप्रमाणित है । अव अमूर्त्तबोधन की त्रुटियो को हम तभी जान सकते हैं जब हम इसकी प्रक्रिया को जानें और इस प्रक्रिया का उल्लेख इस प्रकार से किया जा सकता है—

(क) हम अनेक सरल गुणो के सम्मिश्रण से वनी हुई वस्तुओ को देखते है ।

(ख) उनके किसी एक गुण को वस्तुओ से पृथक् करके अमूर्त्तवोधित प्रत्यय की रचना करते हैं, जैसे, घास के हरेपन को हम उसके रूप, आकार, चिकनाहट इत्यादि से अलग कर लेते हैं और हरेपन के अमूर्त्तवोधित प्रत्यय की रचना करते हैं ।

---

2. Principles, 11 2

अत , वर्कले यहाँ पर वर्त्तमानकालिक प्रमाण-योग्यता या प्रमाण-क्षमता (Verifiability) के सिद्धान्त की पूर्वच्छाया को हमारे सामने रख रहे हैं, जिसके आधार पर वस्तुओं की वास्तविकता जाँची जा सकती है ।

(ग) फिर हम इसे और भी अधिक सामान्य बना सकते हैं। हम हरेपन, लालपन, नीलेपन इत्यादि के सामान्य धर्म रगपन को इन अमूर्त्तबोधित प्रत्ययो से पृथक् करके अति सामान्य प्रत्यय बना सकते हैं।

(घ) जिस प्रकार से गुणो का अमूर्त्तबोधन होता है उसी प्रकार से सहभावी (Co-existent) गुणो के सम्मिश्रण से बनी वस्तुओ का भी अमूर्त्तबोधन किया जा सकता है। हम राम, श्याम, यदु इत्यादि के सामान्य गुणो को उनके अन्य गुणो से पृथक् कर लेते हैं और 'मानवता' के अमूर्त्तबोधित सामान्य प्रत्यय की रचना करते हैं।"—wherein it is true there is included colour, because there is no man but has some colour, but then it can be neither white, nor black, nor any particular colour, because there is no one particular colour wherein all men partake [1] फिर भी मानव मे सभी वर्णों के व्यक्तियो का बोध होना चाहिये।

उपर्युक्त अमूर्त्तबोधित प्रत्यय (abstract idea) की आलोचना बर्कले ने विस्तारपूर्वक की है[2] बर्कले की पहली आलोचना को समसामयिक शब्दो मे अनाधिकार या दोषपूर्ण अमूर्त्तबोधन (Vicious abstraction) कहा जा सकता है। इसे Reification का भी दोष कहा जाता है, अर्थात् किसी गुण को हम वास्तविक सत्ता से निकाल लेने के बाद भी सोचते हैं कि यह उसी प्रकार से सत्तात्मक (Existent) है जिस प्रकार से वह वास्तविक वस्तु सत्तात्मक है, जिससे इस गुण को पृथक् किया गया है। यह ठीक है कि लाल गुलाब वास्तविक पदार्थ है, परन्तु यह समझना कि इसका लालपन भी वास्तविक है, दोषपूर्ण अमूर्त्तबोधन होगा। यहाँ वास्तविकता से अर्थ है वह, जो सवेद्य (Sensible) हो, अर्थात् देश-काल मे रहकर इन्द्रिय-ग्राह्य हो। बर्कले का कहना है कि अमूर्त्तबोधित गुण अवियोज्य (Inseparable) रीति से अन्य गुणो से लिपटा हुआ रहता है, जैसे घास का हरापन उसके अन्य गुणो के साथ रहता है। अब इस बात की क्या गारण्टी है कि अमूर्त्तबोधित गुण अन्य गुणो से अलग रहकर भी वास्तविक हो सकता है? परन्तु अमूर्त्तबोधक हमे इस आपत्ति का कोई सतोष-जनक उत्तर नही देते है। इसलिए अमूर्त्तबोधन का सिद्धान्त अनधिकार तथा मनगढन्त है इसलिये यह अमान्य सिद्धान्त है।

पुन लौक के अनुसार त्रिभुज का सामान्य प्रत्यय वह है, जो न तो समद्विबाहु, न तो समत्रिबाहु और असमबाहु ही के लिए सत्य हो, फिर इन सभी मे लागू हो। अब यह कहना है कि त्रिभुज का सामान्य प्रत्यय किसी भी प्रकार के त्रिभुज मे लागू न हो और फिर सभी मे लागू हो, असगत बात है। अत अमूर्त्तबोधित प्रत्यय को

1 Introduction to principles, Sec 9
2 Ibid P-Sec 9 24

मान लेने से आत्मविरोधी बातो को मानना पडता है, जिसे कोई स्वीकार नही कर सकता है।

अपितु, बर्कले ने इसे मनोवैज्ञानिक ढग से भी असिद्ध ठहराया है। उन्होने कहा है कि यदि हम 'मानव' के विषय मे सोचते हैं तो हमारे सामने कोई एक प्रतिमा चली आती है और यह प्रतिमा काले की होगी या गोरे की, लम्बे की या नाटे इत्यादि की होगी। परन्तु कोई भी प्रतिमा ऐसी नही हो सकती है, जो काले-गोरे, नाटे-लम्बे, मोटे-दुबले इत्यादि सबको अपने मे समेट ले। परन्तु अमूर्त-बोधित प्रत्यय वह है, जो सभी प्रकार के व्यक्तियो का बोध कराये, जो किसी भी प्रतिमा के आधार पर सभव नही हो सकता है। "For myself, I find I have indeed a faculty of imagining, or representing to myself, the idea of those *particular* things I have perceived, . Likewise the idea of man that I frame to myself must be either of a white, or a black, or a tawny, a straight, or a crooked, a tall, or a low, or a middlesized man I cannot by any effort of thought conceive (imagine) the *abstract* idea above described" (Introduction to the Principles,Sec 10)

जड पदार्थ का प्रत्यय भी इसी अमूर्त्तबोधन से बना है। जड पदार्थ वह है, जो स्थावर भी हो और गतिशील भी, कडा भी हो और मुलायम भी इत्यादि। इन सबका बोध भी कराये और फिर इनमे से किसी-एक प्रकार के पदार्थ विशेष मे मे निहित भी न हो। फिर जड पदार्थ बिना किसी आत्मा के चिन्तन या प्रत्यय के सभव नही है। परन्तु अमूर्त बोधक जड पदार्थ को आत्मा के चिन्तन से अलग कर समझते हैं कि इसकी वास्तविकता बिना किसी चिन्तन के सभव है। अत, जड पदार्थ अनधिकार अमूर्त बोधन का उदाहरण है और इसलिए यह असिद्ध धारणा है।

पाठक यहाँ स्वय देख सकते हैं कि अमूर्त बोधित प्रत्यय की आलोचना जो बर्कले ने की है, वह सही नही है। अब जो दोषपूर्ण अमूर्त्तबोधन के विषय बर्कले ने बताया है कि वह बहुत अशो मे ठीक है और इसका प्रभाव आगे चलकर काफी हुआ है। परन्तु बर्कले का यह कहना कि अमूर्त्तबोधित प्रत्यय इसलिए सभव नही है कि इसकी प्रतिमा नही हो सकती है, ठीक नही है। उनकी युक्ति तभी ठीक जँचती जब सामान्य प्रत्यय और प्रतिमा दोनो एक ही प्रक्रिया होती। परन्तु सामान्य प्रत्यय के होने मे प्रतिमा केवल आलम्बन-मात्र है। सामान्य प्रत्यय की विशेषता है कि इसमे अर्थ (Meaning) होता है, जिसके कारण यह अनेक वस्तु-विशिष्टो मे लागू होता है। यह ठीक है कि 'मानव के सामान्यप्रत्यय मे किसी व्यक्ति-विशेष की प्रतिमा हो, पर यह प्रतिमा अर्थ का वाहन या यान (Vehicle) है, जिससे प्रतिमा

अनेक व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व कर सकती है। अतः, सामान्य प्रत्यय कोरी प्रतिमा नही वरन् यह प्रतिनिधि प्रतिमा होती है। बर्कले ने अमूर्त बोधित प्रत्यय की आलोचना करने मे सामान्य प्रत्यय को केवल प्रतिमा मान लिया है जो इनकी गलती है।

यह ठीक है कि यदि हम लौकीय ज्ञान-मीमासा को मान लें तो सामान्य प्रत्यय की रचना कठिन हो जाती है। सामान्य प्रत्यक्ष से यह साफ ध्वनित होता है कि अनेक गुणो मे कुछ धर्म 'सामान्य' (common) हो। पर यदि हम मान लें कि सरल गुण पृथक और असामान्य होते हैं तो उनके बीच सामान्य गुण किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं ?

फिर लौक ने बताया है कि सरल प्रत्ययो की तुलना से उनके बीच के भेद तथा सादृश्य को हम प्राप्त करते हैं। परन्तु लाल-पीले तथा गरम-ठढे के बीच का भेद तथा साम्य स्वयं सरल सवेदित (sensed) धर्म तो है नही, तो इन्हे किस प्रकार से सवेदना तथा आत्मचिन्तन (reflection) से प्राप्त किया जाय और बिना भेद तथा साम्य के सामान्य प्रत्यय सभव नही हो सकते हैं। अत लौक के सवेदवाद (sensationism) के आधार पर सामान्य प्रत्यय की व्याख्या करनी कठिन है। इसलिए सामान्य प्रत्ययो के सम्बन्ध मे स्वय लौक की व्याख्या दोषपूर्ण नही थी परन्तु सगत रीति से यह व्याख्या उसकी ज्ञानमीमासा से नही सिद्ध की जा सकती है।

बर्कले ने भी सरल प्रत्ययो की पृथकता को स्वीकार किया है और इसलिए वे सामान्य प्रत्यय की लौकीय व्याख्या को स्वीकार नही करते हैं। परन्तु सामान्य प्रत्ययो के बिना ज्ञान प्राप्त करना असभव है और स्वय बर्कले ने लिखा है कि उन्होंने अमूर्तबोधित प्रत्यय की न कि सामान्य प्रत्यय की आलोचना की है। "And here it is to be noted that I do not deny absolutely that there are general ideas, but only that there are any abstract general ideas, . "[१]। फिर उन्होने इसी प्रकरण मे लिखा है, "It is, I know a point much insisted on that all knowledge and demonstration are about universal notions to which I fully agree"[२] यदि मान लिया जाय कि सामान्य प्रत्यय हैं तो इनकी व्याख्या किस प्रकार से की जाय ? बर्कले ने Principles मे नामवाद nominalism की मदद ली और इसके अनुसार नाम दे देने से कोई एक विशेष प्रत्यय या प्रतिमा अनेक वस्तुओ का प्रतिनिधित्व करने लगती है। परन्तु आयुवृद्धि के साथ बर्कले को नामवाद सतोपजनक प्रतीत नही हुआ और अन्त मे उन्होने

१ Introduction to the Principles sec 12

२ Introduction to the Principles sec 15

३ इस सम्बन्ध में अध्ययन के लिए देखें Johnston, G B, Development of Berkeley's Philosophy, PP 124-141 फिर देखें Morris, *C S Locke, Berkeley, Hume pp 86 96*

प्लेटोवाद को ही अपनाया था अर्थात् बर्कले के लिए सामान्य प्रत्यय की समस्या ही रह गयी है।

देकार्तीय तथा लॉकीय ज्ञान-मीमासा पर आधारित जड़-पदार्थ की आलोचना —बर्कले का कहना है कि यदि जनसाधारण जड-पदार्थ की सत्ता स्वीकार करें, तो क्षम्य है, पर दार्शनिको को इस भ्रम से मुक्त होना चाहिए। परन्तु देकार्त तथा लौक दोनो अपनी ज्ञान-मीमासा मे स्वीकार करते है कि मानव-ज्ञान से परे जड पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है। उनके अनुसार मानव-ज्ञान के अन्दर जो प्रत्यय है, वे इस जड-पदार्थ की नकलें या प्रतिलिपियाँ (Copies) हैं। परन्तु प्रतिलिपि-सिद्धान्त सर्वथा दोषपूर्ण है। यदि हम केवल साक्षात् रीति से ही प्रत्यय को जानें और कभी भी साक्षात् रीति से जड-पदार्थ का प्रत्यय न करें तो हम कैसे कह सकते है कि हमारे प्रत्यय सही या गलत नकलें या प्रतिलिपियाँ हैं? हम उसी समय मे किसी भी नकल को सही या गलत ठहरा सकते है जब हम मूल (Original) और नकल दोनो को साक्षात् रीति से जानकर मिलान कर सकते हैं। अब चूँकि लॉक तथा देकार्त की उपकल्पना के अनुसार हम जडपदार्थ का साक्षात् नही कर सकते है, इसलिए नकल के साथ इसका मिलान नही किया जा सकता है। अत प्रतिलिपि-सिद्धान्त पर आधारित जड-पदार्थ की धारणा सर्वथा दोषपूर्ण ठहरती है।

फिर देकार्त और लौक ने माना है कि प्राथमिक (Primary) गुण जड-पदार्थ मे यथार्थ मे पाये जाते हैं, परन्तु गौण (Secondary) गुण द्रष्टा पर ही निर्भर या आश्रित देखे जाते हैं। परन्तु प्राथमिक और गौण गुणो का भेद युक्तिसगत नही मालूम देता है। वास्तव मे देखा जाय तो प्राथमिक गुण उतना ही अधिक मन-आश्रित रहता है जितना गौण गुण। इसलिए प्राथमिक गुण, गौण गुण के समान ही मन-आश्रित प्रत्यय होने के कारण मानसिक है। इसे निम्नलिखित ढग से स्पष्ट किया जा सकता है।

विस्तार, ठोसपन तथा आकार इत्यादि को प्राथमिक गुण माना जाता है। पर ये प्राथमिक गुण, गौण गुणो के साथ अवियोज्य रीति से लिपटे हुए रहते हैं। जैसे रगपन के साथ विस्तार देखा जाता है। बिना रग का कोई भी त्रिभुज, चतुर्भुज या कोई भी आकार नही देखने मे आता है। अब यदि प्राथमिक गुण इस प्रकार से गौण गुणो से लिपटे हुए दिखाई पडें, तो हम कैसे कह सकते है कि गौण गुणो से परे प्राथमिक गुण सभव हो सकते है। वास्तविकता तो यही है कि प्राथमिक और गौण गुण दोनो अवियोज्य (Inseparable) हैं और दोनो समजातीय हैं। यदि गौण-गुण मनाश्रित हैं तो उसी प्रकार प्राथमिक गुण भी मनाश्रित तथा मानसिक माने जायेंगे।

फिर गौण गुणो मे सापेक्षता (relativity) होने के कारण, लौक इन्हें मन-

आश्रित समझते हैं । उदाहरणार्थ एक ही ताप का पानी बायें तथा दाहिने हाथ को कम या अधिक गरम मालूम दे सकता है । पर यही सापेक्षता तो आकार तथा गति मे देखने मे आती है । रेलगाडी की गति मुसाफिरो के लिए सामने से आती हुई गाडी की आधार-भूमि मे अधिक और एक ही दिशा मे चलती हुई गाडी के प्रसग मे कम मालूम देती है । फिर गोल पैसा, ठीक इसके ऊपर नजर गडाने से गोल और समकक्ष धरातल से देखने पर अण्डवृत (elliptical) दिखाई देता हैं । अत, प्राथमिक गुणो को भी सापेक्ष रहने पर मन-आश्रित समझना चाहिए और इन्हें गौण गुणो से भिन्न नही समझना चाहिए ।

पुन, प्राथमिक गुण भी उसी प्रकार इन्द्रियो पर निर्भर रहते हैं जिस प्रकार गौण गुण इन्द्रियो पर आश्रित रहते है । यदि विना आँखो के हम रग की सवेदना नही प्राप्त कर सकते हैं, तो ठीक इसी प्रकार विना स्पर्श तथा विना दृष्टि-सवेदना के हम विस्तार, दूरी इत्यादि को नही जान सकते है । इस सम्वन्ध मे वर्कले की विशेष देन '*The New Theory of vision*' मे दी गई है । अत, प्राथमिक गुण, गौण गुणो के समान इन्द्रियो पर निर्भर रहने के कारण द्रष्टा पर आश्रित रहते हैं ।

अतः, बर्कले के अनुसार उपर्युक्त उक्तियो से सिद्ध होता है कि प्राथमिक और गौण गुणो का भेद युक्तिसगत नही है । वास्तव मे सभी गुण मन के प्रत्यय-मात्र है । चूंकि प्रत्यय मानसिक है, इसलिए सभी गुण मन-आश्रित तथा मानसिक ही हैं ।

III जड-पदार्थ की धारणा का अतिसामान्य खण्डन :—यदि जड़-पदार्थ की धारणा सत्य हो तो वह निम्नलिखित युक्तियो पर आधारित हो सकती है ;

(१) जड-पदार्थ प्रत्यक्ष हैं ।

(२) यदि जड-पदार्थ साक्षात् प्रत्यक्ष पर आधारित न हो, तो वह अनुमित (Inferred) होगा और यदि अनुमित हो तो वह इन युक्तियो पर आश्रित होगा ।

(क) जड-पदार्थ हमारे प्रत्ययो के सदृश हैं।

(ख) यदि जड-पदार्थ प्रत्ययो के समान सिद्ध न हो, तो यह प्रत्यय का कारण होगा ।

(ग) यदि (क) और (ख) प्रमाणित न हो, तो शायद यह प्रत्ययो का निमित्त हेतु (Instrumental cause) होगा, या

(घ) यह प्रत्ययो का सयोग या प्रसगात्मक (Occasional) हेतु होगा ।

(३) यदि जड-पदार्थ की धारणा प्रत्यक्ष और अनुमित न हो, तो धार्मिक, नैतिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से इसकी उपयोगिता होगी ।

बर्कले ने इन सब पक्षो का खण्डन कर दिखलाया है कि जड-पदार्थ की धारणा किसी भी प्रकार से युक्तिसगत नही है। हम अब प्रत्येक पक्ष की छानबीन करेंगे।

जड-पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान—यदि जड-पदार्थ सवेदना तथा आत्म-निरीक्षण के आधार पर प्रत्यक्ष हो तो यह रग, स्पर्श, भाव, उद्वेग इत्यादि हो सकता है। यदि यह आँखो के द्वारा जाना जाता हो तो लाल-पीले इत्यादि रग मे रगा हुआ होगा। यदि यह कान से जाना जाता हो, तो वह कर्कश, मधुर इत्यादि आवाज होगी। परन्तु स्वयं लौक ने स्वीकार किया है कि जड-पदार्थ इन्द्रियो से नही जाना जा सकता है, क्योकि यह अज्ञात रहता है। फिर यदि जड-पदार्थ इन्द्रियो के द्वारा ज्ञात भी हो, तो सवेदनाओ के समान परिवर्त्तनशील तथा क्षणभगुर होगा। परन्तु जड़-पदार्थ को अपरिवर्त्तनशील, स्थायी तथा शाश्वत समझा जाता है। अत जड-पदार्थ प्रत्यक्ष नही हो सकता है। फिर यदि जड-पदार्थ प्रत्यक्ष हो तो यह प्रत्यय होगा और प्रत्यय मानसिक है, इसलिए जड-पदार्थ मन से परे स्वतन्त्र सत्ता न होकर वास्तव मे मानसिक ही है।

यदि जड-पदार्थ प्रत्यक्ष न हो तो यह अनुमित सत्ता होगी। अब यदि जड़-पदार्थ अनुमित हो तो यहाँ तर्क दिया जा सकता है कि यह प्रत्यक्षो के समान (Like) है। परन्तु यह तर्क निराधार होगा; क्योकि जड-पदार्थ और प्रत्यक्ष मे कोई समानता नही है। प्रत्यक्ष परिवर्त्तनशील है, पर जड पदार्थ अपरिवर्त्तशील समझा जाता है। फिर प्रत्यक्ष अनुभूत विषय हैं, पर जैसा लौक ने कहा है, जड-पदार्थ अनुभूत विषय नही है। अत, यदि जड-पदार्थ प्रत्यक्षो की समानता पर अनुमित हो, तो यह युक्तिसगत न होगा।

फिर यदि जड-पदार्थ अनुमित हो तो कहा जाता है कि यह प्रत्यक्ष के समान तो नही है, पर यह प्रत्यक्षो का उत्पादक है। पर इस तर्क को भी हम स्वीकार नही कर सकते हैं। पहली बात है कि प्रत्यक्ष मानसिक है और जड-पदार्थ को ठीक इसका विपरीत माना जाता हैं। ऐसी दशा मे मन और जड के पारस्परिक सम्बन्ध को कैसे स्पष्ट किया जा सकता है? स्वय लॉक ने माना है कि मन और जड का सम्बन्ध बुद्धिगम्य (Intelligible) नही हैं। इसलिए जड-पदार्थ को मानसिक प्रत्यक्ष का कारण या उत्पादक नही समझा जा सकता हैं, क्योकि कारण-कार्य मे समानता होनी चाहिए और इनके पारस्परिक सम्बन्ध को बुद्धिगम्य होना चाहिए। अपितु बर्कले अपने युग की विचारधारा के अनुसार जड-पदार्थ को निष्क्रिय समझते थे। इसलिए उन्होने जड-पदार्थ को उत्पादक कारण नही माना है, क्योकि केवल सक्रिय (Active) सत्ता ही उत्पादक हो सकती है। अत, जड-पदार्थ प्रत्यक्षो का अनुमित उत्पादक नही समझा जा सकता है।

यदि जड-पदार्थ को उत्पादक नही समझा जा सकता है तो क्यो नही इसे प्रत्यक्षो का निमित्त कारण (Instrumental cause) ही मान लिया जाय ? ' Though matter may not be a cause ?" says Hylas, "Yet what hinders its being an instrument subservient to the supreme Agent in the production of our ideas ?" परन्तु ईश्वर के लिए निमित्त कारण की क्या आवश्यकता है ? वही पर निमित्त कारण की जरूरत पड जाती है जहाँ पर सकल्प-मात्र से कार्य उत्पन्न न हो। परन्तु ईश्वर का सकल्प-मात्र (Mere will) किसी भी कार्य को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है और इसलिए जड-पदार्थ को प्रत्यक्ष के उत्पादन मे निमित्त आधार मानना वेकार है।

परन्तु, यदि जड-पदार्थ न तो प्रत्यक्ष का उत्पादक हो और न यह उसका निमित्त कारण हो तो क्यो नही इसे प्रत्यक्ष-उत्पादन मे प्रसग-मात्र (Occasion) मान लिया जाय ? अवतक हमलोगो ने देखा है कि जड-पदार्थ न तो सवेदित गुण है, न यह प्रत्यक्षो का कारण है और न प्रत्यक्षो के समान ही है। अत, यह प्रत्यक्षो के उत्पादन मे प्रसग या अवसर-मात्र हो तो यह अज्ञात, निष्क्रिय, निर्गुण द्रव्य हो सकता है। परन्तु ऐसी दशा मे विना किसी गुण के द्रव्य को मानना उसी प्रकार दोषपूर्ण है जिस प्रकार से विना द्रव्य के गुण की सत्ता को मानना अमान्य है। फिर, इस प्रकार के अज्ञात, निर्गुण और निष्क्रिय द्रव्य को शून्य के सिवा और क्या समझा जा सकता है ? पुन, जड-पदार्थ का प्रत्यक्ष-उत्पादन मे प्रसग-मात्र से क्या अर्थ लगाया जा सकता हैं ? शून्य-सम निष्क्रिय जड-पदार्थ न तो निमित्त आधार ही हो सकता है और न किसी भी कार्य के उत्पादन मे इसके पहले या वाद या साथ-ही-साथ पाया जा सकता है। इसलिए जड-पदार्थ को प्रत्यक्ष-उत्पादन मे प्रसग भी नही माना जा सकता है।

अत, हम इस निष्कर्ष पर आते कि हैं जड-पदार्थ को किसी भी प्रकार से अनुमित नही समझा जा सकता है। तो क्या इसे किसी भी प्रकार से उपयोगी धारणा समझा जा सकता है ? अब अज्ञात, निर्गुण एव निष्क्रिय पदार्थ की धारणा से किस प्रकार का सैद्धान्तिक (Theoretical), वौद्धिक तथा व्यावहारिक लाभ सभव है ? यह शून्यवत् धारणा है जिसमे अमूर्त्त-वोधित प्रत्यय का दोष चरम सीमा मे देखा जाता है। फिर यदि मान लें कि गुणो को आलम्बन (Support) चाहिए और इसलिए अज्ञात जड-पदार्थ को गुणो का आश्रय माना जाय तो इसमे अपरिमित प्रत्यागमन (Regressus ad infinitum) या अनवस्था का दोष आ जाता है। यदि गुणो को आश्रय चाहिए और यह आश्रय जड़-पदार्थ हो, तो फिर इस जड-पदार्थ को भी आश्रय चाहिए और इसके आश्रय को भी आश्रय चाहिए, इत्यादि। अत जड-पदार्थ की धारणा से किसी भी प्रकार का युक्तिसगत सैद्धान्तिक लाभ नही मिलता है।

फिर जड-पदार्थ की धारणा से व्यावहारिक लाभ न होकर केवल हानि की

ही सभावना होती है। जड-पदार्थ को शाश्वत समझ लेने पर ईश्वरीय सत्ता की अक्षुण्णता मे कमी आ जाती है। साथ ही यह भी धारणा होने लगती है कि विश्व की समस्त घटनाएँ जड-पदार्थ से ही सचालित होती हैं। इस प्रकार के जडवाद को स्वीकार कर लेने से नास्तिकवाद फैलता है और व्यक्तियो की ईश्वर मे आस्था शिथिल पड जाती है। परन्तु ईश्वर सभी प्रकाश और कल्याण का स्रोत है और ईश्वर से विमुख होकर मानव अधकारमय पाप मे फँस जायगा। अत, जड-पदार्थ को मान लेने पर धार्मिक तथा नैतिक पतन की पूरी सभावना रहती है। फिर यदि जड हो तो इसका सम्बन्ध मन या आत्मा से किस प्रकार का हो सकता है? देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनित्स तथा लॉक के विचारो से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की पेचीदी समस्या का समाधान होना कठिन हो जाता है। तो क्यो नही जड-पदार्थ की धारणा को ही छोड दिया जाय, जिससे इस प्रकार की समस्या ही हमारे सामने न आवे? अन्त मे, यदि जड-पदार्थ हो भी, तो यह अज्ञात रहता है और इसलिए जड-पदार्थ की धारणा स्वीकार कर लेने से अज्ञेयवाद तथा सशयवाद (Scepticism) को अपनाना पडता है, जिसे दर्शन मे सतोषजनक नही माना जा सकता है। इसलिए हमे जड-पदार्थ की धारणा को छोडकर अनुभूत विषय को अपनाना चाहिए और अनुभूत विषय आत्मा और उसके प्रत्यय हैं। पर आत्मा और उसके प्रत्यय आध्यात्मिक सत्ताएँ हैं। अत, अध्यात्मवाद एकमात्र युक्तिसगत सिद्धान्त है।

बर्कले की ज्ञान-मीमांसा

बर्कले की ज्ञान-मीमासा, लॉक के अनुभववाद पर आधारित है। इस ज्ञान-मीमासा की मुख्य बातो को निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया जा सकता है:
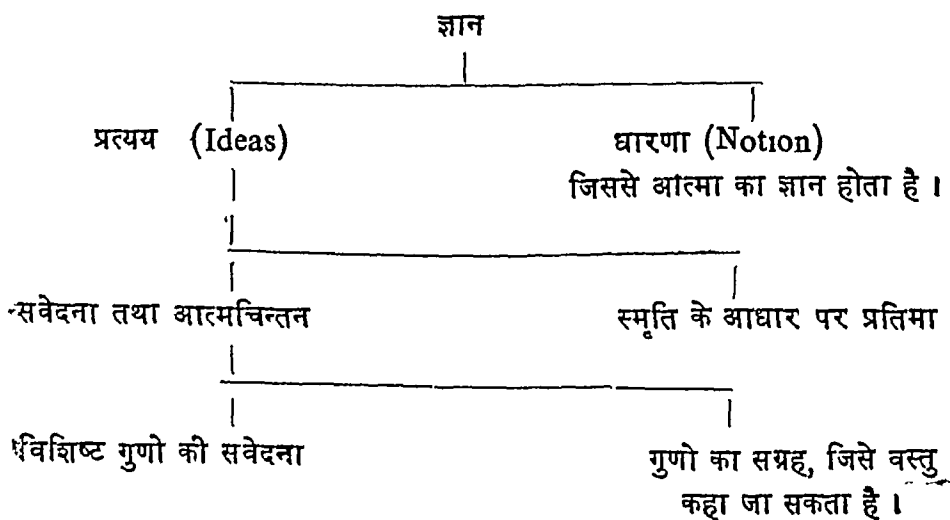
यहाँ वर्कले ने प्रतिमा और प्रत्यय के बीच भेद किया है। प्रतिमाएँ सवेदनाओं की अपेक्षा क्षीण हुआ करती है। फिर सवेदनाओं मे सामजस्य, व्यवस्था तथा स्थिरता पायी जाती है, परन्तु प्रतिमा अव्यवस्थित तथा क्षणभंगुर होती है। अपितु, सवेदनाओ मे वाध्यता होती है, जिसके कारण हम चाहे या न चाहें, हमे उस ओर ध्यानस्थ रहना पडता है। परन्तु प्रतिमाएँ हमारी इच्छाओं के अनुसार आती-जाती रहती है। वर्कले के द्वारा किया गया भेद आधुनिक मनोविज्ञान मे सही नही उतरता है, क्योकि प्रतिमा-दर्शन (Eidetic imagery) मे इतनी सजीवता (Liveliness) पायी जाती है कि इसे सवेदनाओ के समान ही प्रवल समझना चाहिए। फिर भ्रम (Delusion) मे जो प्रतिमाएँ देखने मे आती हैं, वे हमारी इच्छाओ पर निर्भर नहीं रहती है। फिर भी वर्कले का किया गया भेद साधारणतया सही ही समझा जायगा।

वर्कले के अनुसार प्रत्यय हमे साक्षात् रूप से प्राप्त होते हैं और उनके ग्रहण करने मे हमारा मन निष्क्रिय माना गया है। लॉक तो मानते थे कि सरल प्रत्ययों के प्राप्त करने मे हमारा मन निष्क्रिय रहता है, पर यौगिक तथा मिश्रित प्रत्ययो की रचना मे मन सक्रिय होता है। परन्तु वर्कले के अनुसार, वस्तु को जिसे सरल प्रत्ययो का सग्रह समझा जाता है, हम साक्षात् रीति से निष्क्रिय भाँति से प्राप्त करते हैं। लेकिन आयुवृद्धि के साथ वर्कले को मन की रचनात्मक प्रक्रिया को स्वीकार करना ही पडा। बात यह है कि वस्तुओ की सवेदनाएँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, पर वस्तुओ को हम स्थायी तथा वहुत अशो मे एकरूप मे स्वीकार करते हैं। यह एकरूपता (Sameness) मन की रचनात्मक प्रक्रिया से सभव होती है। यही कारण है कि वर्कले ने '*Dialogues*' मे लिखा है "Strictly speaking, Hylas, we do not see the same object that we feel therefore . . . men combine together several ideas apprehended by diverse senses or by the same sense at different times"[1]

परन्तु वर्कले की ज्ञान-मीमासा की सबसे अधिक विशेषता प्रत्यय-सिद्धान्त मे है। साधारणतया प्रत्यक्ष अर्थात् वस्तुबोध (Perception) के विश्लेषण मे तीन अग माने जाते हैं, अर्थात् (क) द्रष्टा (Perceiver or percipient), (ख) वाह्य वस्तु और (ग) प्रत्यक्ष या इन्द्रिय-सवेदना। परन्तु वर्कले के अनुसार जड-पदार्थ या वस्तु है ही नही, इसलिए इनके 'प्रत्यक्ष' मे (क) और (ग) के ही दो अग सभव हो सकते हैं। पर क्या (ख) अग की अवहेलना की जा सकती है ?

वर्कले अपने मत का पुष्ट करने के लिए जनसाधारण-बुद्धि (common-sense) की दुहाई दिया करते थे। परन्तु जनसाधारण प्रत्यक्ष को वस्तु नही मानता है। उनके अनुसार सवेदित गुण बराबर वस्तु की ओर सकेत करते हैं, पर वे स्वयं

---

१ Dialogues I, pp. 463-64, फिर देखें P. 469

वस्तु नही होते हैं। जैसे, यदि हम मोटर के भोपू की आवाज सुनें तो इसको ही हम न तो भोपू समझते हैं और न इसे मोटर ही समझते हैं। आवाज केवल भोपू, मोटर इत्यादि वस्तुओ का सकेत करती है। अत, प्रत्यक्ष स्वय वस्तु नही है, परन्तु बर्कले ने बाह्य वस्तु की अवहेलना करके प्रत्यक्ष को वस्तु मान लिया है। आगे चलकर हम देखेंगे कि बर्कले ने अपने प्रत्यक्ष-सिद्धान्त को थोडा सुधारा है। उन्होने अपनी प्रौढावस्था मे स्वीकार किया है कि प्रत्यक्ष स्वय वस्तु नही है। जिसका हमे प्रत्यक्ष होता है, वह ईश्वर के मन मे आदिरूपीय प्रत्यय (archetypal idea) है। पर यह मत प्लेटोवाद हो जायगा न कि लॉकीय अनुभववाद। आदिरूपीय प्रत्यय के मान लेने पर बर्कले की ज्ञान-मीमासा मे बहुत बडा अन्तर चला आता है, पर बर्कले ने अपनी पुरानी ज्ञान-मीमासा को ज्यो-का-त्यो रख छोडा है और इस पुराने रूप मे बर्कले की ज्ञान-मीमासा सर्वथा दोषपूर्ण है, क्योकि इसके अनुसार प्रत्यक्ष ही वस्तु है।

आत्म-ज्ञान

बार-बार बर्कले ने बताया है कि आत्मा स्वय प्रत्यक्ष नही है, पर हमे आत्मा के सम्बन्ध मे धारणा (Notion) ही सम्भव हो सकती है, so far I can see, the words *will*, *soul*, *spirit*, do not stand for different ideas, or in truth, for any idea at all, but for something which is very different from ideas, and which, being an Agent, cannot be like unto, or represented by, any idea whatsoever."[1] बर्कले को यहाँ 'notion' शब्द को इसलिए काम मे लाना पडा कि यदि आत्मा भी प्रत्यक्ष हो तो यह क्षणभगुर, परिवर्त्तनशील प्रत्यक्ष के समान क्षणिक सत्ता हो जायगी। बर्कले ने इस बात पर ध्यान दिया है कि आत्मा को क्षणिक प्रत्यक्षो का प्रवाह-मात्र न समझा जाय।[2] हम देखेंगे कि ह्यूम ने आत्मा को नित्य-नूतन तथा क्षणभगुर प्रत्यक्षो का अविच्छिन्न प्रवाह समझा है। परन्तु आत्मा को प्रत्यक्षो का प्रवाह-मात्र समझ लेने से कोई स्थायी तत्त्व नही बचता है। और, बिना किसी स्थायी ज्ञान को स्वीकार किये ज्ञान-मीमासा की व्याख्या नही हो सकती है। अत, ह्यूम के भावी सशयवाद से बचने के लिए, बर्कले ने आत्मा को प्रत्यक्ष नही माना है।

अब यदि आत्मा का हमे प्रत्यक्ष नही होता है तो हम इसे किस प्रकार से जानते हैं? बर्कले ने बताया है कि हम आत्मा को 'नोशन' के आधार पर जानते हैं। अब प्रश्न उठता है कि नोशन[3] क्या है और यह प्रत्यक्ष से किस भाँति भिन्न है?

1. Principle II Sec 27, फिर देखें Sec. 140, 142
2 देखें Dialogues I, 449—51
3 अँगरेजी में idea और notion में कोई भेद नहीं है। इसलिए हिन्दी में 'नोशन शब्द का अनुवाद 'सामान्य प्रत्यय' किया जा सकता है। पर भाषा को सुबोध बनाने के लिए नोशन शब्द को ही काम में लाया गया है।

यहाँ वर्कले को चाहिए था कि वे 'नोशन' पद की व्याख्या करते। उन्होंने ऐसा नहीं किया है। सिर्फ उन्होंने बताया है कि नोशन का विषय है—(क) आत्मा, (ख) मानसिक प्रक्रियाएँ और (ग) उनके बीच या प्रत्ययों के बीच का सम्बन्ध (Relation)।

सरजेण्ट (Sergeant) के अनुसार, वर्कले ने प्रत्यय और नोशन के बीच इस प्रकार भेद किया है—(१) प्रत्यक्ष सवेद्य (Sensible) है, पर नोशन बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम है। (२) फिर प्रत्यक्षों से विशिष्टों (Particulars) का ज्ञान मिलता है, पर नोशन से सार्वभौमिकता (Universality) का ज्ञान मिलता है। (३) पुनः प्रत्यक्ष, मानव और पशु मे एक समान होता है, परन्तु नोशन केवल मानवों में ही सम्भव होता है।

वात यह है कि वर्कले के युग का जडवाद विज्ञानो पर आधारित था और विज्ञानो मे सामान्य प्रत्ययो (Concepts) की प्रधानता पायी जाती है। अत, जडवाद के जड विज्ञान के विरुद्ध आवाज उठाकर वर्कले ने सामान्य प्रत्ययों का खंडन करके माना है कि ज्ञान सवेदनात्मक (Sensationistic) ही हो सकता है। परन्तु सवेदनात्मकता को स्वीकार करने पर आत्मा प्रत्यक्षों का प्रवाह-मात्र हो जाती है और इस पक्ष को वचाने के लिए उन्होंने इसे प्रत्यक्षो से एकदम भिन्न माना है। "Spirits and ideas are things so wholly different, that when we say 'they exist', 'they are known' or the like, these words must not be thought to signify anything common to both natures[1]।" जितना ही अधिक विचार उन्होने आत्मा के प्रति किया है उतना ही अधिक उन्हें प्रत्यक्षों और नोशन मे भेद मालूम दिया। आगे चलकर उन्होंने प्लेटो की रचनाओ का अच्छा अध्ययन किया और प्लेटो तथा वैज्ञानिक परम्परा के प्रभाव मे आकर उन्हें बुद्धि और सवेदना के वीच प्राकारिक अन्तर मालूम पडा। अन्त मे अपने पहले के सवेदनावाद के विपरीत उन्होने सामान्य प्रत्ययो को ही प्रधानता दी है। अपने अन्तिम काल मे उनकी उक्तियो मे प्लेटोवाद के साथ काण्टीय विचारो की पूर्वच्छाया दिखलायी देती है। "Strictly the sense knows nothing . As understanding perceiveth not, that is, doth not hear, or see, or feel, so sense knoweth not, and although the mind may use both sense and fancy, as means whereby to arrive at knowledge, yet sense or soul, so far forth as sensitive, knoweth nothing" (Siris III 271)। इससे पता चलता है कि वर्कले को ही अपना सवेदनावाद पसन्द नही हुआ था और यदि वे अपने विचारो का नये सिरे से निर्माण करते तो वे लॉकीय अनुभववाद को न अपनाकर प्लेटोवाद ही को अपनाते। वात यह है कि वर्कले प्रत्ययवादी तथा अध्यात्मवादी थे और अध्यात्मवाद, सवेदनावाद

१. Principles II 142

(Sensationalism) पर आधारित नही हो सकता है। यही कारण है कि प्रौढावस्था के साथ उन्हें सवेदनावाद फीका मालूम देने लगा। पर चूंकि उनका लक्ष्य अपने विचारो के निष्कर्ष से था, न कि युक्तियो के माध्यम से, इसलिए उन्होंने सवेदनावाद पर आधारित युक्तियो के माध्यम को बदलना न चाहा।

बर्कले के अनुसार तीन प्रकार की आत्माएँ (spirits) हैं, अर्थात् (क) मैं, (ख) मुझे छोडकर अन्य आत्माएँ जो मेरे समान ही सीमित या परिमित हैं, और (ग) अपरिमित ईश्वर। आत्माओ का सार उनकी सक्रियता (Activity) मे देखा जाता है। मैं अपनी सत्ता को सहज प्रत्यक्ष (intuition) के आधार पर जानता हूँ। मैं सक्रियता को दो बातो मे देखता हूँ। पहली बात यह है कि मैं जब चाहूँ, किसी प्रतिमा को अपने मन-पटल पर ला सकता हूँ; और दूसरी बात है कि मैं अपने सकल्प (Will) के अनुसार अपने शरीर के अगों को हिला-डुला सकता हूँ।

अपने को छोड़कर अन्य सीमित आत्माओ को मैं साक्षात् रीति से न जानकर, साम्यानुमान (Analogy) ही के आधार पर जान सकता हूँ। मैं देखता हूँ कि अन्य आत्माएँ भी मेरे ही समान क्रियाओ का सम्पादन करती हैं तो मैं अनुमान लगाता हूँ कि वे भी मेरे ही समान आध्यात्मिक हैं। जैसे, मैं अपने सकल्प के अनुसार शारीरिक अगो के द्वारा मेज बनाता हूँ और जब मैं पाता हूँ कि मेरी मेज के समान दूसरी भी मेज बनी हुई है तो मैं अनुमान करता हूँ कि वह दूसरी मेज भी मेरे समान सकल्प रखनेवाली आत्मा से बनायी गयी होगी।

पाश्चात्य दर्शन मे अधिकाश विचारको ने अन्य आत्माओं की सत्ता को साम्यानुमान पर आधारित समझा है। परन्तु समसामयिक शामुएल अलेक्जेण्डर[1] और काफका ऐसे गेस्टाल्टवादियो[2] का कहना है कि अन्य आत्माओ को हम साक्षात् प्रत्यक्ष के आधार पर जानते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि अन्य आत्माओ को अनुमित मान लेने मे कठिनाई आ जाती है।

असीम ईश्वर को हम निम्नलिखित रीति से जानते हैं। (१) मेरे अन्दर अनेक भावनाएँ या प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं, जिनपर मेरा कोई अधिकार नही है। तो ये प्रत्यक्ष किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् इनका क्या उत्पादक हो सकता है ? चाहे यह उत्पादक (अ) जड-पदार्थ होगा, या (ब) अन्य प्रत्यक्ष ही होगे, या (स) सीमित या असीमित आत्मा होगी। अब जड-पदार्थ और अन्य प्रत्यक्ष निष्क्रिय ही हैं और ये मेरे अन्दर के प्रत्यक्ष-प्रवाह के सक्रिय उत्पादक नही हो सकते हैं। तब आत्माओ से ही ये प्रत्यक्ष उत्पन्न किये जा सकते हैं। परन्तु सीमित आत्माओ की रचनाओ में इतनी स्थिरता और व्यापकता नही आ सकती है। फिर नदी, पहाड,

1. Space, Time and Deity, Vol. II p 31
2 Koffka, K : 'Principles of Gestalt Psychology', Chap VIII.

भूकम्प इत्यादि ऐसे प्रत्यक्ष हैं, जो सभी सीमित आत्माओ की इच्छाओ से परे और स्वतन्त्र दीखते हैं। इसलिए ईश्वर ही वास्तव मे सभी प्रत्यक्षो की उत्पादक शक्ति है। हमारा यह विश्वास सृष्टि के सौन्दर्य, उसकी विशालता, पूर्णता तथा आश्चर्यजनक सामजस्य को देखकर और भी अधिक जम जाता है। यदि हम अन्य सीमित आत्माओ की सत्ता को उनके क्षीण तथा क्षणभगुर प्रत्यक्षो के आधार पर अनुमित करते है, तो ईश्वर की सत्ता को तो हमे वडी आसानी से जानना चाहिए, क्योकि वह प्रबल, स्थायी, व्यवस्थित प्रत्यक्षो को हमारे अन्दर हर समय उत्पन्न करता रहता है। "*And after the same manner we see God*, all the difference is that, whereas some one finite and narrow assemblage of ideas denotes a particular human mind whithersoever we direct our view, we do at all time and in all places perceive manifest tokens of the Divinity—we see everything hear, feel, or anywise perceive by sense, being a sign or effect of the power of God, . . "(Principles II 148)

चूंकि वर्कले केवल ईश्वर ही को सभी प्रत्यक्षो का उत्पादक मानते हैं, इसलिए वे वाह्य जगत् मे किसी भी वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण नही मानते हैं। उनके अनुसार एक प्रत्यक्ष दूसरे प्रत्यक्ष का उत्पादक नही है, पर एक प्रत्यक्ष के रहने का चिह्न-मात्र है। "The fire which I see is not the cause of the pains I suffer upon approaching it, but the mark that forewarns me of it" (Principles II 65) अत. ह्यूम की भाँति, वर्कले भी जगत् मे कारण-कार्य के सम्बन्ध को वस्तुगत नही पाते है। ईश्वर ही ने प्रत्यक्षो के वीच स्थायी तथा समरूप व्यवस्था उत्पन्न की है। इसलिए प्राकृतिक नियम ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर करते हैं, पर इसमे मनमानी नही है। ईश्वर का विधान स्थायी है ताकि हम प्रत्यक्षो की भाषा सीखकर इनके अनुसार कार्य करें। फिर प्राकृतिक नियमो को खोजकर उनकी नकल करें और यन्त्रो की रचना कर अपने जीवन को सुखी कर सकें।[1]

वर्कले आत्मवादी थे और इसमे उनका विश्वास इतना दृढ था कि उन्होने आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विशेष चेष्टा नही की है। पर यदि हम उनकी बतायी उक्तिया पर ध्यान दे तो वे हमे सही नही जँचेंगी। वर्कले के अनुसार आत्म-ज्ञान महज प्रत्यक्ष (Intuition) के आधार पर होता है। परन्तु आगे चलकर ह्यूम तथा काण्ट की गम्भीर खोजो के अनुसार स्थायी अहमात्मा को हम अनुभव के आधार पर नहीं प्राप्त करते हैं। फिर अन्य आत्माओ को हम किस प्रकार से जान सकते हैं? वर्कले का कहना है कि हम अन्य सीमित आत्माओ को उनके द्वारा उत्पादित प्रत्यक्षो के आधार पर जानते हैं। परन्तु ये उत्पादित प्रत्यक्ष, अन्य प्रत्यक्षो के

1. Principles, section II 60—64

समान निष्क्रिय हैं। तो निष्क्रिय उत्पादित प्रत्यक्षो के आधार पर सक्रिय आत्माओ की सत्ता को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं ? अब यदि प्रत्यक्षो के आधार पर अनुभूत जड पदार्थ की सत्ता प्रमाणित नही हो सकती है, तो इसी युक्ति के आधार पर अन्य सीमित आत्माओ की सत्ता, साक्षात् प्रत्यक्ष पर न आधारित रहने के कारण, सिद्ध नही की जा सकती है। यही तर्क ईश्वर की सत्ता मे भी लागू होता है। ईश्वर का अस्तित्व भी उत्पादित प्रत्यक्षो पर आधारित है, और चूंकि ये उत्पादित प्रत्यक्ष निष्क्रिय हैं, इसलिए ठीक इसके विपरीत सारगुण वाले सक्रिय ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नही हो पाती है। स्वय बर्कले ने बताया है कि ईश्वर की सत्ता और उसका ज्ञान मानव सत्ता और ज्ञान से भिन्न है।[1] इस दशा मे ईश्वर की सत्ता मानव-प्रत्यक्ष के आधार पर और भी कम युक्तिसगत हो जाती है। यहाँ पर ईश्वर की आत्मा अपरिमित और अनूठी है और इस प्रकार की आत्मा हमे कभी भी प्रत्यक्ष नही होती है। अत, इस प्रकार की आत्मा की सत्ता अनुमेय भी नही हो सकती है।

बर्कले का अध्यात्मवाद तथा प्रत्ययवाद

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा ही परम सत्ता है। चूंकि बर्कले के अनुसार आत्मा और उसके प्रत्यक्ष ही एकमात्र सत्ताएँ है, इसलिए बर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद कहा जा सकता है। परन्तु, इस अध्यात्मवाद की जड esse est percipi के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए इसे प्रत्ययवाद (Idealism) भी कहा जा सकता है। प्रत्ययवाद के अनुसार परम सत्ता वह है, जिसे युक्तिसगत मानसिक विचारो की राशि कहा जा सकता है। अब बर्कले का कहना है कि समस्त विश्व प्रत्यय है और इस दृष्टिकोण से इसे प्रत्ययवाद कहा जा सकता है।

यदि सभी कुछ प्रत्यय हो और प्रत्यय से बर्कले का अर्थ वस्तुबोध (Perception) हो तो यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि सभी वस्तुओ को प्रत्यय मानकर बर्कले ने जगत् को काल्पनिक बना दिया है। परन्तु इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले ने बताया है कि सभी वस्तुओ को प्रत्यक्ष मान लेने पर भी वास्तविकता (Reality) और कल्पना (Imaginary) का भेद रह जाता है। वास्तविक जगत् वह है, जिसमे स्थायी, व्यवस्थित तथा नियमानुकूल प्रत्यक्ष हो, और कल्पना वह है, जिसमे अनिश्चित, क्षणिक तथा असम्बद्ध प्रत्यक्ष हो। जब कहा जाता है कि सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं, तब इससे इसी बात पर जोर दिया जाता है कि वही वास्तविकता है, जो हमे पूर्णतया अनुभूत हो। यदि हम अनुभूत को वास्तविक मान लें, तो यही पर कल्पना का पूरा स्थान देखने मे आयगा। अत, सभी वस्तुओ को प्रत्यक्ष मानने से वास्तविकता की पूरी सरक्षा होती है।

1. Fraser, A. C. 'Selections from Berkeley', pp. 258–61

लेकिन दूसरी विशेष आपत्ति की जा सकती है कि प्रत्यक्ष मन मे रहते हैं और यदि सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो तो सभी वस्तुएँ मन की आन्तरिक दशाएँ हो जायेंगी। पर यथार्थ मे हमे वस्तुएँ मन के परे और बाहर दीखती है, तो क्या वास्तव मे वस्तुएँ मन के बाहर नही है ? इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले बताते हैं कि प्रत्यक्ष मन मे अवश्य है, पर ये काल्पनिक न होकर वास्तविक हैं और इस अर्थ मे वस्तुएँ मानव-मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर हैं। जब हम वस्तुओ को मन के प्रत्यक्ष बताते है तब यहाँ इससे इतना ही बोध होता है कि कोई भी प्रत्यक्ष मन के चिन्तन का विषय (Object) है, न कि यह मन का गुण (Attribute) या धर्म है, और न यह कि प्रत्यक्ष होने के नाते वस्तुएँ मन मे उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार वस्त्र बक्से के अन्दर होते है। प्रत्यक्ष और मन मे ज्ञेय, ज्ञाता का सम्बन्ध है। अब यह स्पष्ट है कि ज्ञेय, ज्ञाता से परे है और इस तरह वस्तुएँ भी मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर हैं। अब निम्नलिखित रूप से हम वस्तुओ के बाहरीपन (Externality) को समझ सकते है :

(१) पहली बात है कि वस्तुएँ मन के इस अर्थ मे बाहर या परे हैं कि ये मन के विषय या ज्ञेय पदार्थ हैं, जिन्हें मानव ज्ञाता जानने की कोशिश करता है। इस दृष्टिकोण से बर्कले वस्तुओ को आन्तरीकृत (Internalised) न करके वास्तव मे प्रत्यक्षों का बाह्यीकरण (Externalisation) करते हैं। "I am not for changing things into ideas but rather ideas into things." (Dialogues 1, P 463)

(२) फिर वस्तुएँ इस मानी मे बाहर हैं कि वे व्यक्तियो की इच्छा पर निर्भर नही रहती है। यदि हम प्रकाश मे अपनी आँखो को खोलें तो हम चाहें या न चाहें, जिस वस्तु का जो भी रग होगा वह हमे सवेदित होगा। उसी प्रकार से ताप, ठढ, आवाज इत्यादि हमारी इच्छाओ पर निर्भर न रहने के कारण प्रत्यक्ष स्वतन्त्र तया बाहर कहे जाते हैं।

(३) फिर वस्तु को इसलिए भी बाहर कहा जाता है कि वह किसी एक व्यक्ति के ही प्रत्यक्ष पर निर्भर नही रहती है। हो सकता है कि कोई एक वस्तु किसी एक व्यक्ति विशिष्ट के मन मे न हो, पर वह अन्य व्यक्तियो के मन मे हो सकती है।

(४) पर विशेषतया वस्तुओ को व्यक्तियो के मन के बाहर इसलिए कहा जाता है कि वे ईश्वर के द्वारा उत्पादित की जाती हैं और प्रत्यक्षो का उत्पादक ईश्वर सभी सीमित आत्माओ और उनके मन से परे है, और इसलिए सभी वस्तुएँ मानव-मन से परे, स्वतन्त्र और बाहर हैं।

(५) शायद जिन वस्तुओ को मानव, प्रत्यक्ष के रूप मे ग्रहण करता है वे गौण है, क्योकि उनका आदिरूप (archetypes) ईश्वर के मन मे रहता है। अब चूंकि

वस्तुओ का आदिरूप मानवो से बाहर और स्वतन्त्र है, इसलिए यथार्थ मे वस्तुएँ हमारे मन से बाहर हैं।

यदि प्रत्यय ही वस्तु है तो क्या हम प्रत्यय ही पीते और खाते है ? वास्तव मे बात यही है, पर कहने की शैली मुहावरेदार होनी चाहिए। इसलिए हमे आम जनता की भाषा मे बोलना चाहिए, पर हमारे विचारने की शैली पडित की होनी चाहिए। पर यदि प्रत्यक्ष क्षणभगुर, परिवर्त्तनशील तथा अस्थायी हो, तो वस्तुएँ भी क्षणिक और अस्थायी ठहरेंगी। इस आपत्ति का समाधान करते हुए बर्कले बताते है, कि प्रत्यक्ष वस्तु हैं, पर प्रश्न उठता है कि किसका प्रत्यक्ष ? एक ही समय और एक ही व्यक्ति के प्रत्यक्ष को वस्तु नही कहा जा सकता है। ऐसा प्रत्यक्ष, जिसके हर समय होने की सम्भावना हो वही वस्तु होगा, अर्थात् जिस प्रत्यक्ष के होने की स्थायी सभावना (Permanent possibility) हो, वही वस्तु होगा। फिर हो सकता है कि यदि एक ही व्यक्ति मे कोई अमुक प्रत्यक्ष न हो तो यह अन्य व्यक्तियो के मन मे हो सकता है। जैसे, इस समय मैं घर से बाहर चला जाऊँ, तो अपने घर की मेज मैं नही देख पाऊँगा। फिर भी यह मेज अन्य व्यक्तियो की प्रतीति मे हो सकती है। इसलिए अन्य व्यक्तियो के मन मे रहनेवाले प्रत्यक्ष को वस्तु कहा जा सकता है और इस प्रकार से प्रत्यक्ष क्षण-भगुर और इतना अस्थायी नही दीख पडेगा। परन्तु सीमित आत्माओ की चेतना सभी वस्तुओ को जारी रखने मे असमर्थ हो सकती है और इसलिए वास्तव मे प्रत्यक्ष, जिसे हम वस्तु समझते हैं वे ईश्वर के स्थायी, शाश्वत तथा सर्वकालीन मन मे विराजते हैं और इस दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष स्थायी, शाश्वत और व्यवस्थित रहते हैं और इसी प्रकार के प्रत्यक्ष को हम वस्तु कह सकते हैं। अन्त मे बर्कले के अनुसार प्रत्यक्ष ईश्वर के मन मे आदिरूप (Archetypes) की दशा मे रहते हैं, जिनकी-मानव मन नकल करता है। अतः, बर्कले का संवेदनावाद प्लेटो के प्रत्ययवाद मे परिणत हो जाता है।

यदि हम बर्कले की युक्तियो पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष वस्तु है, पर ये ईश्वर के मन के आदिरूपात्मक प्रत्यय हैं। इस तरह ईश्वर की शरण लेने पर ही बर्कले सिद्ध कर पाये हैं कि वस्तु का सार या तत्त्व उसके प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है। पर बर्कले ने मानव-प्रत्यक्ष अथवा सवेदनावाद से ही अपने प्रत्ययवाद को प्रारम्भ किया था और अब हम इस निष्कर्ष पर आये है कि मानव-प्रत्यक्ष नही, पर ईश्वरीय प्रत्यय ही वस्तुओं का सार या तत्त्व है। पर क्या मानव और ईश्वरीय प्रत्यय एक समान है ? ईश्वर के प्रत्यक्ष उत्पादक सृष्ट्यात्मक (Creative) तथा स्थायी हैं, पर मानव-प्रत्यक्ष उनकी गौण प्रतिलिपि या नकल है, जो क्षीण, अस्थायी, अक्रमबद्ध तथा क्षणिक है। फिर ईश्वर को मानव के समान इन्द्रिय नही है, और मानव-प्रत्यक्ष इन्द्रियो पर आधारित रहते हैं। "God perceives nothing by sense as we

do . God knows or hath ideas but his ideas are not conveyed to him by senses as ours are " (Dialogues I 459)। ऐसी दशा मे यदि हम मानव सवेदना को प्रत्यक्ष कहें तो ईश्वरीय ज्ञान को प्रत्यक्ष के नाम से नही पुकारा जा सकता है। अत , ईश्वरीय और मानव प्रत्यक्ष मे जातीय अथवा प्राकारिक अन्तर है। इस अवस्था मे यदि ईश्वरीय प्रत्यक्ष वस्तु हो तो मानव-प्रत्यक्षो को हम वस्तु नही कह सकते हैं। बर्कले ने इश्वरीय प्रत्यक्षो को ही वस्तु कहा है, क्योकि मानव प्रत्यक्षो के आधार पर वस्तुओ का बाहरपन तथा स्थायित्व नही स्पष्ट किया जा सकता है। पर क्या ईश्वरीय प्रत्यक्ष को वस्तु मान लेने से बर्कले के प्रत्ययवाद की रक्षा होती हैं ?

ईश्वरीय प्रत्यक्ष शाश्वत, कालातीत तथा शुद्ध आदिरूप मे पाये जाते है, पर प्रश्न उठता है कि मानव इस प्रकार के इन्द्रियातीत (Non-sensible) प्रत्यक्षो को अपनी इन्द्रियो से कैसे जान सकते हैं ? जब भी कोई व्यक्ति ईश्वरीय प्रत्यक्षो को जानेगा तो वह मानवीय प्रत्यक्ष होगा, न कि ईश्वरीय, क्योकि मानव, मानव-तल और मानव-मार्ग ही का अनुसरण कर सकता है। अत यदि ईश्वरीय प्रत्यक्ष हो भी तो मानव ईश्वरीय प्रत्यक्ष को उनके आदिरूप मे नही जान सकते है। इस रीति से यदि हम मान भी लें कि (esse) या वस्तु-सार उसके ईश्वरीय प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है तो यह ऐसा प्रत्यक्ष है जो मानव-अनुभूति से परे है, और इसलिए बर्कले का प्रत्ययवाद संशयवाद मे परिणत हो जाता है। अत बर्कले के *esse est percipi* की आधार-शिला अधूरी और सशययुक्त हो जाती है।

क्या बर्कले विषयीनिष्ठ (Subjective) प्रत्ययवादी थे ?

विषयीनिष्ठ (Subjective) और वस्तुनिष्ठ (Objective)—दो प्रकार के प्रत्ययवाद माने जाते हैं। विषयी और विषय, ज्ञान-प्रसग मे आते है। ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता के परस्पर सयोग से उत्पन्न होता है। वह ज्ञान जो ज्ञाता या विषयी पर ही आधारित हो, उसे विषयीनिष्ठ ज्ञान कहा जाता है। जैसे, लॉक के अनुसार गौण गुण विषयी पर आधारित रहता है। परन्तु वह ज्ञान जो ज्ञेय या विषय पर ही अवलम्बित हो विषयगत कहा जाता है। यहाँ ज्ञेय या विषय की सत्ता को ज्ञान की सत्ता से परे तथा स्वतन्त्र माना जाता है। लॉक के प्रसंग मे हमने देखा है कि प्राथमिक गुण को विषयनिष्ठ कहा गया है।

उस प्रत्ययवाद को विषयीनिष्ठ कहा जायगा, जिसके अनुसार प्रत्यय, ज्ञाता अथवा विपयी (subject, knower or perceiver) पर ही आधारित रहता है। सगत रूप से यदि कोई माने कि प्रत्यक्ष वस्तु है और प्रत्यक्ष विषयीनिष्ठ है, तो अन्य ज्ञाता भी किसी एक ही विषयी के प्रत्यक्ष हो जाते हैं और वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सभी वस्तुएँ केवल एक व्यक्ति या ज्ञाता के प्रत्यक्ष मानी जाती हैं, एकात्मसत्तावाद

(Solipsism) कहा जाता है। दर्शन के इतिहास मे किसी विचारक ने खुलकर एकात्मसत्तावाद को नही अपनाया है और निस्सन्देह बर्कले को एकात्मसत्तावादी नही कहा जा सकता है। पर क्या उन्हें विषयीनिष्ठ प्रत्ययवादी कहा जा सकता हैं ? इस प्रश्न का उत्तर बर्कले के प्रत्यक्ष-सिद्धान्त पर निर्भर करता है। यदि वे प्रत्यक्ष को आत्म-निष्ठ या आत्मगत मानते हो तो वे विषयीनिष्ठ होगे और यदि वे विषयी से परे प्रत्यक्षो की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, तो साधारणतया उन्हें वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी कहना चाहिए।

हमलोगो ने पहले ही देखा है कि बर्कले के अनुसार प्रत्यक्ष आत्मनिष्ठ नही हैं। उन्होने प्रत्यक्षो का बाह्यीकरण किया है, अर्थात् माना है कि व्यक्तियो से परे प्रत्यक्षो की सत्ता है। प्रत्यक्ष मन का विषय है, न कि मन का धर्म है। कल्पना से भिन्न वास्तविक प्रत्यक्ष व्यक्तियो अथवा ज्ञाताओ से परे हैं और वे स्थायी, शाश्वत तथा सुदृढ नियमो से जकडे हुए हैं। फिर वे व्यक्तियो की इच्छाओ पर निर्भर नही रहते हैं। साथ-ही-साथ बर्कले यह भी मानते हैं कि उन्हें छोडकर अन्य विषयी या ज्ञाता भी हैं। अन्त मे, उनका कहना है कि वास्तव मे सभी प्रत्यक्ष ईश्वर के शाश्वत तथा कालातीत मन मे हैं और इसलिए मानवो के लिए सभी वैयक्तिक प्रत्यक्ष स्वतन्त्र, विषयीनिष्ठ तथा अतिव्यक्तिक (trans-subjective) हैं। अत, साधारण अर्थ मे बर्कले को वस्तुनिष्ठ (Objective) प्रत्ययवादी कहना चाहिए। परन्तु साधारण अर्थ से भिन्न विषयीगत प्रत्ययवाद का पारिभाषिक या विशेष अर्थ है और इस विशेष अर्थ मे बर्कले को वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी नही कहा जा सकता है। हेगेल के प्रत्ययवाद को विषयगत प्रत्ययवाद का नमूना माना जाता है और इस विषयगत प्रत्ययवाद के तीन मुख्य लक्षण हैं, अर्थात् (१) इसमे ईश्वर और विश्व का अवियोज्य सम्बन्ध कहा जाता है, (२) वस्तुओ की सत्ता प्रत्यक्ष न होकर सामान्य प्रत्यय या धारणा (Concepts or categories) मानी जाती है, और (३) मानव तथा ईश्वरीय विचार मे प्राकारिक अन्तर न मानकर केवल परिमाणगत ही अन्तर को स्वीकार किया जाता और इन तीनो लक्षणो मे बर्कलीय प्रत्ययवाद हेगेलीय प्रत्ययवाद से भिन्न होने के कारण विषयगत न कहलाकर विषयीनिष्ठ समझा जाता है। अब हम इन तीनो लक्षणो की व्याख्या करके दिखलायेंगे कि बर्कले का प्रत्ययवाद विषयगत न होकर, विषयीगत कहलायगा।

हेगेल के अनुसार परम सत्ता एक निरपेक्ष (Absolute) प्रत्यय है जो विकासात्मक है। इसका विकासवाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-thesis) और युक्ति-वाद या समन्वय (Synthesis) के साथ द्वन्द्वात्मक (Dialectical) रीति के अनुसार होता जाता है। इसी द्वन्द्वात्मक विधि के फलस्वरूप वर्तमान विश्व विकासात्मक रूप मे है। इस निरपेक्ष प्रत्यय को ईश्वर भी कहा जा सकता है। अतः, ईश्वर के द्वारा विश्व की रचना होती जाती है। दूसरे शब्दो मे ईश्वर और विश्व दोनों अवियोज्य

रीति से आबद्ध हैं। विश्व, ईश्वर का ही रूप है और दोनो का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जिस प्रकार का सम्बन्ध चित्रकार का चित्र से या कवि का कविता से है। कवि उसी क्षण तक कवि है, जिस क्षण तक कविता करता रहता है और चित्रकार तभी तक चित्रकार है जबतक वह चित्र बनाता रहता है। उसी प्रकार से ईश्वर निरन्तर सृष्टिकर्त्ता के रूप मे निरन्तर सृष्टि की रचना करता रहता है। बिना चित्र के के चित्रकार, और बिना कविता के कवि सम्भव नही हो सकता है। उसी तरह से बिना सृष्टि के सृष्टिकर्त्ता ईश्वर भी सम्भव नही हो सकता है। अत, यदि बिना ईश्वर के विश्व सम्भव नही है, तो बिना विश्व के ईश्वर भी सम्भव नही है। इसलिए हेगेलीय विषयगत प्रत्ययवाद के अनुसार ईश्वर और विश्व का पारस्परिक अवियोज्य inseparable) सम्बन्ध है। परन्तु बर्कले के अनुसार बिना ईश्वर के विश्व सम्भव नही है, पर बिना विश्व के ईश्वर की सत्ता हो सकती है, क्योकि विश्व का अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है और यदि ईश्वर की इच्छा बिना विश्व के रहने की हो, तो यह सम्भव है। अब चूँकि बर्कले ईश्वर और विश्व के बीच अवियोज्य सम्बन्ध को स्वीकार नही करते हैं, इसलिए इनके प्रत्ययवाद को दार्शनिक अर्थ में वस्तुनिष्ठ नही कहा जा सकता है।

फिर हेगेलीय प्रत्ययवाद के अनुसार सवेदित प्रत्यक्ष को वास्तविक पदार्थ नही कहा जा सकता है। इसका कारण है कि एक ही चांद की सवेदना भिन्न-भिन्न व्यक्तियो को भिन्न-भिन्न मालूम देती है। फिर एक ही व्यक्ति को भी भिन्न-भिन्न समय मे चांद की सवेदना भी भिन्न-भिन्न रहती है। इस अवस्था मे यदि सवेदना को प्रत्यक्ष कहा जाय और प्रत्यक्ष को वस्तु कहा जाय तो किसी भी विषय मे मतैक्य कैसे होगा ? और यदि मतैक्य न हो तो ज्ञान की अतिव्यक्तिकता कैसे होगी ? वास्तव मे वस्तुनिष्ठता (Objectivity) वह है, जिसमे सभी ज्ञाता को एक ही विषय मालूम दे। इसलिए हेगेल के अनुसार सामान्य प्रत्यय अथवा मूलधारणाएँ (Categories) ही वस्तु हैं। देश, काल, कारण-कार्य इत्यादि मूलधारणाएँ है, जो सभी व्यक्तियो मे एक रूप मे पायी जाती है और इन्ही मूलधारणाओ से वस्तुओ का वास्तविक ज्ञान बनता हैं। इसलिए हेगेल के अनुसार वही वास्तविक है, जो युक्तिसगत और वही युक्तिसगत है, जो वास्तविक भी है (Real is rational, and the rational is real)। अत, बर्कले के प्रत्यय मनोवैज्ञानिक सवेदनाएँ हैं, परन्तु हेगेल के प्रत्यय विचारनिष्ठ मूल धारणायें है जिन्हें हम तार्किक सत्तायें कह सकते है। अतः, बर्कले के प्रत्ययवाद मे सापेक्षता तथा विषयीनिष्ठता आ जाती है। विषयीनिष्ठता उसे कहा जाता है जो कुछ ही ज्ञाताओ को सत्य मालूम दे, पर जो सार्वभौमिक रूप से सभी ज्ञाताओ को सत्य न मालूम दे। परन्तु हेगेल के प्रत्यय सभी व्यक्तियो मे समान होने के कारण सार्वभौमिक माने जाते हैं। इस दृष्टिकोण से भी बर्कले का प्रत्ययवाद विषयीनिष्ठ समझा जायगा।

DAVID HUME (1711 to 1776)

फिर बर्कले के अनुसार ईश्वरीय प्रत्यय वस्तुएँ है और उनके अनुसार ये मानव-प्रत्ययो से एकदम भिन्न हैं। परन्तु ऐसा मान लेने से अज्ञेयवाद तथा संशयवाद का स्थान रह जाता है। परन्तु हेगेल के अनुसार ईश्वरीय विचार और मानव-विचार मे केवल परिमाण का ही अन्तर है। मानव ईश्वर ही की सीमित अभिव्यक्ति है और इसलिए मानव-विचार भी ईश्वरीय विचार की सीमित अभिव्यक्ति है। यह ठीक है कि ईश्वरीय विचार पूर्ण है और साकार अवस्था मे पाये जाते है, परन्तु मानव-विचार, ईश्वर की तुलना मे अधिक अमूर्त्त तथा अधूरे हैं। जितना ही अधिक मानव-विचारो मे विकास आता जायगा और वे उन्नत और युक्तिपूर्ण होते जायेंगे उतने ही अधिक परिमाण मे ईश्वरीय विचार के समीप पहुँचते जायेंगे।

अत, बर्कले के प्रत्ययवाद को साधारणतया वस्तुनिष्ठ कहा जा सकता है, परन्तु दर्शन के इतिहास मे 'वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद' का विशेष अर्थ है और इस अर्थ मे बर्कलीय प्रत्ययवाद को विषयीनिष्ठ मानना अधिक सगत होगा।

डेविड ह्यूम (१७११-१७७६ ई०)

आपका जन्म स्कॉटलैंड मे २६ अप्रैल, १७११ ई० मे हुआ था और आपका देहान्त २५ अगस्त, १७७६ को हो गया। आप ब्रिटिश समसामयिक विचारको मे अति प्रखर आलोचक माने जाते हैं और तार्किक अनुभववाद मे आपका नाम बडी श्रद्धा से लिया जाता है। परन्तु यद्यपि ह्यूम को अ-बौद्धिकवादी (Anti-intellectualist) तथा प्रत्यक्षवादी (Positivist) कहा जा सकता है, तथापि आधुनिक दर्शन के इतिहास मे आपके विचार को सशयवाद (Scepticism) माना गया है और इसी रूप मे ह्यूम ने काण्ट को दार्शनिक निद्रा से जगाया था। हम आगे चलकर निर्णय करेंगे कि वास्तव मे ह्यूम के दर्शन को क्या कहा जा सकता है, पर अब हम इनकी मुख्य कृतियो के आधार पर इनके मौलिक सिद्धान्तो की व्याख्या करेंगे।

डेविड ह्यूम दर्शन और इतिहास के विद्वान् थे और इनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं: Treatise of Human Nature (1734-37), Essays (1741--42), Enquiry concerning Human understanding (17--48), Enquiry into the principles of morals (1751), Natural history of Religion (1757), History of England (1754--1762), इत्यादि।

ह्यूम के दर्शन की आधार-शिला या नीव

लॉक और बर्कले ने ज्ञान-मीमासा के बीज-तत्त्व (Elements) को जानने के लिए मनोवैज्ञानिक विधि की मदद ली थी। ह्यूम भी उसी परम्परा को अपनाते हैं। परन्तु ये यथासम्भव लॉक, बर्कले के मूल को सरल और सगत बनाने की कोशिश करते हैं। ह्यूम के अनुसार ज्ञान की रचना मे दो ही प्रकार के बीजतत्त्व पाये जाते

है, अर्थात् प्रत्यक्ष (Impression) और उसका प्रत्यय। प्रत्यय (Idea) से अर्थ है प्रत्यक्ष की प्रतिमा (Images) या उसकी नकल। सवेदनाओ को ह्यूम ने मुख्य माना है। आत्मचिन्तन, सवेदनाओ की नकल नही है, पर सवेदनाओ की तुलना मे उसे गौण कहा जायगा।

प्रत्यक्ष को मूल तथा प्राथमिक बीजतत्त्व कहा गया है और प्रत्यय (Idea) को उसकी नकल बताया गया है। बिना अनुरूप प्रत्यक्ष के प्रत्यय सम्भव नही हो सकते हैं। अतः, प्रत्यक्ष पहले होता है, तब उसका प्रत्यय हो सकता है। जहाँ भी सरल प्रत्यय होगा वहाँ उसके अनुरूप अवश्य ही प्रत्यक्ष को भी रहना चाहिए। परन्तु हम सरल प्रत्ययो को जोडकर यौगिक तथा मिश्रित प्रत्यय बना सकते हैं; जैसे, उडनखटोला का प्रत्यय। अब मिश्रित प्रत्यय के लिए जरूरी नही है कि यह वास्तव मे प्रत्यक्षो की नकल हो। फिर प्रत्यक्ष, प्रत्ययो की अपेक्षा सतेज, सजीव तथा प्रबल होते हैं और उनकी अपेक्षा प्रत्यय निस्तेज तथा क्षीण होते है।

लॉक ने माना था कि सवेदनाओ का उत्पादक कारण, जड-जगत् को समझना चाहिए। बर्कले ने जड-पदार्थ को अस्वीकार किया है, पर प्रत्ययो या सवेदनाओ को मानसिक माना है। ह्यूम ने बताया है कि सवेदनाएँ जिन्हें हम निश्चित रीति से जानते हैं, न तो भौतिक ही समझी जा सकती हैं और न मानसिक ही।* रसेल, मूर इत्यादि वर्त्तमानकालिक विचारको के अनुसार, हम निश्चित तथा अनुभूत बीज-तत्त्व को सवेदित वस्तु (Sense datum) कह सकते है। इन्हें हम तटस्थ वस्तु कह सकते हैं, जिनसे हम जड तथा मन, दोनो प्रकार के द्रव्यो की रचना कर सकते हैं।

ह्यूम का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जहाँ भेद (Difference) किया जा सकता है, वहाँ पृथकता या पार्थक्य (Separation) भी अवश्य होता है (What is distinguishable, is separable)। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी प्रत्यक्ष एक-दूसरे से अलग और पृथक् सरल अवयव के रूप मे पाये जाते है। चूंकि सरल अवयव की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, और अणुओ को सरल, शाश्वत द्रव्य माना जाता है, इसलिए ह्यूम के सवेदनावाद को सवेदन अणुवाद भी कहा जाता है। चूंकि प्रत्यक्ष निरवयव सरल बीजतत्त्व (Elements) है, इसलिए किन्ही भी दो सरल प्रत्यक्षो मे आन्तरिक अथवा अनिवार्य सम्बन्ध नही हो सकता है। परन्तु बिना प्रत्ययो तथा प्रत्यक्षो के बीच सम्बन्ध स्थापित किये हुए ज्ञान सम्भव नही है। इसलिए ह्यूम ने माना है कि प्रत्यक्षो तथा प्रत्ययो के बीच आन्तरिक सम्बन्ध न होकर बाह्य सम्बन्ध सम्भव है।

---

* यहाँ ह्यूम का कहना है कि हम नहीं कह सकते हैं कि . Whether impression "arises immediately from the object, or are produced by the creative power of the mind or are derived from the author of our being." (Selby-Bigge . 'Hume's Treatise', P. 84)

इस प्रकार के सम्बन्ध को, ह्यूम ने साहचर्य-सम्बन्ध (Relation of association) कहा है। अत, आगे चलकर हम देखेंगे कि ह्यूम के अनुसार प्रत्ययो में तार्किक या आन्तरिक सम्बन्ध न होकर केवल वाह्य सम्बन्ध पाया जाता है। यह बाह्य साहचर्य-सम्बन्ध हमारी आदत और कल्पना पर निर्भर करता है। परन्तु जबतक हम प्रत्ययो के बीच आन्तरिक सम्बन्ध न मानें, तबतक किसी भी ज्ञान को, जो इनके सम्बन्ध पर आधारित रहता है अनिवार्य तथा असन्दिग्ध नही कहा जाता है। यही कारण है कि ज्ञान को बाहरी सम्बन्ध पर आधारित मान लेने पर ह्यूम के विचार मे सशयवाद (Scepticism) आ जाता है।

ह्यूम के अनुसार, ज्ञान की इमारत प्रत्यक्ष और उनके अनुरूप प्रत्यय पर खडी हुई है। हम अपनी कल्पना को आकाश और पाताल तक क्यो नही दौडा दें, परन्तु उनकी रास इन प्रत्यक्ष और प्रत्यय की सीमा से बाहर नही जा सकती है। "Let us chase our imagination to the heavens, or to the utmost limits of the universe, we never really advance or step beyond ourselves, nor can conceive any kind of existence, but these perceptions, which have appeared in the narrow compass.' (Selby-Bigge Ibid., p.67) परन्तु हमे देखना है कि मन अपनी रचनात्मक प्रक्रिया से नवीन प्रत्ययो का निर्माण करता है या नही। यह ठीक है कि वर्त्तमानकालिक मनोविज्ञान मे गेस्टाल्टवादियो ने ह्यूमी अनुवाद का मुँहतोड जवाब दिया है। परन्तु यदि हम गेस्टाल्टवादियो की बात छोड भी दें, तो भी ह्यूम की रचना मे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्ययो के निर्माण मे मन नवीन रचना कर सकता है, जिसे हम प्रत्ययो की नकल नही कह सकते।

ह्यूम ने बडे परिश्रम और सावधानी से सिद्ध करने की कोशिश की है कि कोई भी सरल प्रत्यय बिना उसके अनुरूप प्रत्यक्ष के, सम्भव नही है। परन्तु इस अपवाद-रहित सिद्धान्त मे उन्होने स्वय एक अपवाद की सम्भावना दिखाई है। यदि नीले रग की दस मात्राएँ या उपरग (Shades) हो और किसी को एक उपरग को छोडकर अन्य सभी उपरगो को दिखाया जाय, तो उस उपरग का, जो नही दिखाया गया है, वह प्रत्यय कर ले सकता है। अत, यहाँ बिना प्रत्यक्ष के भी सरल प्रत्यय सम्भव हो सकता है, परन्तु ह्यूम ने इसे ऐसा अनूठा उदाहरण माना है कि " 'tis scarce worth our observing, and does not merit that, for it alone, we should alter our general maxim" परन्तु यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि अवसर पडने पर मन ही के आधार पर नवीन प्रत्यय की रचना की जा सकती है, जो हमे प्रत्यक्ष से ही प्राप्त नही होता है।

फिर यदि हमे किसी रग-विशेष का प्रत्यय हो तो क्या इससे किसी एक

---

1. Ibid, P. 2

विशेष उपरग ही का बोध होता है, या उस रग के अनेक उपरंगो का बोध होता है ? लॉक के अनुसार किसी एक रग-विशेष का प्रत्यय अनेक रगो और उपरगो का प्रतिनिधित्व करता है। जनसाधारण के लिए भी यह स्पष्ट है कि हमारा प्रत्यय कितना ही विशिष्ट (Particularised) क्यो न हो, यह एक से अधिक रंगो का बोध कराता है। यह ठीक है कि ह्यूम ने प्रत्ययो को प्रत्यक्षो की नकल माना है, पर क्या वास्तव मे ह्यूम ने दिखला दिया है कि इन दोनो मे लिपि और प्रतिलिपि का सम्बन्ध है ? उनकी पहली कसौटी है कि प्रत्यक्ष सजीव और सतेज है, और प्रत्यय निस्तेज तथा क्षीण है। पर स्वय ह्यूम ने बताया है कि ज्वर, पागलपन तथा भ्राति मे प्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यय ही अधिक सजीव और सतेज दीखता है।[1] फिर प्रत्ययो को प्रत्यक्षो की प्रतिलिपियाँ हम केवल स्मृति ही के आधार पर दिखा सकते हैं, परन्तु क्या स्मृति के आधार पर हम प्रत्यक्ष का साक्षात्कार कर सकते हैं ? स्मृति के द्वारा केवल प्रत्यय ही मिल सकता है, न कि प्रत्यक्ष, "it being impossible to recall the past impression in order to compare them with our present ideas, and see whether their arrangement be exactly similar."।[2] ऐसी अवस्था मे हम कैसे कह सकते है कि प्रत्यय, प्रत्यक्ष की नकल है। अत, हमे मानना पडता है कि प्रत्ययो मे मन की रचना पाई जाती है और यह कहना कि ये केवल क्षीण तथा पूर्वप्रत्यक्षो की ही ध्वनि-मात्र हैं, ठीक नही जँचता है। पर यदि हम मान लें कि प्रत्ययो मे, प्रत्यक्षो के अतिरिक्त कुछ और अश हो सकते हैं, तो प्रत्यक्षो पर आधारित अनुभववाद का खण्डन हो जाता है।

फिर ह्यूम ने माना है कि प्रत्यक्ष सरल तथा स्वाधीन है। ऐसी अवस्था मे प्रत्यक्षो तथा उनकी क्षीण प्रतिलिपि प्रत्ययो के बीच कोई आन्तरिक सम्बन्ध नही हो सकता है। पर क्या प्रत्यक्ष और उसके प्रत्यय मे सम्बन्ध है ? ह्यूम ने उनके बीच सही नकलपन या प्रतिलिपित्व का सम्बन्ध माना है। पर क्या यह सम्बन्ध आन्तरिक है या बाहरी ? जहाँ तक हम अटकल लगा सकते है, ह्यूम इनके सम्बन्ध को आन्तरिक ही मानेंगे। परन्तु हम कैसे जानें कि इनके बीच का सम्बन्ध आन्तरिक है ? प्रत्यक्ष से ही यह सम्बन्ध नही स्थापित हो सकता है, क्योकि भेद तथा सादृश्य स्वय किसी प्रत्यक्ष से जाने नही जा सकते हैं। प्रत्यक्ष से हमे केवल रग, ताप या भाव, सवेग आदि का ही ज्ञान हो सकता है, न कि इनके बीच भेद तथा सादृश्य का। इस प्रकार के ज्ञान को हम बौद्धिक कहते हैं, जिसे मन की देन कहना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान सवेदनाओ से सम्बद्ध अवश्य रहता है, पर इसे सवेदना तथा प्रत्यक्ष (Impression) नही कहा जा सकता है।

---

1. Selby-Bigge . Ibid , pp 5-6
2 Selby-Bigge Ibid , 9. 35

पुन , ह्यूम का कहना है कि हम प्रत्यक्ष को अलग-अलग करके जानते है और वे एक-दूसरे से पृथक् रहते हैं। यदि उनके बीच सम्बन्ध स्थापित कर हम ज्ञान की रचना करते है तो यह सम्बन्ध बाहरी तथा आकस्मिक सहचार पर निर्भर करता है। सहचार के दो नियमो को ह्यूम ने माना है, अर्थात् सामीप्य (Contiguity) और सादृश्य (Similarity) के नियम। सामीप्य-नियम के अनुसार यदि दो या दो से अधिक प्रत्यक्ष एक साथ या एक के बाद दूसरा आयें तो इस प्रकार की परिस्थिति के बार-बार दुहराये जाने पर उनमे ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि एक हमारे सामने प्रस्तुत हो तो दूसरा भी उभड पड़ता है। जैसे, सूर्य और ताप, बार-बार एक साथ पाया जाता है और उनके बीच हम सहचार का सम्बन्ध देखते हैं। पर इससे तो स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य और ताप अलग-अलग नही, पर एक साथ अनुभूत होते हैं। जबतक प्रत्यक्ष एक साथ अनुभूत न हो, तबतक उनके बीच सहचार नहीं हो सकता है और इसे मान लेने से ह्यूम के प्रत्यक्षो की पृथकता (Separateness) का सिद्धान्त टूट जाता है। ह्यूम ने सादृश्य-नियम पर अधिक ध्यान नही दिया है। यदि वे ध्यान देते तो उन्हें स्पष्ट हो जाता कि दो सदृश प्रत्ययों के बीच जरूरी नही है कि वे एक साथ अनुभूत हो और ऐसी दशा मे यदि बुद्ध, ईसा और गाधी मे सम्बन्ध हो तो इसे आन्तरिक सम्बन्ध कहा जायगा। ऐसी अवस्था मे लेयर्ड का कहना ठीक ही जँचता है कि "Perception must be *similar* in order to be associated by *similarity* and .. they must *have been contiguous* in order to be associated by contiguity" अत , ह्यूम के प्रत्यक्षो के सम्बन्ध मे पृथकता का सिद्धान्त युक्तिसगत नही है। पर हमे देखना है कि जब ह्यूम प्रत्यक्षो को पृथक्-पृथक् मानते है तो वे इनके बीच किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर ज्ञान की व्याख्या करते हैं।

ज्ञान मे पायी जानेवाली मुख्य धारणाओ (Categories) की समीक्षा

बिना प्रत्ययो और प्रत्यक्षो को सम्बद्ध किये हुए ज्ञान सम्भव नही है और इसलिए ह्यूम ने भी इनके बीच के सम्बन्ध की व्याख्या की है। इन्होने सामान्य रीति से प्रत्यक्षो के बीच सम्बन्ध को दो वर्गों मे बाँट दिया है। पहले वर्ग मे वे सब सम्बन्ध आते है, जिनका सम्बन्ध केवल प्रत्ययो (Ideas) से ही है, और दूसरे वर्ग में वे सब सम्बन्ध आते है, जिनका सम्बन्ध यथार्थ वस्तुओ से है। सुबोध करने के लिए ह्यूम के सम्बन्धो को इस प्रकार दिखाया जा सकता है
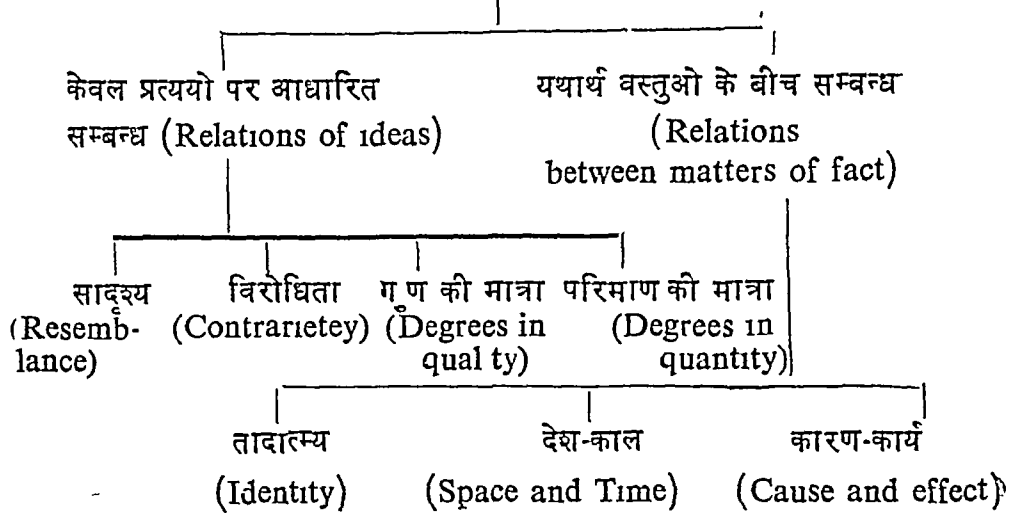
प्रत्ययो के बीच आधारित सम्बन्ध ज्यामिति, बीजगणित और अकगणित मे पाये जाते है। ये सम्बन्ध सहज प्रत्यक्ष (Intuition) तथा प्रदर्शनात्मक (Demonstration) युक्तियों के द्वारा स्थापित किये जाते हैं। ह्यूम के अनुसार ज्यामिति में हमारे निष्कर्ष पूर्णतया असदिग्ध नही हो पाते हैं। केवल बीजगणित और अंकगणित मे ही निष्कर्ष असदिग्ध तथा अनिवार्य देखने मे आते हैं। इनमे असदिग्ध ज्ञान इसलिए पाया जाता है कि इनमे अति स्पष्ट प्रत्यय काम मे लाये जाते हैं। "We are possessed of a precise standard (here) by which we can judge the equality and proportion of numbers "[1] परन्तु ह्यूम के अनुसार, बिना प्रत्यक्ष के प्रत्यय सभव नही हैं, तो गणितशास्त्र के परिस्पष्ट और एकदम सही-सही प्रत्यय आये कहाँ से ? यहाँ ह्यूम चुप्पी लगा जाते हैं। परन्तु वे साफ-साफ लिखते हैं कि प्रत्ययो के बीच के सम्बन्ध से अनिवार्य तथा असदिग्ध ज्ञान अवश्य मिलता है, पर उनका सम्पर्क यथार्थ वस्तुओ से नही रहता है। "Propositions of this kind are discoverable by mere operation of thought without dependence on whatever is anywhere existent in the universe Though there never were a circle or a triangle in nature the truths demonstrated by Euclid would for ever retain their certainty and evidence "[2]

---

1 Selby-Bigge : Ibid ,P 71

Huxley, T 'Hume' P 117. जिनमें ह्यूम की उक्ति का उद्धरण है।

2 देखें David Hume on Human Nature and the Understanding' edited by A Flew, Collier Classics, 1962; P. 47

अब चूँकि ह्यूम का उद्देश्य यथार्थ वस्तुओ से अधिक था, इसलिए हम उनके बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करेंगे। परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि ह्यूम के द्वारा सम्बन्धो का वर्गीकरण समसामयिक तार्किक प्रत्यक्षवादियो के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

यथार्थ वस्तुओं के बीच तादात्मय, देश-काल तथा कारण-कार्य का सम्बन्ध पाया जाता है। शायद ह्यूम की विशेष प्रसिद्धि कारण-कार्य की धारणा के विश्लेषण से विशेष सम्बन्ध रखती है और इसी की व्याख्या हम भी विस्तारपूर्वक करेंगे। देश-काल का हम उल्लेख नही करेंगे और तादात्य का उल्लेख हम द्रव्य-विचार ही के रूप मे करेंगे। फिर यह भी ठीक मालूम देता है कि कारण-कार्य की व्याख्या के पहले हम द्रव्य के सम्बन्ध मे ह्यूम के विचारो की व्याख्या करें।

द्रव्य-विचार—कोई भी प्रत्यय, जिसका सम्बन्ध वास्तविक पदार्थों से है, अपने अनुरूप प्रत्यक्ष पर आधारित रहना चाहिए। यदि द्रव्य (Substance) का प्रत्यय हो तो इसे भी किसी निश्चित प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए, नही तो इसे सही प्रत्यय नही समझा जायगा। द्रव्य वह है, जो गुणो का आश्रय (Support) हो। हमे देखना है कि यह किस सवेदना या आत्मचिन्तन पर आधारित है। यदि यह सवेदना पर आधारित हो तो यह रंग, ताप, घ्राण इत्यादि होगा। परन्तु कोई भी द्रव्य को रग, ताप इत्यादि नही गिनता है। फिर यदि द्रव्य का प्रत्यय आत्मचिन्तन पर आधारित हो तो यह कोई भाव, सवेग इत्यादि होगा। परन्तु द्रव्य को कोई भाव, सवेग इत्यादि भी नही मानता है। अत, द्रव्य-प्रत्यय किसी भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नही होता है। इसलिए यह मनगढन्त दार्शनिकों की कल्पना है। तब इस प्रत्यय की वास्तविकता क्या है? वास्तव मे द्रव्य सरल प्रत्ययो का सग्रह-मात्र है, जिसे हम अपनी कल्पना के द्वारा इकट्ठा करके कोई एक नाम देकर काम मे लाते हैं।

यदि द्रव्य काल्पनिक अथवा मनगढन्त वस्तु हो, तो न जड और न आध्यात्मिक द्रव्य सत्य कहा जा सकता है। ह्यूम बर्कले के जड-द्रव्य की आलोचना स्वीकार कर लेते है, पर वे बर्कले के द्रव्य-खडन को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देते है। ह्यूम का कहना है कि जिस युक्ति के आधार पर जड-द्रव्य को अस्वीकार किया जाता है, उसी युक्ति के आधार पर स्वात्मा का भी खडन किया जा सकता है। हम अपनी स्थायी आत्मा को आत्मचिन्तन के आधार पर नही पाते हैं। हम अपनी सत्ता की कितनी अधिक खोज क्यो न करें, यह कभी भी हमारी अनुभूति मे प्रतीत नही होती है। यदि आत्म-निरीक्षण के आधार पर हम अपनी आत्मा को जानने की कोशिश करें, तो, हम स्थायी स्वात्मा की सत्ता न पाकर सुख-दुख, सवेग, भाव इत्यादि ही को अनुभूत कर पाते है। पर ये तो क्षणिक, परिवर्त्तनशील ही आत्म-प्रत्यक्ष हैं, और स्थायी आत्मा कहाँ देखने मे आती है? For my part, when I enter most intimately into what I call *myself*, I always

stumble on some particular perception or other, of heat or cold, light or shade, love or hatred, pain or pleasure. I never can catch *myself* at any time without a perception If any one upon serious and unprejudiced reflection, thinks he has a different notion of himself, I must confess I can reason no longer with him " [1] अत , जिसे हम आत्मा कहते हैं वह आत्मचिन्तित प्रत्यक्षो की राशि ही है और स्थायी आत्म-द्रव्य अनुभूत नही है। रसेल ने ह्यूम के आत्म-द्रव्य के खडन को महत्त्वपूर्ण माना है, क्योकि इससे द्रव्य-सिद्धान्त का पूर्णतया खडन हो जाता है, और मानव-अमरता की बुनियाद समाप्त हो जाती है। ज्ञान-मीमासा के दृष्टिकोण से इस निष्कर्ष से सिद्ध हो जाता है कि उद्देश्य-विधेय (Subject-predicate) की धारणा मौलिक नही है। अब जो भी द्रव्य-खडन का महत्त्व समझा जाय, कम-से-कम इस खडन से ह्यूमी सदेहवाद पुष्ट हो जाता है जिसको दूर करने के लिए काण्टीय तथा प्रत्ययवादियो का प्रयास दर्शन के इतिहास मे देखने को मिलता है। इसलिए दार्शनिक विचार-विकास मे ह्यूम का किया हुआ द्रव्य-खडन विशेष स्थान रखता है।

ह्यूम के द्वारा की गयी कारण-कार्य की समीक्षा

ह्यूम के लिए कारण-कार्य का सम्बन्ध विशेष स्थान रखता है, क्योकि इसका सम्बन्ध यथार्थ पदार्थों से रहता है। फिर इसी के आधार पर साक्षात् प्रत्यक्षो से परोक्ष के सभाव्य प्रत्यक्षो की ओर हम प्रगति करते हैं और प्रत्यक्ष-सम्बन्धी सर्व-व्यापक नियमो की स्थापना करते है। जैसे, हम नियम बनाते हैं कि सभी वस्तुओ मे गुरुत्वाकर्षण की शक्ति है या मलेरिया कुनैन से अच्छा होता है। यदि वस्तुओ और गुरुत्वाकर्षण मे वास्तव मे सम्बन्ध हो, तो हमारा नियम सत्य ठहरता है, अन्यथा नही। विज्ञानो मे नियमो की स्थापना की जाती है और नियम का सम्बन्ध, कारण-कार्य से है। यदि कारण-कार्य की धारणा सिद्ध ठहरती है तो वैज्ञानिक नियम भी सत्य ठहरते हैं, नही तो वे भी सदेहात्मक ही ठहरेंगे।

यदि कारण-कार्य का सम्बन्ध सही हो तो इसे प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए। अत , हमे देखना है कि यह किस यथार्थ प्रत्यक्ष पर आधारित है। क्या कोई ऐसा गुण वस्तुओ मे है, जिसकी वजह से हम कहते हैं कि वे 'कारण' हैं ? पर ऐसा कोई गुण हमे नही दीख पडता है, क्योकि हम अनेक विभिन्न वस्तुओ को कारण समझते है जिनमे कोई भी गुण सामान्य रीति से नही पाया जाता है। अब यदि वस्तुओ मे कोई ऐसा गुण नही है जिसकी वजह से हम उन्हें कारण समझते हैं तो शायद वस्तुओ के बीच ऐसा सम्बन्ध होगा, जिसकी वजह से हम एक वस्तु को

1. Selby-Bigge . Ibid , P. 252

दूसरी वस्तु का कारण समझते हैं। पहली बात है कि जिन वस्तुओ को हम कारण-कार्य समझते हैं, उनमे सामीप्य का सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे, सूर्य और ताप, ज्वाला और छाँह इत्यादि। फिर कारण-कार्यवाली वस्तुओ मे पूर्वापर या अनुक्रमण (Succession) सम्बन्ध पाया जाता है। कारण पूर्व होता है और तब उसके बाद कार्य आता है। अत सामीप्य और पूर्ववर्तिता (Priority) दो घटनाओ के बीच ऐसे सम्बन्ध हैं, जो कारण-कार्य की धारणा मे मौजूद कहे जा सकते है। इन दो सम्बन्धो को छोडकर तीसरा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध भी इसमे मौजूद समझा जाता है और वह है शक्ति या अनिवार्य लगाव (Power or necessary connection)। कारण मे समझा जाता है कि कोई एक शक्ति है, जिससे यह कार्य उत्पन्न करता है। हमे देखना है कि वास्तव मे क्या कोई ऐसा प्रत्यक्ष है जिसपर "उत्पादक शक्ति या अनिवार्य लगाव' को आधारित रखा जा सकता है? यदि हम कैरम या बिलिअर्ड की गोटियो मे कारणात्मक लगाव को देखें तो पाते हैं कि एक गोटी मे दूसरी गोटी के धक्के से गति उत्पन्न होती है। परन्तु हम धक्का देनेवाली और धक्का खानेवाली गोटी मे नही पाते है कि धक्का देनेवाली गोटी से कोई शक्ति निकलकर धक्का खानेवाली गोटी मे घुस जाय। कारण-कार्य की धारणा मे उत्पादक शक्ति तथा अनिवार्य लगाव को ही मुख्य लक्षण माना जाता है। परन्तु इन्हें हम किसी भी प्रत्यक्ष पर आधारित नही पाते हैं [1]। अब शायद कारण-कार्य की समस्या का समाधान हो जाय यदि हम इन दो निम्नलिखित प्रश्नो के उत्तर दे सकें :

(१) हमारे लिए यह कहना क्यो जरूरी हो जाता है कि बिना कारण के कोई भी घटना नही हो सकती है?

(२) क्यो हम कहते हैं कि अमुक घटना अवश्यमेव दूसरी घटना का कारण होगी?

ऐसा हम क्यो कहते हैं कि बिना किसी कारण के घटना नही हो सकती है? लॉक के अनुसार यह प्रागनुभव (a priori) सिद्धान्त है। परन्तु ह्यूम प्रागनुभव तथा सहज प्रत्ययो की सभावना स्वीकार नही करते है, और इसलिए उनके लिए उपर्युक्त सिद्धान्त का कोई आधार नही मालूम देता है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए जितने भी प्रमाण दिये गये हैं,वे दोषपूर्ण हैं [1]। वास्तव मे यह जरूरी नही है कि जहाँ भी कार्य या घटना हो उसका कोई अमुक कारण अवश्य हो। कारण-कार्य दो भिन्न और परिस्पष्ट प्रत्यय हैं और इसलिए वे पृथक् भी है (The

1 यही बात लॉक ने भी बतायी था, पर उन्होंने कहा था कि हम अपनी सकल्पात्मक (voluntary) प्रक्रिया में उत्पादक शक्ति का अनुभव करते हैं। ह्यूम ने इस प्रसग को नहीं उठाया, क्योंकि वे स्थायी आत्मा के अस्तित्व ही को स्वीकार नहीं करते हैं और इसलिए उनके लिए सकल्पकर्त्ता की सत्ता ही नहीं है।

2. Selby-Bigge · Ibid , P 80-81

distinguishable is also separable)। हमारे लिए यह सोचना जरूरी नही है कि आग से ताप हो, क्योकि हम कल्पना कर सकते हैं कि आग से ताप न मिलकर हमे ठढक मिले अर्थात् आग और ताप, ये दोनो परिस्पष्ट और भिन्न-भिन्न प्रत्यय हैं और इसलिए एक की कल्पना बिना दूसरे प्रत्यय के की जा सकती है।

जहाँ तक हमलोगो ने अनुभव के आधार पर कारण की उत्पादक शक्ति तथा अनिवार्य लगाव को जानना चाहा, वहाँ तक हम इन्हें प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त नही कर पाये है, तो हमे जानना चाहिए कि क्यो हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण समझते हैं। जहाँ तक हमारा अनुभव होता है, वहाँ तक हम देखते है कि जब हम एक प्रकार की वस्तु को पहले देखते है और एक दूसरे प्रकार की वस्तु को बाद मे देखते हैं, तो बार-बार इन्हें पूर्वापर सम्बन्ध में देखकर पूर्ववर्त्ती वस्तु को कारण और अनुवर्त्ती (Posterior) वस्तु को कार्य कहते हैं। उदाहरणार्थ हम आग को जब-जब देखते है, तब-तब हम ताप का भी अनुभव करते हैं। इसलिए हम आग को कारण और ताप को कार्य समझते है। अत. हमलोगों को पता लग गया है कि नित्य सयोग (Constant conjuction) के आधार पर हम एक वस्तु को कारण और दूसरी वस्तु-को कार्य कहते हैं [1]। तो क्या यह निष्कर्ष युक्तिसगत (Rational) है या कल्पना-मात्र है ? यदि यह निष्कर्ष युक्तिसगत होगा तो इसी आधार पर हो सकता है कि प्राकृतिक घटनाएँ समरूप (Uniform) होती हैं और अनदेखी घटनाएँ, देखी हुई घटनाओ के समान होती है। इसलिए आग और ताप की देखी हुई घटनाओ के आधार पर हम कह सकते हैं कि भावी, अनदेखी 'आग-ताप' की घटनाओ के बीच भी अवश्यमेव यही कारण-कार्य का सम्बन्ध होगा। पर क्या यह तर्क ठीक है ? नही, क्योकि हम कैसे कहते हैं कि अनदेखी घटनाएँ देखी हुई घटनाओ के समान होगी ? इसलिए नित्य-सयोग के आधार पर कारण-कार्य का सम्बन्ध युक्ति-सगत नही है। इसलिए इसकी रचना हमारी कल्पना से ही सभव हो सकती है।

पहले तो हमे कल्पना के अधार पर अनिवार्य लगाव होने मे सन्देह होने लगता है। यदि एक बार के प्रत्यक्ष से हमे अनिवार्य लगाव का सम्बन्ध न मालूम दे तो बार-बार उसी प्रकार की घटनाओ की अनुभूति से कैसे एक नवीन गुण की रचना हो सकती है ? बार-बार के दोहराये जाने पर यदि किसी वस्तु मे गुण वर्त्तमान हो तो उसे भांप लेने की क्षमता अवश्य दृढ हो जा सकती है, पर पुनरावृत्ति (Repetitions) से किसी नये गुण का प्रादुर्भाव या उत्पत्ति नही हो सकती है। अनिवार्य लगाव का गुण वस्तुनिष्ठ नही है, इसलिए कितनी ही बार हम वस्तुओ का अनुभव क्यों न करें, इसे हम उनमे नही देख सकते है। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है। यद्यपि पुनरावृत्ति से वस्तुगत गुणो का निर्माण नही हो सकता है तो भी

[1] Ibid, P 87

इसका विशेष प्रभाव हमारे मन पर पड सकता है (A constant conjunction can never produce a *new quality in the object*, but it produces an effect on the mind) प्रभाव इसका यह है कि वस्तुओ के नित्य-सयोग से हमारे अन्दर मानसिक आदत हो जाती है, जिसकी वजह से यदि एक वस्तु हमारे सामने आये तो हम दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा करने लगते है। यदि आग और ताप को बार-बार हम अनुभूत करते हो, तो हमारे अन्दर मानसिक प्रतीक्षा की ऐसी आदत हो जाती है कि आग को देखते ही हम ताप की कल्पना करने लगते हैं। अत, कारण-कार्य के अनिवार्य लगाव का सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ नहीं, परन्तु आत्मनिष्ठ (Subjective) है। हमारे अन्दर ऐसी बाध्यता आ जाती है कि एक वस्तु को देखकर हम अवश्य ही दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

यदि हम कारण कार्य के सम्बन्ध की उत्पादन-प्रक्रिया पर ध्यान दें तो इसमे दो अग देखे जाते हैं, अर्थात् घटनाओ के बीच नित्य-सयोग का होना और फिर सहचार-नियमो से सचालित मानसिक कल्पना मे अनिवार्य प्रतीक्षा का होना। परन्तु यदि ह्यूम की व्याख्या को हम मान लें, तो वास्तव मे घटनाओ के बीच वस्तुगत अनिवार्यता का सम्बन्ध देखने मे नही आयगा। इसलिए वैज्ञानिक नियम जो वस्तुगत सम्बन्धो पर आधारित है, कभी भी असदिग्ध नही ठहर सकेंगे। यही कारण है कि ह्यूम की विचारधारा को सदेहवाद कहा जाता है। पर संदेहवाद युक्तिसगत नही ठहरता है, क्योकि कम-से-कम इसमे भी मान लिया जाता है कि 'सभी ज्ञान सदेहात्माक है' और यह असदिग्ध सिद्धान्त है। फिर यदि हम मान लें कि अनिवार्यता वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ (Subjective) है, तो कम-से-कम ह्यूम इस बात को स्वीकार करते हैं कि मानसिक आदत मे अनिवार्य रीति से अनिवार्यता है। इसलिए ह्यूम का सिद्धात कि किसी भी घटना की अनिवार्यता नही है, असिद्ध ठहरता है। यदि वस्तुओ मे अनिवार्यता न हो, तो ह्यूम को मानसिक प्रतीक्षाओ मे भी अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करना चाहिए था। परन्तु ह्यूम मानसिक प्रतीक्षा मे अनिवार्य आदत को स्वीकार कर इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि सदेहवाद (scepticism) युक्तिसगत नही हो सकता है।

बाह्य जगत् के अस्तित्व मे हमारे विश्वास की व्याख्या

प्राय लोग समझते हैं कि एक बाह्य और स्थायी जगत् है, जिसकी सत्ता ज्ञाता से परे और स्वतन्त्र है, परन्तु जिसे सवेदनाओ के द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु ह्यूम ने पहले ही सिद्ध कर दिया है कि जड-द्रव्य तथा मन-द्रव्य, दोनो ही कल्पनिक है। इसलिए वाह्य जगत् की अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही की जा सकती है। यदि इसकी कोई वास्तविकता है, तो यह हमारी कल्पना पर आधारित है। पर इस निष्कर्ष को न अपनाकर कुछ विचारक समझते हैं कि सवेदनाओ की सजीवता तथा हमारी इच्छाओ से स्वतन्त्रता के आधार पर उनके कारण के रूप मे, वाह्य जगत् को

स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु ह्यूम के अनुसार इसे स्वीकार नही किया जा सकता है। पहली बात है कि कारण-कार्य की धारणा काल्पनिक सिद्ध हो चुकी है और इसके आधार पर हम नही कह सकते है कि हमारी सजीव सवेदनाओ के कारण बाह्य जगत् है, फिर सवेदना की सजीवता से या उन्हें हमारी इच्छाओ से परे मान लेने पर भी किसी स्वतन्त्र जगत् की सत्ता स्वीकार नही की जा सकती है। इसकी वजह है कि हमारे भाव, सवेग, सुख-दुख इत्यादि अति तीक्ष्ण हो सकते हैं और फिर वे हमारी इच्छाओ से परे भी रहते हैं, तो भी उन्हें कोई बाह्य जगत् का कार्य नही मानता है। इसलिए जो भी प्रमाण देकार्त तथा लॉक ने बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता के पक्ष मे दिया है, वह निराधार है। इसलिए ह्यूम का कहना है कि हमे मान लेना चाहिए कि बाह्य जगत् हमारी कल्पना की रचना है। इस रचना का क्या आधार है ?

सवेदनाओ की नित्यता (Constancy) तथा उनकी क्रमबद्ध सबद्धता (Coherence) से ही हमारे मन मे स्थायी, स्वतन्त्र जगत् की सत्ता स्वीकार करने की प्रवृत्ति (Propensity) या झुकाव उत्पन्न हो जाता है। हम नदी पहाड या घर की ओर दृष्टि डालते हैं और फिर जब आँखे मूँदने के बाद हम उन्हें फिर देखते है तो हम उन्हें उसी दशा मे पाते हैं जिस दशा मे उन्हें पहले देखा था। अत, इन वस्तुओ की हमे नित्य समान सवेदना होती रहती है, इसी से हम इन्हें स्थायी और स्वतन्त्र मानते हैं। फिर जलती हुई लकडी को छोडकर जब हम दूर चले जाते है और फिर लौटकर उसे राख के रूप मे पाते हैं, जो उसकी क्रमबद्ध अवस्था है। अत सवेदनाओ की नित्यता तथा क्रमबद्ध सम्बद्धता से हमारे मन मे झुकाव हो जाता है, जिसके अनुसार हम जगत् की स्थायी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं। प्रारम्भ मे यह कल्पना केवल कामचलाऊ हुआ करती है, पर जब बार-बार इस पूर्वकल्पना की पुष्टि होती जाती है, तब स्थायी तथा स्वतत्र जगत् की कल्पना दृढ़ बन जाती है। अत हम सवेदनाओ की नवीनता, परिवर्त्तनशीलता और क्षणभगुरता की अवहेलना करके समान सवेदनाओ को एक ही तरह की सवेदना समझकर स्थायी जगत् की धारणा कल्पित कर लेते है। परन्तु यदि हम अपनी बुद्धि दौडायें तो स्पष्ट हो जायगा की स्थायी जगत् का अस्तित्व भ्रम है, क्योंकि सवेदनाएँ एकमात्र सत्य हैं। वे क्षणभगुर तथा अस्थायी हैं। परन्तु मानसिक झुकाव जो सवेदनाओ की नित्यता तथा क्रमबद्धता से उत्पन्न होता है, हमे स्थायी जगत् के भ्रम मे डाले रहता है। "This propension to bestow an identity on our resembling perceptions produces the fiction of a continued existence, since that fiction, as well as the identity, is really false as is acknowledged by all philosophers and has no other effect than to remedy the interruption of our perceptions, which is the only circu-

mstance that is contrary to their identity." [1]। अत, जब दार्शनिक अपनी बुद्धि की मदद लेता है तो उसे स्पष्ट हो जाता है कि अनित्य सवेदना ही सत्य है और जब वह अपनी कल्पना की आदत मे पडकर काम करता है तो वह स्थायी जगत् की सत्ता को मान लेता है। अत., मानव इन दोनो विरोधी बातो को स्वीकार किये रहते हैं। ह्यूम के लिए यह बात केवल बाह्य जगत् के लिए सत्य नही हैं, पर वे समझते हैं कि व्यावहारिक जीवन के लिए परम्परा और कल्पना ही ठीक है, क्योकि दार्शनिक विचार युक्तिसगत अवश्य है, पर यह फीका और असत्य-सा मालूम देता है। अब ह्यूम के विचार के प्रति इस युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि ह्यूम के अन्दर संदेहवाद भी था और साथ-ही-साथ कल्पना पर आधारित व्यावहारिक जीवन की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते थे। इसलिए हमे जानना है कि क्या वे वास्तव मे सन्देहवादी (Sceptic) थे ?

ह्यूम का सन्देहवाद (Scepticism)

ह्यूम को समसामयिक समालोचक सदेहवादी कहने मे हिचकते हैं। इसका कारण है। स्वय ह्यूम ने अपने विषय मे लिखा है कि वे सदेहवादी नही थे। इस स्थल पर दो बाते है। ह्यूम मानते थे कि प्रत्यक्ष और प्रत्यय पर आधारित उनका अनुभववाद सही है। वह यह भी मानते थे कि सहचार के नियम को स्वीकार करना चाहिए। फिर वे समझते थे कि Custom (परम्परा) और Imagination (कल्पना) से वह ज्ञान मिल सकता है, जिसे जीवन-यापन मे पर्याप्त समझा जा सकता है। यदि हम ह्यूम के उपर्युक्त मन्तव्यो को स्वीकार करें, तो हमे कहना चाहिए कि ह्यूम सन्देहवादी नही थे। पर ह्यूम की विचारधारा का दूसरा भी पक्ष है। उन्होने दिखाया है कि बुद्धि और समझ से प्रत्यक्ष और प्रत्यय के आधार पर असदिग्ध ज्ञान सभव नही है। चूँकि दर्शन मे समझ ही के द्वारा ज्ञान निर्धारित किया जाता है, इसलिए दर्शन के दृष्टिकोण से उन्हे सन्देहवादी कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ भी उन्हें शुद्ध सन्देहवादी नही गिनना चाहिए, क्योकि उनका कहना है कि यदि हम प्रकृति के इशारे पर चलें तो बुद्धि के द्वारा स्थापित सन्देह छूट जाता है। अत, इस दृष्टिकोण से ह्यूम सन्देहवादी नही, पर वे अपने युग के दर्शन के आलोचक थे। दबी जुबान से अबौद्धिकता (Anti-intellectualism) का नारा उन्होने उठाया है, पर चूँकि उनका यह पक्ष पुष्ट नही हो पाया है, इसी से लोग हयूम को सन्देहवादी ही के रूप मे मानते आते हैं।

अत, हम इस निष्कर्ष पर आते है कि ह्यूम के विचार मे भावात्मक या रचनात्मक (Positive or constructive) तथा नकारत्मक या खडनकारी (Negative or destructive) दो पक्ष देखने मे आते है। उनका खंडनकारी पक्ष परिपूर्ण है

1. Selby-Bigge Ibid., P 211

और रचनात्मक पक्ष क्षीण है। इसलिए उन्हें सन्देहवादी नही कहकर दर्शन का आलोचक पुकारना चाहिए। उनका निष्कर्ष सन्देहात्मक है, पर सन्देहवाद नही। ह्यूम के विचार के इस मूल्याकन को ध्यान मे रखते हुए हम उनके सन्देहात्मक या खडनकारी मत का उल्लेख करेंगे।

ह्यूम के अनुसार Impressions और Ideas एकमात्र ज्ञान के मान्य अग है। इन्ही Impressions और Ideas की कसौटी पर किसी प्रकार के ज्ञान की सत्यता आंकी जा सकती हैं। चूंकि प्रत्यक्ष क्षण-प्रतिक्षण बदलते रहते है, इसलिए स्थायी द्रव्य का प्रत्यक्ष नही किया जा सकता है। अत, हमे जड और आत्मिक द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करना चाहिए। चूंकि आत्मिक द्रव्य सत्य नही है, इसलिए हमे स्थायी ज्ञाता को भी नही ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यदि क्षण-प्रतिक्षण ज्ञाता बदलता जाय तो ज्ञाता के द्वारा किस प्रकार से स्थायी, सर्वकालिक तथा सार्वभौमिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ? यदि हम मान लेते कि घटनाओ या प्रत्यक्षो (Impressions) के बीच अनिवार्य सम्बन्ध है, तो शायद इसी सार्वभौमिक तथा अनिवार्य सम्बन्ध के आधार पर स्थायी ज्ञान की इमारत उठाई जा सकती। पर इसकी भी सभावना ह्यूमी विचार मे छोडनी पडेगी, क्योकि ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य का अनिवार्य सम्बन्ध वस्तुगत नही है। अत, ह्यूम के दर्शन का निष्कर्ष है 'सर्वम् क्षणिकम्'। इसलिए इसे शून्यवाद भी कहा गया है। देकार्त, लॉक और बर्कले ने दर्शन की विशाल आधुनिक इमारत खडी की थी, पर ह्यूम ने उसकी नीव को कच्ची ठहरा दी है। उनके हथौडो के आघात से वह इमारत ध्वस्त होकर श्मशान बन गयी है। पर यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि ह्यूम गाणितिक ज्ञान को असदिग्ध मानते थे और इसलिए दर्शन की इमारत के खडहर मे अब भी कुछ सरक्षित भाग खडा है।

ज्यामितिक ज्ञान को ह्यूम ने असदिग्ध नही माना है, क्योकि वे समझते थे कि यह वास्तविक या काल्पनिक आकारो के प्रत्यक्ष पर आधारित रहता है और प्रत्यक्ष के द्वारा कोई भी असदिग्ध ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता है। हाँ, आप बीजगणित और अकगणित के निष्कर्षों को अनिवार्य और और असदिग्ध मानते थे, परन्तु यहाँ भी ह्यूम ने कहा है कि हमारी शक्ति इतनी क्षीण है कि यहाँ भी गलती हो जाने की पूरी गुजाइश है। इसलिए "having thus found in every probability, beside the original uncertainty inherent in the subject, a new uncertainty derived from the weakness of the faculty, which judges and having adjusted these two together, we are obliged by our reason to add a new doubt derived from the possibility of error in the estimation we make of truth and fidelity of our faculties "[1]

1 Selby-Bigge Ibid , P 182

तो क्या यह कहना ठीक है कि ह्यूम के दर्शन मे 'Nothing remains ? The vast structure of philosophy crumbles to dust In him philosophy finds itself in the midst of ruins of its own making' सदेहवाद युक्तिसगत नही हो सकता , । क्योकि सदेही अपने ही सदेह पर सदेह करने लगता हैं और इस प्रकार से उसका सदेह छूट जाता है । यही कारण है कि ह्यूम ने लिखा है कि सदेहवाद के विरुद्ध मे तर्क करना व्यर्थ है, क्योकि वास्तव मे कोई शुद्ध सदेही नही हो सकता है और इसलिए उन्होंने अपने को भी सदेहवादी नही माना है । "Should it here be asked. ..whether I be really one of those sceptics, who hold that all is uncertain, and that our Judgment is not in *anything* possessd of *any* measures of truth and falsehood, I should reply that this question is entirely superfluous, and that neither I nor any other person was ever sincerely and consistently of that opinion."[1]

ह्यूम का कहना है कि यदि हम अपनी बुद्धि या समझ (Reason) पर भरोसा रखें, तो सदेहवाद अनिवार्य रीति से हमे ग्रहण करना पडेगा । इसलिए सदेहवाद से बचने के लिए हमे बुद्धि के जालो से बचना चाहिए । कभी-कभी तो ह्यूम अतिरूप मे अबौद्धिक हो जाते हैं, जैसे इस युक्ति से झलकता है, "Carelessness and inattention alone can afford us any[2] remedy" सदेहवाद से बचने की विधि है कि हम प्रकृति के दिये हुए ज्ञान को ग्रहण करें । प्रकृति ने केवल हमे साँस लेने की शक्ति या सवेदनाओ के प्राप्त करने की ही क्षमता नही दी है, पर सोचने की भी शक्ति दी है[2] और हमे चाहिए कि हम प्रकृति के इशारे पर चलें । उनकी यह प्रसिद्ध उक्ति है, "Most fortunately it happens, that since reason is incapable of dispelling these clouds, nature herself suffices to that purpose, and cures one of this philosophical melancholy and delirium . I dine, I play a game of backgammon, I converse and am merry with my friends, and when after three or four hours' amusement, I return to these speculations, they appear so cold and strained and ridiculous that I cannot find in my heart to enter in them any further "[3]

परन्तु केवल इतना ही कहने से काम नही चल सकता है कि हमे प्रकृति द्वारा दिये गये प्रकाश से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । हमे जानना चाहिए कि उस प्रकाश का क्या स्वरूप है, जिससे ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । इस विषय पर ह्यूम ने अपने विचारो को हमारे सामने स्पष्ट नही किया है । पर जब हम कारण-कार्य तथा

---

1 Ibid , P 183

2 Ibid , P. 183

3 Selby-Bigge . Ibid , P. 269

द्रव्य के खण्डन पर ध्यान देते है जिसे ह्यूम ने हमारे सामने रखा है तो बार-बार सदेहवाद से बचने के लिए उन्होने कहा है कि reason (बुद्धि, समझ) से नही, पर custom और imagination से ही ज्ञान सभव हो सकता है। अब ह्यूम जिसे custom और imagination कहते है वह मनोवैज्ञानिक सत्यता है। अत ह्यूम के अनुसार, तर्कशास्त्र से नही पर मनोवैज्ञानिक नियमो के अनुसार से ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ह्यूम के अनुसार सहचार (association) मनोवैज्ञानिक नियमो मे मुख्य है और यदि सहचार पर ज्ञान आधारित हो तो किसी दो व्यक्तियो मे एक ही प्रकार सहचार नही हो सकता है और इसलिए सहचार पर आधारित ज्ञान भी सार्वभौमिक नहीं हो सकता है। हाँ, कामचलाऊ ज्ञान मिल सकता है और ह्यूम का कहना है कि हमे इसी प्रकार के ज्ञान से सतोष कर लेना चाहिए, ". we might hope to establish a system or set of opinions which if not true (for that perhaps is too much to be hoped for), might at least be satisfactory to the human mind, and might stand the test of the most critical examination."[1]

अतः, उपर्युक्त कथन से हमे मानना पडता है कि ह्यूल सदेहवादी नही थे, पर सदेहवाद से बचने का जो उपाय उन्होने बताया है उस पर उन्होने पूरा प्रकाश नही डाला है। यही कारण है कि समालोचक ह्यूम के रचनात्मक विचारो को उस अश मे नही पाते हैं जिस अश मे वे उनकी खडनात्मक युक्तियो की भरमार को देखते है। पर वास्तव मे ह्यूम सदेहवादी नही थे।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या आवश्यक हैं कि अनुभववाद सदेहवाद मे परिणत हो जाय ?[२] यह ठीक है कि अनुभववाद का यथार्थ प्रारम्भ लौक की गवेषणाओ से हुआ और उन्ही की विचारधारा मे सदेहवाद अस्फुट रूप मे था। इसका कुछ और अधिक विकास बर्कले के चिन्तन मे देखने मे आता है और सदेहवाद की चरम सीमा ह्यूम के विचारो मे देखने मे आता है। इसी से ह्यूम के सदेहात्मक निष्कर्ष को अनुभववाद का अन्तिम परिणाम कहा गया है।[3] पर हमे देखना है कि लौकीय अनुभववाद क्यो सदेहवाद मे परिणत हो गया है। इसका विशेष कारण है कि लौकीय अनुभववाद की नीव अनुभववादी थी और इसका आदर्श बुद्धिवादी था। लौक के अनुसार ज्ञान को अनिवार्य, असदिग्ध तथा सार्वभौमिक होना चाहिये। परन्तु ह्यूम ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान अनिवार्य,

---

१. इस विषय में देखें, Selby-Bigge,-Ibid pp 270, 272

२ इसे प्राय पूछा जाता है, Must empiricism end in scepticism ?

३. इस विषय में लोकोक्ति है "Hume's Scepticism is the logical outcome of the empiricism of Locke."

असदिग्ध तथा सार्वभौमिक नही हो सकता है। पर क्या यह आवश्यक है कि वही ज्ञान के नाम से पुकारा जाय जो अनिवार्य और असदिग्ध हो ? कम-से-कम सम-सामयिक (Contemporary) अनुभववाद की दो मुख्य धाराएँ हैं। एक को प्रयोजनवाद (Pragmatism) और दूसरे को तार्किक अनुभववाद (Logical empiricism) कहा जाता है। और, इन दोनो मे से कोई भी धारा इसे स्वीकार नही करती है कि ज्ञान को अनिवार्य तथा असंदिग्ध समझा जाय। इनके अनुसार हम किसी भी वास्तविक ज्ञान को तभी ज्ञान कह सकते हैं जब उसके सत्य होने की सभावना विशेष रूप से हो। स्वय ह्यूम ने स्पष्ट कर दिखाया है कि केवल प्रत्ययो ही के बीच रहने वाले ज्ञान मे अनिवार्यता और असदिग्धता पायी जाती है, जैसा कि गाणितिक युक्तियो मे देखने में आता है। पर उन्होंने स्पष्टतया लिखा है कि इस प्रकार का असदिग्ध ज्ञान यथार्थ वस्तुओ के सम्वन्ध मे प्राप्त नही किया जा सकता है, और वह ज्ञान जो यथार्थ वस्तुओ से सम्वन्ध रखता है कभी भी अनिवार्य नही हो सकता है। ह्यूम के इस निर्णय को तार्किक अनुभववादी पूर्णतया अपनाते हैं।† इसलिए यदि हम मान लें कि सभाव्य ज्ञान भी ज्ञान है तो अनुभववाद को सदेहवाद मे परिणत होने की सभावना नही रहती है। अत, यह आवश्यक नही है कि अनुभववाद का अन्तिम परिणाम सदेहवाद हो।

ह्यूम और तर्कनिष्ठ अनुभववाद*

पुस्तक के प्रथम अध्याय मे ही हमलोगो ने कहा है कि समसामयिक अनुभववाद विशेषतया आकृत्यन्तरवादी है, अर्थात् इसके अनुसार दो ही प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य हैं (१) गणित तथा तर्कशास्त्र के विश्लेषणात्मक वाक्य, और (२) तथ्यात्मक विज्ञानो के सश्लेषणात्मक वाक्य। जैसा कि कहा जा चुका है[1], यह ह्यूम की उक्तियों पर ही आधारित है ·

"यदि हम अपने हाथ मे, उदाहरणार्थ ईश्वर-दर्शन या स्कूल तत्त्व-मीमासा-सम्बन्धी, किसी प्रति (Volume) को लें और पूछें, क्या इसमे परिमाण या सख्या-विषयक अमूर्त्त तर्कनाएँ हैं ? नही। क्या इसमे तथ्य और वास्तविकता-विषयक प्रयोगात्मक तर्कनाएँ हैं ? नही। तब इसे अग्नि-विसर्जन कर दो, क्योकि अन्यथा इसमे गल्प तथा भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता है।"[2] समसामयिक

† देखें Ayer, A J.. 'Logic, Truth and Language' का 'Introduction'।

1 देखें, पृ० 36

2 David Hume on Human Nature and the Understanding, edited by A flew, Collier classics, 1962—P. 163

* उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए

तर्कनिष्ठ अनुभववाद ह्यूम के इसी आकृत्यन्तरवाद पर आधारित है और एर ने यह बात अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Language, Truth and Logic' के प्रथम सस्करण के प्राक्कथन के प्रारम्भ मे कही है। यही बात आज भी हैम्पशायर ने 'David Hume: A symposium' के Hume's place in philosophy नामक शीर्षक के अन्तर्गत कही है। इसके अनुसार ब्रिटेन के समसामयिक दर्शन मे अब भी ह्यूम का प्रबल प्रभाव है[1]। लेकिन फिर भी ह्यूम और समसामयिक अनुभववाद मे कई स्थलो पर भारी भेद है।

(१) पहली बात है कि समसामयिक अनुभववाद तर्कनिष्ठ कहा जाता है और ह्यूम का अनुभववाद विशेषतया मनोवैज्ञानिक अध्ययन कहा जायगा।

(२) फिर चूँकि ह्यूम ने विशेषकर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपनी दार्शनिक विचारधारा स्थापित की, इसलिए उन्होने गणित की अनिवार्यता और उसकी पूर्वानुभविकता का सतोषजनक स्पष्टीकरण नही किया है।

ह्यूम की मनोवैज्ञानिकता— ह्यूम के अनुसार 'सभी विज्ञान एक मौलिक विज्ञान पर आधारित हैं और वह है मानव का विज्ञान।'

"गणित, प्रकृति-दर्शन और नैसर्गिक धर्म भी कुछ दूर तक मानव-विज्ञान पर निर्भर रहते हैं, क्योकि ये मानव की ज्ञान-चेतना पर आधारित रहते और उनकी शक्तियो तथा मन शक्तियो के द्वारा निर्मित होते हैं। यह कहना असभव है कि इन विज्ञानो मे कितना सुधार और परिशोधन हो सकता है यदि हम पूर्णतया मानव-समझ की सीमा और उसकी शक्ति से अवगत हो जायँ और काम मे लाये जानेवाले प्रत्ययो और युक्तियो मे व्यवहृत प्रक्रियाओ की व्याख्या कर पायें।"*

फिर उनकी उक्ति है

"And, as the science of man is the only solid foundation for the other sciences, so the only solid foundation we can give to this science itself must be laid on experience and observation "†

अब ह्यूम और समसामयिक अनुभववादी दोनो ऐन्द्रिय सरल प्रत्यय को तथ्यात्मक प्रकथनो की अर्थपूर्णता की कसौटी मानेंगे। प्रमाणीकरण-सिद्धान्त के अनुसार अर्थपूर्णता की कसौटी अन्त मे निरीक्षणीय (Observables) को ही माना जायगा और ह्यूम भी इस प्रसग मे छाप (Impression) को ही कसौटी मानते हैं।

"When we entertain, therefore any suspicion that a philosophical term is employed without any meaning or idea (as is but too

1, Edited by D F Pears, Macmillan & Co, 1963; P 1

*David Hume on Human Nature and the Understanding, P 172

†Ibid., P 173

frequent), we need but enquire, *from what impression is that supposed idea derived ?*"[1]

परन्तु दोनो के बीच मौलिक अन्तर है। समसामयिक अनुभववाद तार्किक कसौटी को, न कि मनोवैज्ञानिक आधार को अपनाता है। समसामयिक अनुभववाद के अनुसार हमे किसी निरीक्षणीय की ओर उँगली दिखाकर बताना है कि अमुक प्रत्यय या प्रकथन का यह अर्थविशेष है और इसके अनुसार किसी प्रत्यय की उत्पत्ति दिखाकर किसी तथ्यात्मक प्रकथन का अर्थ-निरूपण नही किया जा सकता है। यह अन्तर ह्यूम के कारण-कार्य के प्रत्यय-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। जब ह्यूम को कारण-कार्य के अनुरूप कोई सरल छाप नही मिली तब उन्होने दिखलाने की कोशिश की कि इस भावना की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है। उन्होंने अन्त मे बताया है कि मानव-मन का यह सारगुण है कि किसी अनुभूति के बार-बार दुहराये जाने पर इसमे प्रतीक्षा की ऐसी गहरी प्रवृत्ति या झुकाव उत्पन्न हो जाता है कि आग के देखते ही हममे ताप की भावना अकुरित हो जाती है। अन्त मे ह्यूम के अनुसार सभी घटनाओ मे कारण-कार्य का सम्बन्ध देखना केवल मानव-मन की कल्पना की उपज है। अब ह्यूम की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सत्य है या असत्य, यह बाल-मनोवैज्ञानिक निश्चित कर सकता है। पर इसे समसामयिक अनुभववादी तर्कनिष्ठ व्याख्या नही गिनेगा। तर्क की दृष्टि से हमे देखना है कि क्या ऐसी अनुभूति है, जिसकी ओर उँगली दिखाकर हम बतायें कि यह कारण-कार्य के प्रत्यय की कसौटी हो सकती है या नही। समसामयिक अनुभववादी ह्यूमी व्याख्या के भावात्मक पक्ष को स्वीकार नही करेगा। हाँ, वह मानता है कि ह्यूम के नकारात्मक मत को स्वीकार कर लेना चाहिए, जिसके अनुसार ऐसा कोई प्रत्यय नही, ऐसी कोई वास्तविक छाप नही है जिसके आधार पर कारण-कार्य की मूलधारणा को स्थापित किया जा सकता है।

ह्यूम ने मूलधारणाओ पर जिन्हें काण्ट ने पदार्थ (Category) कहा है विशेष ध्यान नही दिया। उनको देखना चाहिए था कि ये पदार्थ तथ्यात्मक प्रत्यय नही हैं और न ये अनुभूतिजन्य सामान्यीकरण (Generalisation) हैं। इन्हें समसामयिक अनुभववादी भाषा का व्यापक नियम मानते हैं। द्रव्य, कारण-कार्य, भाव, अभाव इत्यादि वे पदार्थ हैं, जिन्हें मानव ने भाषा-व्यवहार का नियम मान लिया है और इन्हें अब भी सभी विचारक इसलिए काम मे ला रहे हैं कि इनसे विचार-विनिमय तथा व्यवहार मे सफलता मिलती आ रही है। लेकिन ह्यूम की यह गलती थी कि उन्होंने इन पदार्थों को भी अनुभूतिजन्य मानसिक टेव या आदत ही माना है।

'Hume does not draw any absolute distinction between the modes to which our mind conforms itself in thought and behaviour,

1 David Hume on Human Nature and Understanding—pp. 36-37. इसीसे मिलते-जुलते उद्धरण के लिए फिर देखें, पृ० 291-92

recognising them as rules to which any thinking *must* conform, and mere habits and uniformities in our thought and behaviour....

"Against Hume Kant argued that the human mind is the source of rules which it imposes, both in thought and in action on the raw material of experience. The proper work of philosophy is to make explicit the inner connexions between these rules that govern all our thought and action"[1]

चूंकि ह्यूम की विधि मनोवैज्ञानिक थी, इसलिए किसी भी तथ्यात्मक प्रकथन की अर्थपूर्णता को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने बार-बार 'मन के अन्तर्विषय' (Contents of the mind) की दुहाई दी है। परन्तु समसामयिक अनुभववादी किसी भी प्रकथन के अर्थ-निरूपण के लिए भाषा-विश्लेषण करता है और यदि ह्यूम भाषा-विश्लेषण पर ध्यान देते तो उन्हें अपनी कमियां दिखायी पडने लगती। उन्हें स्पष्ट हो जाता कि तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्यय (Idea) नही, वरन् सरल वाक्य, मूल वाक्य वस्तुप्रदर्शक (Ostensive) वाक्य ही तात्त्विक अश हैं, जिनके द्वारा जटिल ज्ञानात्मक वाक्यो या प्रकथनो की रचनाएँ की जा सकती हैं। अब यदि वे प्रकथनो का विश्लेषण करते तो उन्हें स्पष्ट हो जाता कि प्रकथनो को उच्च तथा निम्न श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है। द्रव्य-विचार या कारण-कार्य का पदार्थ उच्च स्तरीय भाषा के प्रकथन हैं और 'रोटी से पट भरता है' यह निम्न स्तरीय भाषा का वाक्य है। ह्यूम की यह गलती थी कि वे कारण-कार्य अथवा द्रव्य-विचार के प्रकथनो को आनुभविक अथवा निम्न स्तरीय भाषा के रूप मे समझते थे। निम्न स्तर के प्रकथन वे हैं, जो अनुभूति को व्यक्त करते हैं, जैसे, यह मेज काली है, या यह कलम लाल है। परन्तु यदि हम मेज के कालेपन या कलम के लालपन की बात न करके स्वय वाक्यो के सम्बन्ध मे ही विचार करने लग जायँ तो जो कुछ व्यक्त करेंगे, उसे उच्च स्तर की भाषा मे कहना होगा। आगे चलकर काण्ट और रसेल ने बताया है कि पदार्थ-विश्लेषण आनुभविक भाषा में व्यक्त नही किया जा सकता है और उनका विश्लेषण और अर्थनिरूपण उच्च स्तरीय भाषा के प्रकथनो के आधार पर करना पडता है।

फिर आगे चलकर पियर्स ने बताया है कि मनोवैज्ञानिक विधि के पालन करने ही के कारण ह्यूम व्यक्तिवाचक प्रकथनो की व्याख्या नही कर पाये हैं।[2] परन्तु उससे अधिक ह्यूम की बडी कमी यह है कि वे गाणितिक प्रकथनो की व्याख्या नही कर पाये हैं और कही-कही पर उन्होने बडी भूलें की हैं।

---

1 S N. Hampshire *'Hume's place in philosophy,'* in *'David Hume : A symposium'*, P. 7

2 David Hume A symoposium, PP. 20-21

गाणितिक वाक्यो की व्याख्या—हमलोगो ने देखा है कि ह्यू म ने आकृत्यन्तर-वादी अनुभववाद के अनुरूप प्रकथनो को गणित के विश्लेपणात्मक और तथ्यात्मक विज्ञानो के सश्लेपणात्मक वाक्यो मे बाँटा है। उन्होने तर्कशास्त्र के पदार्थमूलक प्रकथनो को साफ कर दिया है, क्योकि उन्होने इन तार्किक वाक्यो के महत्त्व को नही समझा था। पर उन्हें गाणितिक वाक्यो की सही व्याख्या करनी चाहिए थी, जिसे उन्होने गलत किया है।

ह्यू म के अनुसार गाणितिक प्रकथनो मे अनिवार्यता पायी जाती है और इन्हें उन्होने पूर्वानुभविक तथा अमूर्त्त तर्कना या समझ की देन कहा है। इन प्रकथनो की विशेपता यह है कि इनके आधार पर या इनसे वास्तविक जगत् का तथ्यात्मक ज्ञान नही मिल सकता है। फिर उन्होने यह भी बताया है कि केवल प्रत्ययो के आपसी सम्बन्ध पर ही गाणितिक प्रकथनो की अनिवार्यता निर्भर करती है। उनके अनुसार विश्लेपणात्मक वाक्य इसलिए अनिवार्य है कि हम इनके विपक्ष मे सोच ही नही सकते हैं।

"When demonstration convinces me of any proposition, it not only makes me conceive the proposition, but also makes me sensible that it is impossible to conceive anything contrary What is demonstratibly false implies a contradiction, and what implies a contradiction cannot be conceived." [1]

इसके विपरीत सश्लेषणाक अथवा तथ्यात्मक प्रकथन वे है, जिनका सम्बन्ध वास्तविक घटनाओ से है। वास्तविक घटना कितनी ही अधिक अनुभूतिसिद्ध क्यो न हो, पर हम हमेशा इनके विपक्ष के रहने की सम्भावना सोच सकते हैं।[2] जैसे, जल तरल होता है और अग्नि से ताप मिलता है। ये अनुभव से सिद्ध प्रकथन हैं और दैनिक जीवन मे हम बराबर इन्हें सत्य मानकर चलते हैं। पर हम कल्पना कर सकते हैं कि अग्नि से ताप न मिलकर ठढक मिले और जल तरल न होकर वाष्पमय हो।[3]

But with regard to any matter of fact, however strong the proof may be from experience, I can always conceive the contrary though I cannot always believe it.[4]

यह ठीक है कि ह्यू म के द्वारा स्पष्ट किये गये विश्लेषणात्मक तथा तथ्यात्मक

---

1 David Hume on Human Nature and the Understanding, P. 52

2 P 295

3 वहीं, पृ० १६१

4 वहीं, पृ० २६५। फिर देखें, पृ० ४७, ५०

प्रकथनो का भेद सही है। क्या उन्होने प्रागनुभविक तथा गाणितिक प्रकथनो की सही व्याख्या की है? यह ठीक है कि ह्यूम के अनुसार प्रागनुभविक तथा कारण-कार्य की अनिवार्यता मे भेद है, पर इस भेद पर उन्होंने कोई प्रकाश नही डाला है। गाणितिक प्रकथनो की अनिवार्यता को उन्होंने पूर्वानुभविक तर्कना पर आधारित कहा है और बताया है कि अनिवार्यता समझ (Understanding) की प्रक्रिया पर निर्भर करती है :

" The necessity which makes two times two equal to four, or three angles of a triangle equal to two right ones, lies only in the act of the understanding by which we consider and compose these ideas "[1]

इसकी तुलना मे उन्होंने बताया है कि कारण-कार्य की अनिवार्यता मन के झुकाव पर या बीती अनुभूति से प्रभावित आत्मा की अपनी ही प्रवृत्ति पर आधारित रहती है। पर ह्यूम ने स्पष्ट नही किया है कि कारण-कार्य की मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता, जो मन की अपनी प्रकृति पर निर्भर करती है और समझ (Understanding) की अनिवार्यता एक ही है या भिन्न ?[2] ह्यूम के बाद मिल नें बताया है कि गाणितिक अनिवार्यता भी अनुभूति के बार-बार दुहराये जाने पर हीं प्राप्त होती है। हमलोगो ने दो और दो आम को मिलकर चार होते बहुत बार देखा है और यही कारण है कि हम मानव की सामूहिक और अपवाद-रहित अनुभूति के आधार पर सख्या, परिमाण तथा ज्यामिति के प्रकथनों के बीच अनिवार्यता स्थापित करते हैं। ह्यूम स्पष्ट रीति से नही कहते हैं कि गाणितिक अनिवार्यता भी कारण-कार्य की अनिवार्यता के समान सहचार पर आधारित है या नही ? एक स्थल पर अस्पष्ट रूप से उन्होने कहा है कि गाणितिक प्रकथन भी अनुभूति से ही प्राप्त किये जाते हैं।[3]

परन्तु पियर्स का यहाँ कहना है कि शायद ह्यूम मिल के समान सहचारवादी न हो। तोभी शायद उनका मत हो सकता था कि सहचार:रीति से कारण-कार्य की अनिवार्यता और पूर्वानुभविक रीति से गाणितिक प्रक्रियाओ की अनिवार्यता, दोनों मानव-प्रकृति के अन्तिम तथ्य हैं और इसलिए दोनो अनिवार्यताएँ अन्त मे अनुभव पर ही आधारित होती है। अन्तर इतना ही है कि पूर्वानुभविक अनिवार्यता या गाणितिक

1. David Hume on H T. and understanding, P. 210

2. ह्यूम ने एक स्थल पर लिखा है कि अन्त में एक ही प्रकार की अनिवार्यता है और वह मानसिक स्वरूप की तथ्यात्मक अनिवार्यता है (Selby-Bigge : Hume's Treatise, P. 171)।

3. वहीं, पृ० १५५—१५७

प्रकथनो की अनिवार्यता अधिक व्यापक अनुभव पर, अर्थात् मानव-प्रकृति के अति व्यापक तथ्य पर और कारण-कार्य की अनिवार्यता सहचार-सम्बन्धी सकीर्ण अनुभूति पर टिकी हुई कही जायगी ।[1]

ह्यूम की यह भूल थी कि वे समझते थे कि ज्यामिति के प्रमेयो की वैधता प्रतिमा और वास्तविक संवेदनाओ से प्राप्त की जाती है और इसीसे ह्यूम ज्यामितिक प्रकथनो को पूर्णतया अनिवार्य नही मानते थे ।

"The reason why I impute any defect to geometry, is, because its original and fundamental principles are derived already from appearances."[2]

फिर उन्होने बताया है कि गणित के बीजगणित और अकगणित की अनिवार्यता असदिग्ध है, पर यह प्रत्ययो की स्पष्टता तथा परिस्पष्टता पर निर्भर रहती है । परन्तु यह स्पष्टता और परिस्पष्टता कैसे प्राप्त की जाती है, इसपर ह्यूम ने सिर्फ इतना ही कहा है कि हमारे सभी प्रत्यय छापो से प्राप्त किये जाते हैं और इसलिए स्पष्ट तथा परिस्पष्ट भी छापो से ही प्राप्त होते हैं ।[3]

अब समसामयिक अनुभववादी ह्यूम के उस मत को मान्यता नही देंगे, जिसके अनुसार गाणितिक प्रकथन अनुभूति से प्राप्त किये जाते हैं । समसामयिक अनुभववाद के अनुसार गाणितिक प्रकथन पदो की परिभाषा से निगमित होते हैं । यदि हम 'बरसाती दिन' का सही अर्थ समझते हो तो हमे मानना पडेगा कि यह 'आर्द्र' भी होगा । उसी प्रकार यदि हम त्रिभुज, रेखा इत्यादि पदो को समझते हो तो ज्यामिति के स्वयंसिद्धो तथा नियमो के अनुसार इसके प्रमेयो को भी सगत रीति से प्राप्त कर सकते हैं । यही कारण है कि ह्यूम की मनोवैज्ञानिकता से अपने को बचाने के लिए समसामयिक अनुभववादी 'तर्कनिष्ठ' शब्द को जोड देते है ।

ह्यूम के दर्शन का मूल्यांकन

ह्यूम के सदेहवाद की समीक्षा करते हुए हमलोगो ने देखा है कि ह्यूम की विचारधारा मे भावात्मक और अभावात्मक दो पक्ष पाये जाते हैं और ये दोनो पक्ष दर्शन के विकास मे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं । ह्यूम के सदेहवादी निष्कर्ष को दूर करने के लिए रीड और काण्ट ने अपना भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं और काण्ट ने स्वय ह्यूम की इस देन को स्वीकार किया है । फिर ह्यूम के भावात्मक पक्ष मे अनेक धाराएँ अस्फुट रूप से पायी जाती हैं, जिनका विकास पाश्चात्य दर्शन के भावी

1 देखें, 'David Hume A Symposium; पृ० २४-२६, विशेषकर पृ० २८-२६

2. David Hume on Human Nature and the Understanding, - P. 189

3. वहीं, पृ० १६०

विचारो मे देखने मे आता है। हमलोगो ने देखा है कि ह्यूम के अनुसार तर्कशास्त्र से नही, वरन् मनोविज्ञान से ही जीवन सचालित होता है। इस रूप मे समसामयिक फ्रायड, फ्रैंक्सी इत्यादि मनोविश्लेषक (Analysts) का कहना है कि दर्शन की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही हैं, क्योकि यह दार्शनिको की दमित वृत्तियो की प्रतीकमय अभिव्यक्ति-मात्र है। परन्तु इस अर्थ मे शायद ही ह्यूम ने कहा होगा कि मनोविज्ञान से ही जीवन सचालित होता है। शायद उनके कथन का अर्थ कि मानव-ज्ञान बुद्धि या समझ से नही, पर मूलप्रवृत्ति, भाव तथा सवेग इत्यादि से नियत्रित होता है। यह बात समसामयिक प्रयोजनवाद में देखी जाती है और प्रयोजनवादी अपने मत के समर्थन मे प्राय ह्यूम की उक्तियों का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। फिर जब ह्यूम बताते हैं कि मनोविज्ञान ही ज्ञान का आधार है तो उनके कथन का अभिप्राय है कि हमे प्रकृति के इशारे पर चलना चाहिए। प्रिंगल पैटिसन ने लिखा है कि प्रकृतिवाद निम्न श्रेणी का भी हो सकता है और उच्च श्रेणी का भी। जब ह्यूम बताते हैं कि हमे प्रकृति के इशारे पर चलना चाहिए तो वे मानव-बुद्धि को प्राकृतिक नही मानते है। ऐसी दशा मे मे वे निम्न प्राकृतिकवाद को सही मानते हैं। निम्न प्रकृतिवाद वैज्ञानिकता पर आधारित है। अतः ह्यूम के विचारो मे वैज्ञानिक प्रकृतिवाद अस्फुट रूप से मौजूद है।

परन्तु समसामयिक विचार मे ह्यूम का महत्त्व तार्किक प्रत्यक्षवाद मे विशेष समझा जाता है, क्योकि तार्किक प्रत्यक्षवाद के समान ह्यूम असदिग्ध ज्ञान को गणित तक ही सीमित रखते हैं और वास्तविक पदार्थ के ज्ञान को सभाव्य ही मानते है। फिर तार्किक प्रत्यक्षवाद के समान, आप पदार्थ की सत्ता नही मानते हैं और अतीन्द्रिय (Supersensuous) ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। अतः ह्यूम को सन्देहवादी न मानकर, प्रत्यक्षवादी ही समझना उचित होगा।

अत, ह्यूम के भावात्मक और अभावात्मक दोनो पक्षो से दार्शनिक विचार मे अच्छा विकास आया है और यही कारण है कि आधुनिक दर्शन मे ब्रिटिश विचारको मे ह्यूम को विशेष स्थान दिया जाता है।

इमानुएल काण्ट (सन् १७२४—१८०४ ई०)

आधुनिक दर्शन के उच्चतम कोटि के विचारक इमानुएल काण्ट का जन्म २२, अप्रैल १७२४ ई० को जर्मनी के कोनितसबर्ग नगर मे हुआ था। आपका परिवार धार्मिक परम्परा से प्रभावित था और उसकी स्थायी छाप आपकी रचनाओ पर पडी है। आप शिक्षक की हैसियत से १७५५ ई० मे कोनितसबर्ग विश्वविद्यालय मे नियुक्त हुए

* वास्तव में 'काण्ट' न लिखकर 'कान्त' ही लिखना चाहिए। पर परम्परा बलीयसी होती है।

IMMANUEL KANT (1724 to 1804)

और १७७० ई० मे दर्शन के अध्यापक के पद पर सम्मानित किये गये। दर्शन के अतिरिक्त गणित, पदार्थ-विज्ञान, भूगोल इत्यादि का भी आप अध्यापन करते थे और इन विषयो की आपको अच्छी जानकारी थी। आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे। आपका देहान्त १२, फरवरी १८०४, ई० को हो गया।

आपके सरल तथा शुद्ध जीवन और आपके क्रांतिकारी विचार मे कभी मुठभेड नही हुई। आजीवन आपका समय अध्ययन, अध्यापन तथा दार्शनिक रचनाओ मे बीता। आपकी मुख्य रचनाएँ ये हैं

Critique of Pure Reason (1781), Prolegomena to Any Future Metaphysics (1783), Fundamental Principles of the Metaphysics of Morals (1785), Critique of Practical Reason (1788), Critique of Judgment (1790), Religion within the Limits of Reason Alone (1793), Metaphysics of Morals (1796-97).

§ १. काण्ट की समस्या

पूर्वकाण्टीय दर्शन मे बुद्धिवाद (Rationalism) और अनुभवाद की विरोधी धाराएँ थी। काण्ट की शिक्षा-दीक्षा के समय वोल्फ ने लाइबनित्स के बुद्धिवाद की टीका की थी और स्वय काण्ट की दार्शनिक शिक्षा इसी लाइबनित्स-वोल्फीय बुद्धिवाद के आधार पर हुई थी। पर जब काण्ट ने अपनी आलोचनात्मक दृष्टि फेरी तब उन्होने पाया कि लाइबनित्सी बुद्धिवाद पूर्वस्थापित छन्द पर स्तम्भित है। पर पूर्वस्थापित छन्द केवल एक दार्शनिक प्राक्कल्पना है, जिसे सिद्ध-असिद्ध नही ठहराया जा सकता है। परन्तु दार्शनिक सिद्धान्त को ऐसा होना चाहिए, जिसे किसी रीति से प्रमाणित किया जा सके। इसलिए काण्ट ने मनगढन्त पूर्वस्थापित छन्द पर अवलम्बित लाइबनित्सी बुद्धिवाद को त्याग दिया। फिर यदि हम बुद्धिवाद को अपना भी लें, तो इसका कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नही देखने मे आता है। देकार्त के दिये हुए बुद्धिवाद का विकास स्पिनोजा के दर्शन मे हुआ और लाइबनित्स इस निष्कर्ष पर आये कि परम द्रव्य या सत्ताएँ अनेक हैं। स्पिनोजा का एकत्ववाद (Monism) जीवन की अनेकता तथा विविधता का स्पष्टीकरण नही कर पाता है, और लाइबनित्सी अनेकवाद विश्व की एकता तथा व्यवस्था का स्पष्टीकरण नही कर पाता है। अत, यदि स्पिनोजा और लाइबनित्स के बुद्धिवादी विचारो को हम अलग-अलग लें तो वे आंशिक ठहरते हैं, और यदि उन्हें एक साथ लें तो वे परस्पर-विरोधी देखने मे आते हैं। इसलिए बुद्धिवाद या तो आंशिक होगा या आत्म-विरोधी। फिर बुद्धिवाद के अनुसार असदिग्ध तथा अनिवार्य ज्ञान सहजात प्रत्ययो (Innate ideas) पर आधारित रहता है। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि जब प्रत्यय आत्मजात होते हैं तब इनकी सत्यता

किस प्रकार वस्तुगत तथा वास्तविक हो सकती है ? अत., बुद्धिवादी आत्मजात प्रत्ययो के आधार पर बडी-बडी इमारतो का निर्माण करते हैं, पर ये काल्पनिक, हवाई तथा अवास्तविक हुआ करती हैं। (The rationalists are the architect of many a world of thought without any guaranteed correspondence with reality) यदि बुद्धिवाद के आधार पर ज्ञान की विवेचना नही हो सकती, तो क्या अनुभववाद से गणित तथा विज्ञान का स्पष्टीकरण हो सकता है ?

कुछ समय के लिए बुद्धिवाद से असतुष्ट होकर काण्ट ने वैज्ञानिक अनुभववाद की शरण ली थी। पर उन्होने ह्यूम की रचनाओ को पढा और देखा कि इस अनुभववाद का अन्तिम परिणाम सदेहवाद ही हो सकता है। तो क्या ज्ञान की कोई युक्तिसगत व्याख्या नही हो सकती है ? काण्ट इस निराशावाद की शरण नही ले सकते थे; क्योकि वे गणितज्ञ और वैज्ञानिक की हैसियत से जानते थे कि इन शास्त्रो मे सर्वव्यापी तथा निश्चित ज्ञान पाया जाता है। अत, काण्ट की समस्या थी कि वे ज्ञान के उन तत्त्वो को खोज निकालें, जिनके आधार पर गणित तथा विज्ञानो के निश्चित तथा असदिग्ध नियमो की व्याख्या हो सके।

§ २. ज्ञान की काण्टीय व्याख्या की रूपरेखा

यह तो हो नही सकता है कि बुद्धिवाद और अनुभववाद पूर्णतया असत्य हो। काण्ट के अनुसार इन दोनो सिद्धान्तो मे आशिक सत्यता है। जिन बातो को बुद्धिवाद और अनुभववाद स्वीकार (Affirm) करते हैं, वे सत्य हैं, और जिन बातो का वे खण्डन करते हैं, वे गलत हैं (They are justified in what they affirm, but wrong in what they deny)। अनुभववाद के अनुसार सवेदनाओ के बिना ज्ञान मे वास्तविकता नहीं आ सकती है और बुद्धिवाद के अनुसार सहजात प्रत्ययो के बिना ज्ञान मे अनिवार्यता तथा असदिग्धता नही आ सकती है। ज्ञान के सही समीक्षावाद (Criticism) मे हमे इन दोनो सिद्धान्तों के उपयुक्त पक्षों को स्वीकार कर लेना चाहिए। फिर अनुभववाद के अनुसार ज्ञान की अनिवार्यता तथा सर्वव्यापकता को अस्वीकार किया जाता है, और बुद्धिवाद के अनुसार सवेदनाओ को ज्ञान का रचनात्मक अंग नही माना जाता है। पर हमे दोनो सिद्धान्तो के इस अभावात्मक (Negative) पक्षो को अस्वीकार करना चाहिए। इसलिए सही ज्ञान-मीमासा मे हमे बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के दोनो भावात्मक अशो को मिलाकर समीक्षावाद को ग्रहण करना चाहिए।

काण्ट के अनुसार, यदि हम ज्ञान का सही विश्लेषण करें, तो इसमे दो अग हम पायेंगे, अर्थात् उपादान या सामग्री (Matter), जो सवेदनाओ के द्वारा प्राप्त की जाती है, और दूसरा अग-रूप या आकार (Form) का है, जो मन द्वारा प्राप्त किया

जाता है। इन दोनों भिन्न-भिन्न अगो के सम्मिश्रण के फलस्वरूप ज्ञान की रचना होती है। दूसरे शब्दो मे ज्ञान की सामग्री मिट्टी के लोदे के समान है और ज्ञान का रूप या आकार साँचे (Mould) के समान है। जबतक लोंदे को साँचे मे न ढाला जाय तबतक सुराही, खपडा, खिलौना इत्यादि नही बन सकते हैं। अत बुद्धिवादियो का कहना ठीक है कि बिना आत्मजात कार्य-कारण, द्रव्य इत्यादि धारणाओ के ज्ञान सभव नही होता है। उसी प्रकार अनुभववादियो का कहना ठीक है कि बिना सवेदनाओ की सामाग्रियो से ज्ञान नही रचा जा सकता है। दोनों सिद्धान्तो को अलग-अलग लिया जाय तो उनमे से किसी एक से भी ज्ञान की रचना सही नही समझायी जा सकती है। परन्तु यदि हम दोनो के कथनो को मिला दें तो क्या ज्ञान की व्याख्या हो सकती है? अनुभववादियो का कहना ठीक है कि सवेदनाओ से ही ज्ञान का प्रारभ होता है। फिर भी, वे ठीक ही कहते हैं कि सवेदनाएँ एक-दूसरे मे पृथक् है। परन्तु ज्ञान, बिना सवेदनाओ को स्थायी रीति से सम्बद्ध किये सम्भव नहीं होता है। यहाँ बुद्धिवादियो की देन को काम मे लाना चाहिए। यहाँ कहना चाहिए कि क्षणभगुर तथा पृथक् सवेदनाओ को आत्मजात प्रत्यय या धारणाओ (Categories) ही के द्वारा सूत्रबद्ध किया जा सकता है। इसलिए ज्ञान-निर्माण मे साँचा मन से मिलता है और इसकी सामग्री सवेदनाओ से मिलती है। बिना सवेदनाओ की सामग्री के मन के द्वारा दी गयी मूलधारणाएँ रिक्त साँचो के समान हैं, और बिना मूल-धारणाओ के संवेदन-सामग्रियाँ मिट्टी के लोंदे के समान हैं। इन दोनो के योगफल से ही ज्ञान की व्याख्या हो सकती है।

उपर्युक्त कथनानुसार हम कह सकते है कि though all our knowledge *begins with* experience, it does not follow that it *originates from* experience. जैसे ही हमे सवेदना होने लगती है, वैसे ही अन्य मानसिक शक्तियाँ भी सक्रिय होने लगती हैं, और जो ज्ञान हमे मिलता है, वह मानसिक शक्तियो के द्वारा व्यवस्थित तथा साँचे मे ढाली हुई सवेदना होता है। इन मानसिक शक्तियो की देन को प्रागनुभव (A priori) समझना चाहिए, जो सवेदना के साथ अवश्य उभड पडता है। पर इन्हें सवेदनाओ के आधार पर स्पष्ट नही किया जा सकता है। यदि प्रागनुभव अग सवेदनाओ मे न हो तो स्वय सवेदना ही सभव न हो। बिना प्रागनुभव अगो के सवेदना निर्विकल्पक, अनिश्चित तथा अन्ध अनुभूति होगी, जिसके विषय मे हमारे लिए कुछ कहना कठिन हो जायगा। स्वय ह्यूम ने स्पष्ट कर दिया है कि कार्य-कारण, द्रव्य इत्यादि की मूलधारणाएँ सवेदनाओ मे नही देखी जाती हैं, और हम जानते हैं कि बिना इन्हें स्वीकार किये हुए वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव नही है। इस व्यवस्था मे काण्ट के अनुसार ह्यूम को सतर्क हो जाना चाहिए था और उनको समझ लेना चाहिए था कि इनका स्रोत-स्थल अनुभव से परे प्रागनुभव है। काण्ट का

कहना है कि ह्यूम ने गणित-शास्त्र के अनिवार्य तथा असदिग्ध ज्ञान का विश्लेपण नही किया है*। यदि वे गणित-ज्ञान का विश्लेपण करते तो उन्हे प्रागनुभव अग का पता चल जाता। प्रागनुभव-अग मन की अपनी देन है और अति सामान्य रूप मे इसका काम है कि पृथक्-पृथक् अनुभूतिजन्य सवेदनाओ को सम्बद्ध तथा व्यवस्थित करके अनिवार्य तथा असदिग्ध ज्ञान उत्पन्न करे। अगर हम मान लें कि सामान्य रीति से बुद्धि का काम है कि यह मूलधारणा-रूपी साँचो के द्वारा सवेदनाओ को सर्वव्यापी ज्ञान मे ढाल दें, तो ज्ञान-मीमासा का सबसे मुख्य उद्देश्य होना चाहिए कि वह बुद्धि के सश्लेषणात्मक (Synthetic) रूपो (Forms) का अध्ययन करे। ज्ञान-मीमासा के इस नवीन दृष्टिकोण को काण्ट ने कोपर्निकसीय आन्दोलन (Copernican revolution) के नाम से पुकारा है, जिसपर हमे कुछ और प्रकाश डालना चाहिए।

काण्ट के अनुसार बुद्धिवाद तथा अनुभववाद, दोनो ने स्वीकार किया है कि मन से बाहर वास्तविक पदार्थ हैं, जिन्हें मन जानना चाहता है। परन्तु यदि हम मान लें कि वास्तव मे वस्तुएँ मन के बाहर हैं तो हम किस प्रकार से उन्हें जान सकते हैं? देकार्त का प्रतिलिपि-सिद्धान्त, लॉक का अनुरूपतावाद (Correspondence theory) और लाइबनित्स का पूर्वस्थापित छन्द इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि मन से परे बाह्य वस्तुओ की सत्ता मान लेने से ज्ञान की व्याख्या नही हो सकती है। फिर यदि वस्तुएँ मन से बाहर हो तो हमारा ज्ञान उतनी ही दूर तक सत्य होगा जितनी दूर हमारी अनुभूति होगी। इस दशा मे हम किसी भी सार्वभौम नियमो को स्थापित नही कर पायेंगे। उदाहरणार्थ, हम नियम बनाते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील हैं, पर क्या कोई भूत, भविष्य और वर्त्तमान के सभी मनुष्यो को मरते देख सकता है? और क्या भावी मनुष्यो के मरने का भी हमे ज्ञान हो सकता है? ऐसी दशा मे यदि वस्तुएँ मन के बाहर हो, तो हम उन्हे केवल अपनी अनुभूति ही से जान सकते हैं, अनुभूति से हमे कभी भी अनिवार्य, असदिग्ध तथा सार्वभौमिक ज्ञान नही मिल सकता है। पर गणित और पदार्थ-विज्ञान मे अनिवार्य, असदिग्ध तथा सर्वव्यापी ज्ञान मिलता है। इसलिए हमे अपने विचार को उसी प्रकार से नयी दिशा मे मोड लेना चाहिए, जिस प्रकार से टोलमी के सिद्धान्त के द्वारा नक्षत्र-विज्ञानो मे प्रगति न देखकर कोपर्निकस ने अपनी विचारधारा को नयी दिशा मे मोड लिया था। कोपर्निकस ने देखा कि जब पृथ्वी-केन्द्रित (Geocentric) सिद्धान्त पर नक्षत्रो की पूरी व्याख्या नही हो सकती है तब उन्होने अपनी विचारधारा को सूर्य केन्द्रित मानकर क्रान्ति ला दी और इससे नक्षत्र-विज्ञान मे काफी लाभ पहुँचा। क्यो नही हम भी अपने दृष्टिकोण को एकदम बदल दें।

अबतक हम सोचते आये हैं कि बाह्य वस्तुओ को हमेजा नना है। क्यो

* N K Smith 'Critique of Pure Reason,' abridged edition, P 53

नही हम सोचें कि वे वस्तुएँ हमारे लिए ज्ञेय वस्तुएँ हैं, जो हमारे विचारो के साँचो मे ढलकर हमारे सामने आयें ? जब वस्तुएँ अपने निजी रग को छोड़कर मन की दी हुई शर्त्तों से रँगी हुई आती हैं तभी हम उन्हें जान सकते हैं। अत, मन वस्तुओं के ज्ञेय होने की शर्त्त पहले से प्रतिपादित करता है और जो वस्तुएँ इन शर्त्तों से ढल जाती हैं, वे हमारे लिए ज्ञेय होती हैं, अन्यथा नही। यह बात गणित मे हम पाते हैं। पहले हम त्रिभुज का प्रत्यय बनाते हैं और तब त्रिभुज के विषय मे सभी बातें हमारे ही दिये हुए त्रिभुज के स्वरूप से सिद्ध हो जाती हैं। चूंकि हमारे मन के मूल प्रत्यय सबमे एक समान हैं, इसलिए जो भी नियम इन मूल प्रत्ययो के अनुसार होंगे वे सभी व्यक्तियो के लिए समान होंगे। अत, हम त्रिभुज के विषय मे कह सकते हैं कि सभी त्रिभुजो के तीनो कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होगे। "The mind's own rule holds good in all cases, because the mind has itself determined the nature of the cases" उसी तरह से पदार्थ-विज्ञान मे सर्वव्यापी नियम पाये जाते हैं, क्योकि ये नियम प्रयोगो पर आधारित होते हैं और प्रयोग मे हमे पहले पूर्वकल्पना बना लेनी होती है। इसलिए, यहाँ भी हमारी बुद्धि पहले शर्त्तों को रख देती है और तब वे वस्तुएँ ज्ञेय होती हैं, जो इन शर्त्तों से बदलकर हमारी चेतना मे आती हैं। "Reason must approach nature not as a pupil but as a judge, who compels the witnesses to answer the questions which he himself proposes"

अगर हम मान लें कि हमारी बुद्धि की यही शर्त्त है कि वे ही वस्तुएँ हमारे ज्ञान का विषय हो सकती हैं, जो हमारे मन के साँचे मे ढलकर आयें, तो ज्ञान की अनिवार्यता, असंदिग्धता तथा सर्वव्यापकता सम्भव हो सकती हैं। चूंकि मन की शर्त्तें वस्तुओ को ढालने के काम मे लायी जाती हैं, इसलिए मन उन्हें अनिवार्य रीति से ग्रहण करेगा। फिर चूँकि बुद्धि के साँचे सभी व्यक्तियो मे एक समान हैं, इसलिए वास्तविक ज्ञान सर्वव्यापी होगा।

कोपर्निकसीय क्रांति के मानने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान-निर्माण मे मन की देन, जिसे हम प्रागनुभव (A priori) कह सकते हैं, अति महत्त्वपूर्ण है। इसका यह अर्थ नही है कि मन के साँचो से ही ज्ञान सम्भव हो सकता है। बिना सवेदनाओ की सामग्रियो के मन के प्रागनुभव-साँचे निकम्मे हैं। परन्तु बात यह है कि हम अनुभवजन्य सवेदित सामग्रियो को उनके निजी स्वरूप मे नही जान सकते हैं। जिसे हम अनुभवजनित सवेदना कहते हैं, वह भी बुद्धि की प्रागनुभविक धारणाओं या साँचो से रूपान्तरित अवस्था मे पायी जाती है। यह ठीक है कि सभी वैज्ञानिक ज्ञान मे आनुभविक (Empirical) अग का रहना आवश्यक है, पर काण्ट के मत के अनुसार बिना बुद्धि की धारणाओ से रूपान्तरित हुए हम उन्हें नही जान सकते हैं। इसलिए हमे ज्ञान की प्रागनुभविक धारणाओं या रूपो (Forms) को जानना परम आवश्यक है।

चूंकि काण्ट ने इन्ही रूपो को खोज निकालने की कोशिश की है, इसलिए उन्होंने अपनी ज्ञान-मीमासा को Transcendental (अनुभव-निरपेक्ष या अनुभवातीत) कहा है। "I call all knowledge *transcendental* which is not directly concerned with objects, but with the way in which we cognise them, so far as it is possible to do so *a priori*"* अत काण्ट की समीक्षा का विषय किसी वस्तुविशेष का नही है। इनका विषय मन के जानने की वह विधि है, जो किसी भी वस्तु के जानने मे अनिवार्यत सर्वव्यापक रूप से किसी भी ज्ञाता के द्वारा काम मे लायी जाती है।

(अत्यानुभविक) Transcendental दर्शन का काम है कि वह बुद्धि के प्रागनुभव-अगो की जानकारी करे। इन अगो का मुख्य काम है कि ये दिये गये उपादान या सामग्री (Matter) को व्यवस्थित तथा सम्बद्ध करें। सवेदना-सामग्रियो का प्रागनुभव-रूपो के द्वारा कई क्रमो मे सश्लेषण (Synthesis) होता है। सबसे पहले सवेदनाएँ देश और काल (Space and time) के रूपो से व्यवस्थित होकर प्रत्यक्ष वस्तु (Percepts) बनती हैं, अर्थात् सभी वस्तुओ मे देश और काल का धर्म रहना अनिवार्य है। परन्तु देशीकरण (Spatialisation) और कालरूपीकरण (Temporalisation) से केवल अलग-अलग वस्तुओ का ही ज्ञान होता है, जैसे, टेबुल, गाय इत्यादि। इसलिए इन भिन्न-भिन्न वस्तुओ को मिलाकर निर्णय (Judgment) का निर्माण करना चाहिए। निर्णय की सयोजना मे समझ या बुद्धि (Understanding) प्रत्यक्ष वस्तु (percepts) को अपनी १२ मूल धारणाओ (Categories or concepts) के आधार पर सम्बद्ध करती है। इसी understanding के १२ concepts या categories के आधार पर percepts को निर्णय के रूप मे करके वैज्ञानिक ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि concepts हो और percepts (प्रत्यक्षवस्तु) न हो, तो इससे ज्ञान का केवल खोखला ढाँचा ही मिल सकता है। उसी तरह से यदि percepts हो और concepts न हो, तो किसी व्यवस्था के न होने के कारण ज्ञान-सामग्रियाँ मिट्टी के लोदे के समान थौआ-सी रह जायेंगी। अत वैज्ञानिक ज्ञान सवेदना और बुद्धि (Sense and understanding) के योग का परिणाम कहा जा सकता है।

Understanding के categories के आधार पर सवेद्य प्रत्यक्षो को निर्णय के रूप मे परिणत करके हमे ज्ञान मिल जाता है, पर क्या अतिसवेद्य अथवा सवेदनातीत (supra-sensible) ईश्वर, अमर आत्मा इत्यादि का ज्ञान सम्भव है? यहाँ काण्ट का कहना है कि जहाँ तक तक वैज्ञानिक ज्ञान का सम्बन्ध है, वहाँ तक ज्ञान इन्द्रिय-जन्य होता है, और जो कुछ इन्द्रिय-जन्य हो, वह वैज्ञानिक ज्ञान मे परिणत हो सकता है।

*"Transcendental" (अत्यानुभविक) शब्द से काण्ट बताना चाहते हैं कि ज्ञान का वह अग, जो प्रागनुभव होने के कारण अनुभवातीत है और फिर जिसका सम्बन्ध वस्तु से न होकर वस्तुओं के जानने की अति सामान्य विधि से हो।

पर इन्द्रियातीत वस्तुओ का ज्ञान सम्भव नही है। यदि बिना Percepts (प्रत्यक्ष वस्तु) के हम Concepts के ही आधार पर ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो यह उसी तरह सम्भव नही हो सकता है जिस तरह से बिना किसी प्रकार के अनाज को डाले हुए आटे की चक्की के घुमाने से आटा नहीं मिल सकता है। परन्तु दार्शनिक समझते हैं कि इन्द्रियातीत वस्तुओ का ज्ञान सम्भव है और ऐसा मान लेने से Transcendental भ्रम उत्पन्न हो जाता है। चूंकि विज्ञानो का प्रतीक पदार्थ-विज्ञान है, इसलिए काण्ट का कहना है कि पदार्थ-विज्ञान (Physics) इन्द्रिय-जन्य सवेदनाओ पर आधारित रहने के कारण सम्भव है, पर तत्त्वमीमासा (Metaphysics) इन्द्रियातीत वस्तुओ से सम्बन्ध रखने के हेतु काल्पनिक शास्त्र है (Physics is, but metaphysics is not possible)।

काण्ट ने Transcendental रूपो के अध्ययन के कारण अपनी ज्ञान-मीमासा को समीक्षावाद (Criticism) कहा है। उनके अनुसार उनके पहले के दर्शन को हठवाद या रूढिवाद (Dogmatism) कहा जा सकता है "Dogmatism is the positive or dogmatic procedure of reason without previous criticism of its own faculty" काण्ट के अनुसार सवेदनाओ को ज्ञान के रूप मे ढालने की शक्ति (Faculty) साधारणतया बुद्धि (Reason) [1] कहलाती है और ज्ञान-मीमासा का काम है कि वह उन रूपो (Forms) को स्थापित करे, जिनसे सवेदनाओ के बीच व्यवस्था उत्पन्न करके ज्ञान की अनिवार्यता तथा असदिग्धता प्राप्त होती है। चूँकि काण्ट के पहले मीमासको को इसका कोई आलोचनात्मक ज्ञान नही था कि सवेदन के अतिरिक्त प्रागनुभव तत्त्व हैं, जिनके द्वारा ज्ञान मे व्यवस्था लायी जाती है, इसलिए इन्हें अन्धविश्वासी तथा रूढिवादी कहा जा सकता है। चूँकि काण्ट ने ज्ञान-रचना के असली रूपो या तत्त्वो की खोज की है, इसलिए वे अनुभववाद तथा बुद्धिवाद, दोनो की आशिक देन को मिलाकर भावी ज्ञान-मीमासा के विकास की नयी नीव भी डाल सके हैं। इसलिए वे वास्तव मे अनुभववाद और बुद्धिवाद, दोनो सिद्धान्तो से बहुत आगे चले गये हैं। "A *critical philosophy*, in the sense of Kant, goes beyond this only in so far as it is an attempt to reach principles, which are prior not only to a particular controversy, but to all controversy"[2]

---

1 'Reason' शब्द को कई अर्थों में काम में लाया गया है, पर हिन्दी का शब्द 'बुद्धि' और भी अधिक अर्थों में काम में लाया जाता है। इसलिए काण्ट के विचार को स्पष्ट करने के लिए हम Understanding और Reason शब्द को बिना अनुवाद किये हुए काम में लायेंगे।

2 Caird, E : 'A critical philosophy of Kant', Vol, I, pp 7-8

काण्ट का समीक्षावाद वैज्ञानिक ज्ञान की सम्भावना स्वीकार कर लेता है, पर इसे सीमित दो अर्थो मे मानता है। पहली बात है कि वैज्ञानिक ज्ञान सवेद्य (Sensible) वस्तुओ ही का हो सकता है और इन्द्रियातीत वस्तुओ का नही हो सकता है। फिर जो भी वैज्ञानिक ज्ञान सभव होता है वह वस्तुओ का प्रतिभास (Appearance or phenomenon) † ही कहा जा सकता है, क्योकि बिना मन के रूपो से रूपान्तरित किये हुए हम वस्तुओ को नही जान सकते हैं। परन्तु वस्तुओ का अपना निजी स्वरूप भी अवश्य है, जिसे हम नही जान सकते हैं। अत, वस्तुओ का वह रूप, जो मानव-ज्ञान की शर्तों से रँगकर हमारी चेतना मे आता है, उसे हम जानते है, और उसका निजी रूप, न हमारी चेतना मे आता और न हमारे ज्ञान मे ही अँट सकता है। जो मानव-ज्ञान की शर्तों से परे और स्वतन्त्र वस्तुओ का अपना रूप है, उसे ही उनका तात्त्विक रूप कहना चाहिए और काण्ट के अनुसार इसे मानव-बुद्धि ग्रहण नही कर सकती है। अत', वस्तुओं का प्रातिभासिक ज्ञान सभव है, पर उनका पारमार्थिक ज्ञान सभव नही है। मानव-ज्ञान से परे वस्तुओ को काण्ट ने things-in-themselves (वस्तुओ की अपनी निजी अवस्था) कहा है और चूँकि इसे उनका असली या तात्त्विक रूप कहा जा सकता है, इसलिए things-in-themselves को काण्ट ने परम पदार्थ (Noumena) भी कहा है। इसलिए काण्ट के अनुसार परम पदार्थ का ज्ञान सभव नही है। इसलिए काण्ट के दर्शन को अज्ञेयवाद (Agnosticism) * भी कहा जाता है। आगे चलकर काण्ट ने अपने अज्ञेयवाद की शर्तों को विनम्र कर दिया है, क्योकि उन्होने बताया है यद्यपि परम पदार्थ, ईश्वर तथा अमर आत्मा को हम वैज्ञानिक रीति से जान नही सकते हैं, तथापि ये सत्ताएँ आस्था का उचित विषय मानी जा सकती हैं। अब काण्ट के समीक्षावाद को स्पष्ट करने के लिए हम अनुभववाद और बुद्धिवाद से इसकी तुलना निम्नलिखित ढग से करेगे। ‡

---

† वेदान्त में प्रतिभास और प्रातिभासिक जगत् का अर्थ है स्वप्नवत् जगत्, पर यहाँ प्रतिभास का अर्थ है वस्तुओं के उस रूप से, जो किसी को प्रत्यक्ष हो या दिखाई दे।

* Agnosticism दो शब्दों के योग से बना है, A-Gnosticism Gnosticism भी gnostikos, यूनानी शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है वह जो भली-भाँति जाना जायँ।

‡ प्रारम्भिक अध्ययन के समय इसे छोड़कर सश्लेषात्मक निर्णयों की समस्या (§ ३) पढ़ें।

अनुभववाद	बुद्धिवाद	समीक्षावाद
१ जन्म के समय मन साफ पट्टी के समान है और जो कुछ ज्ञान होता है उसके सभी अग अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। इसमे मन को निष्क्रिय माना जाता है।	१. मन सक्रिय समझा जाता है। आनुभविक अग ज्ञान मे नही पाये जाते हैं, पर अनुभव से मन मे सहजात प्रत्यय उमड पडते है और इन्ही सहजात प्रत्ययो (Innate ideas) से ज्ञान का निर्माण होता है।	१ जैसे ही अनुभव से सवेदना होती है वैसे ही मन की अन्य शक्तियाँ भी उमड पडती हैं। इन शक्तियो से आत्मजात या प्रागनुभविक रूप उत्पन्न होते हैं, जो आनुभविक सवेदना-राशि को व्यवस्थित कर ज्ञान की रचना करते हैं।
२. इसके अनुसार सवेदनाओ को विशेष स्थान दिया जाता है और understanding के concept को गौण स्थान दिया जाता है।	२. यहाँ Understanding के प्रागनुभविक concepts को विशेष स्थान दिया जाता है। सवेदनाओ की अवहेलना की जाती है। ज्ञान-निर्माण मे सवेदित अगो को स्थान नही दिया जाता है।	१. इसमे sense और understanding दोनो को स्थान दिया जाता है। बिना सवेदनाओ के ज्ञान का विषय या मसाला या उपादान (Matter) नही मिल सकता है, और बिना understanding के concept की सवेदनाओ को व्यवस्थित कर ज्ञान नही हो सकता है। सवेदना बिना concepts के अधी है और बिना सवेदना के concepts खाली साँचे हैं।
३. Sense और understanding मे केवल आशिक अन्तर है, क्योकि concepts भी आनुभविक अगो से ही प्राप्त किये जाते हैं। केवल यहाँ sense या सवेदनाओ को	३ यहाँ भी sense और understanding के बीच आशिक अतर समझा जाता है और विशेषतया लाइबनित्सी बुद्धिवाद मे सवेदनाओ को अविकसित, अस्फुट concepts ही	३ यहाँ sense और understanding मे जातिभेद या प्राकारिक अन्तर माना जाता है। सवेदन-शक्ति को निष्क्रिय माना गया है और 'समझ' को सक्रिय कहा गया है। सवेदनाओ को

अनुभववाद	बुद्धिवाद	समीक्षावाद
मूल समझा जाता है।	समझा जाता है।	हम निष्क्रिय रहकर ग्रहण करते हैं, पर सक्रिय होकर ही हम उन्हें समझ सकते हैं। Understanding को काण्ट ने आत्म-स्फूर्त (Spontaneous) शक्ति माना है।
४ इसके अनुसार आनुभविक अग पृथक्-पृथक् संवेदनाओ के रूप मे पाये जाते हैं। यदि इनके बीच कोई सबध स्थापित किया जाय तो सहचार के नियमो पर आधारित यह सम्बन्ध बाहरी ही हो सकता है।	४ इसके अनुसार मन की सक्रियता केवल आत्मजात प्रत्ययो की जानकारी मे ही सीमित है। पर यहाँ इस बात की अवहेलना की जाती है कि प्रागनुभविक concepts से सवेदनाओ को कैसे सक्रिय होकर सम्बद्ध किया जाता है।	४. इसके अनुसार understanding के concepts वस्तुगत नही है, पर concepts के साँचो मे ढालकर वस्तुओ को बुद्धिगम्य बनाया जाता है। अतः प्रागनुभविक concepts विषयीगत हैं। पर चूँकि ये concepts सभी ज्ञाताओ मे एक समान होते हैं, इसलिए इन्हें ज्ञान का सार्वभौम विषय कहा जा सकता है।
५ Understanding के सयोजक (Unifying concepts) अनुभूतिजन्य हैं नही, और इसलिए जब अनुभूति से उन्हें प्रमाणित किया जा सकता है, तो अनुभववाद उन्हें भ्रम कहकर ठुकरा देता है।	५ यहा समझा जाता है कि ज्ञान-विषय (Concepts) या उपादान (Matter) भी understanding के concepts से मिल सकता है। पर बिना दूध के मक्खन की मशीन के घुमाते रहने पर मक्खन नही निकल सकता है।	५ अनुभववाद और बुद्धिवाद के अभाव को दूर करते हुए समीक्षावाद का कहना है कि ज्ञान की सामग्री अनुभव से मिलती है, परन्तु इन्हें व्यवस्थित करने के लिए प्रागनुभविक concepts की आवश्यकता होती है।
६ पूरी गवेषणा न करने के कारण इसमे यही	६. बुद्धिवादी भी इसी हठ पर डटे रहते है कि	६ ज्ञान के सभी अगो को समान स्थान देकर

अनुभववाद	बुद्धिवाद	समक्षावाद
हठ बना रहता है कि ज्ञान के सभी अग आनुभविक हैं। जब यह बात सिद्ध नही हो पाती है तब सदेहवाद इसका अन्तिम परिणाम हो जाता है।	केवल प्रागनुभविक अगो ने ही ज्ञान की व्यवस्था और सामग्री दोनो मिल सकती हैं। इस हठवाद के कारण उनके अन्दर परस्पर विरोधी स्पिनोजीय और लाइबनित्सी सिद्धान्त देखने में आते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिवाद आशिक ही रूप से सत्य है।	समीक्षावाद इस निष्कर्ष पर आता है कि केवल सवेद्य वस्तुओ का ज्ञान हो सकता है। परन्तु ईश्वर, अमर आत्मा, तथा अनन्त विश्व का हमे ज्ञान नहीं हो सकता है। हमारा ज्ञान प्रातिभासिक वस्तुओ का है, पर यह ज्ञान अनिवार्य, असदिग्ध तथा सार्वभौम है। चूँकि यहाँ सवेदना और प्रागनुभविक अगो को सही-सही जान लिया गया है, इसलिए यहाँ ज्ञान-मीमासा रूढिवादी न होकर समीक्षात्मक दिखाई पडती है।

§ ३ पूर्वानुभविक सश्लेपात्मक निर्णय की समस्या

ह्यूम के अनुसार केवल दो ही प्रकार के अभिकथन हैं, अर्थात् (१) गणित-सम्बन्धी अनिवार्य तथा सर्वव्यापी कथन और (२) यथार्थ वस्तु के सम्बन्ध के सभाव्य (Probable) अभिकथन। अभिकथनों के इस वर्गीकरण के आधार पर पदार्थ-विज्ञान के नियम भी असदिग्ध न होकर केवल सभावित ही हो सकते हैं। परन्तु पदार्थ-विज्ञान के सम्बन्ध मे ह्यूम का यह विचार काण्ट को मान्य न था। काण्ट के अनुसार तीसरे प्रकार के अभिकथन भी सभव हैं, जिनमे यथार्थ वस्तुओ का ज्ञान अनिवार्य तथा सार्वभौम रहता है। उनके अनुसार इस प्रकार के वाक्य गणितशास्त्र मे, पदार्थ विज्ञान मे और तत्त्व-मीमासा (Metaphysics) मे पाये जाते है। यह सभव है कि हम तत्त्व-मीमासा की बातो को ठुकरा दें, परन्तु गणित और पदार्थ-विज्ञान को ठुकराया नही जा सकता है और काण्ट के अनुसार विज्ञानो मे पूर्वानुभविक सश्लेपात्मक अभिकथन पाये जाते हैं। इस प्रकार के ज्ञान को स्पष्ट रूप मे रखने के लिए काण्ट ने इसे synthetic judgment a priori (पूर्वानुभविक सश्लेपात्मक निर्णय) से रचित कहा है। चूँकि समसामयिक अनुभववाद मे पूर्वानुभविक सश्लेपात्मक निर्णय की सभावना के सम्बन्ध मे अनेक लेख लिखे गये है, इसलिए इसका यहाँ स्पष्टीकरण अभीष्ट मालूम देता है।

§ ३ (क) आधुनिक दर्शन मे विश्लेषात्मक और सश्लेषात्मक अभिकथनो की समस्या

वास्तव मे देखा जाय तो आधुनिक दर्शन मे विश्लेषात्मक और सश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियो का भेद बहुत पुराना मालूम देता है। केवल यह वह भेद है, जिसे आधुनिक दार्शनिक पूर्णतया स्पष्ट नही कर पाये थे, या जिस भेद के अनुसार उन्होंने तर्कपूर्ण तथा सगत निष्कर्ष नही स्थापित किया था। उदाहरणार्थ देकार्त समझते थे कि बाह्य जगत् तथा आत्मा अथवा ईश्वर के सम्बन्ध मे गणित के समान असदिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उनको इस बात का ज्ञान नही था कि गणित केवल भाषा का खेल है। गणित मे हम पदो को उनकी परिभाषा के अनुसार अपने बनाये हुए तार्किक नियमो की मदद से अनेक रूपो मे रखते है। जहाँ केवल शब्दो ही का खेल हो वहाँ उसके अनुरूप वास्तविकता का प्रश्न ही कहाँ उठता है? इसलिए गणितीय विश्लेषात्मक अभिकथनो का सम्बन्ध वास्तविकता से कतई नही रहता है। इसलिए देकार्त को समझना चाहिए था कि गणितीय अनिवार्यता शब्दो की परिभाषाओ तथा कुछ तार्किक नियमो के योग से उत्पन्न होती है। जैसे, 'बरसाती दिन' की परिभाषा है कि वह दिन, जिसमे वर्षा हो और वर्षा मे उत्पन्न आर्द्रता हो। इसलिए यदि हम 'बरसाती दिन' की परिभाषा अपने ध्यान मे रखें तो हम सगत रीति से कह सकते है कि 'बरसाती दिन आर्द्र होते है'। लेकिन इसमे तथ्यात्मकता की कहाँ गुजाइश होती है? यहाँ यह प्रश्न ही नही उठता है कि वास्तव मे 'बरसाती दिन' कही होते हैं या नही। यहाँ हमारा इतना ही भर उद्देश्य रहता है कि हम स्पष्ट कर दें कि 'बरसाती दिन' को हम सगत रीति से काम मे ला रहे हैं या नही। उसी प्रकार से ज्यामिति मे हम सरल रेखा, बिन्दु, त्रिभुज तथा स्वयसिद्ध इत्यादि की परिभाषा स्पष्ट कर देते हैं और प्रमेयो मे इन्ही परिभाषित पदो को तार्किक नियमो के अनुसार सगत रीति से स्पष्ट करते हैं। ज्यामितिज्ञो को इसकी चिन्ता नही होती कि उनकी परिभाषा के अनुरूप बिना चौडाई की कोई रेखा पायी जाती है या नही, या बिना स्थान ग्रहण किये हुए बिन्दु वास्तव मे देखा जाता है या नही। उन्हें केवल यही धुन सवार रहती है कि यदि रेखा वह हो, जिसमे चौडाई न हो और त्रिभुज वह हो, जो तीन सरल रेखाओ से घिरा हो, तो अन्य स्वयसिद्धो को ध्यान मे रखकर तथा निगमन-सम्बन्धी नियमो के अनुसार सगत रीति से हम यह कह सकते है कि नही कि किसी भी त्रिभुज के सभी तीनो कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होगे। अब यदि हम 'बरसाती दिन' की परिभाषा अपने ध्यान मे रखें तो हम कह सकते हैं कि बरसाती दिन अवश्य आर्द्र होंगे। उसी प्रकार यदि हम 'रेखा' तथा 'त्रिभुज' की परिभाषा पर ध्यान देते रहें, तो सगत रीति से हम कह सकते हैं कि किसी भी त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर अवश्य दो समकोण के बराबर होगे। इसलिए गणितीय

अथवा विश्लेषात्मक अभिकथनो की अनिवार्यता परिभाषित शब्दो के सगत व्यवहार से प्राप्त होती है और इनमे वास्तविकता का प्रश्न उठता ही नही है।

देकार्त का यह विचार कि ईश्वर, आत्मा, बाह्य जगत् इत्यादि की वास्तविकता गणितीय ज्ञान के समान जानी जा सकती है, असगत है, अर्थात् देकार्त का आत्मा, ईश्वर तथा बाह्य जगत् के सम्बन्ध मे अनिवार्य ज्ञान की स्थापना करने का प्रयास ही युक्तिसगत नही है। यही कारण है कि देकार्त का 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' को साक्षात् प्रत्यक्ष नही माना जा सकता है। किसी की भी स्थायी, अमर तथा शाश्वत आत्मा निश्चित रूप से आत्मनिरीक्षण के आधार पर नही जानी जा सकती है। यह बात ईश्वर की वास्तविकता के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। ईश्वर की वास्तविकता को किसी परिभाषित शब्द जैसे, 'पूर्ण सत्ता' के आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता है। 'शब्द' के आधार पर शाब्दिक ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि देकार्त का ईश्वर-सम्बन्धी प्रमाण युक्तिपूर्ण नही हो पाया है। फिर यथार्थ जगत् की वास्तविकता भी देकार्त ने मनगढन्त रीति से सिद्ध करने की कोशिश की है। यहाँ किसी तार्किक मापदड की मदद न लेकर अपने धार्मिक ईश्वर की सत्यवादिता की मदद ली है। परन्तु धार्मिक ईश्वर वैज्ञानिक ज्ञान का नही, श्रद्धा, भक्ति तथा उपासना का विषय है। तार्किक ही कसौटी, न कि उपास्य ईश्वर, किसी भी वैज्ञानिक ज्ञान का मापदड हो सकती है।

अब यदि स्पिनोजा देकार्त के उपर्युक्त दोषो पर ध्यान देते और ज्यामितिक तर्कों के स्वरूप को समझते, तो वे भी इसी निष्कर्ष पर आते कि उनका परम द्रव्य एक परिभाषा का विषय है या एक ऐसा पद है, जिसकी परिभाषा हम अपनी सुविधा के अनुसार कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि 'द्रव्य' शब्द को लें और इसकी परिभाषा करें कि यह वह आत्माश्रित तथा स्वचिन्त्य सत्ता है जिसे किसी भी अन्य सत्ताओ की अपेक्षा नही होती है। पर इससे यह कहाँ झलकता है कि इसके अनुरूप कोई वास्तविक पदार्थ है या नही ? यह भी ठीक है कि द्रव्य की इस परिभाषा पर यदि हम ध्यान दें तो इससे यही निष्कर्ष निकलेगा कि अन्त मे केवल एक ही द्रव्य हो सकता है, क्योकि यदि एक से अधिक द्रव्य हो तो वे एक दूसरे को सीमित करेंगे तथा एक के प्रत्यय के रचने मे अन्य द्रव्यो की भी भावना करनी पडेगी। परन्तु इस निष्कर्ष के स्थापित हो जाने पर भी यह सिद्ध नही होता कि परम द्रव्य किसी भी प्रकार की वास्तविकता है। यही कारण है कि स्पिनोजा ने साफ कह दिया है कि उनका परम द्रव्य प्रत्यक्ष, कल्पना तथा वैज्ञानिक ज्ञान का विषय नही है। उसे केवल अन्तःप्रज्ञा से ही जाना जा सकता है और यह अन्त प्रज्ञा भी साधना से प्राप्त होती है। परन्तु क्या हम 'वास्तविकता' शब्द को अन्त प्रज्ञात्मक अनुभूति के लिए प्रयुक्त करते हैं ? स्पिनोजा को साफ कहना चाहिए था कि वे 'वास्तविकता' पद को

विलक्षण अर्थ मे व्यवहार कर रहे है। उनके अर्थ मे स्वानुभूति-विषयक ही परम सत्ता है, जो चलती भाषा मे वास्तविक नही गिनी जाती है। प्रचलित भाषा मे जो वस्तु देश-काल मे इन्द्रियो से जानी जाय, वही वास्तविक है।

अब इसका क्या कारण है कि देकार्त और स्पिनोजा दोनो ने तत्त्वमीमासात्मक सत्ता को ज्यामितिक प्रकथन के रूप मे डालने की कोशिश की है? यह भी स्पष्ट है। स्वय देकार्त ने कहा है कि ऐन्द्रिय ज्ञान सदेहात्मक होता है। फिर स्पिनोजा ने भी कहा है कि प्रत्यक्ष और कल्पना के आधार पर सशयहीन तथा शाश्वत ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता है। अब हम किसी भी यथार्थ वस्तु या धारणा के विषय मे वास्तविक ज्ञान केवल अनुभूति के आधार पर प्राप्त कर सकते है और अनुभूति के द्वारा हमारा कोई भी ज्ञान तार्किक रीति से अनिवार्य नही कहा जा सकता है। अपनी आँखो से देखकर हम कह सकते हैं कि यह कागज उजला है या अमुक गुलाब लाल है। व्यावहारिक जीवन मे इस प्रकार के ज्ञान को हम पूरी मान्यता देते हैं और विज्ञान मे भी इसकी पूरी मर्यादा है। आँख-देखे और कान-सुने ज्ञान को वास्तविक हम अवश्य कह सकते हैं, पर इसे अनिवार्य नही पुकार सकते हैं। इसका कारण है कि (तार्किक रीति से) इसके विपक्ष होने की सम्भावना रह जाती है। मेरे सामने रखा हुआ कागज उजला है, परन्तु हम सोच तो सकते है कि यह कागज काला या पीला हो। उसी प्रकार जिसपर मैं लिख रहा हूँ, वह मेज है, पर मैं सोच तो सकता हूँ कि यह डेस्क हो या यहाँ मेज न होकर केवल भूमि हो। इसलिए मनोवैज्ञानिक रीति से हम क्यो नही किसी भी प्रकथन को असदिग्ध समझें, लेकिन तार्किक दृष्टिकोण से कोई भी अनुभूतिजन्य तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति को अनिवार्य नही माना जायगा। चूंकि देकार्त और स्पिनोजा दोनो अनिवार्य तथा असदिग्ध ज्ञान की खोज मे थे, इसलिए उन्होने गाणितिक ज्ञान को अपनाया है। उनकी भूल इसी मे थी कि उन्हे इसका पूरा पता नही मिला कि गाणितिक प्रकथन अनिवार्य हो सकते है, पर वे वास्तविक और तथ्यात्मक नही माने जा सकते हैं।

अब विश्लेषात्मक अभिकथन अनिवार्य होते हैं, पर तथ्यात्मक नही, और सश्लेषात्मक अभिकथन तथ्यात्मक होते हैं, पर अनिवार्य नही—यह ज्ञान लॉक और ह्यूम मे स्पष्ट दीखता है। लॉक ने बताया है कि अन्त प्रज्ञात्मक (Intuitive) और प्रदर्शनात्मक (Demonstrative) ज्ञान अनिवार्य है, और सवेदनात्मक (Sensitive) ज्ञान केवल सभाव्य हैं। अब प्रदर्शनात्मक ज्ञान तो गाणितिक है ही और अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान के सम्बन्ध मे लॉक ने कहा है कि यह वह ज्ञान है, जिसमे केवल प्रत्ययो के प्रत्यक्ष-मात्र से हम तत्क्षण समझ लेते हैं कि इनमे विरोध है या मेल। इसलिए स्पष्ट नही होते हुए भी वास्तव मे लॉक इसे परिभाषित शब्दों के सगत प्रयोग से उत्पन्न प्रकथनों को ही अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान की सज्ञा देते हुए दीखते हैं। उसी प्रकार प्रकथनो की

शिक्षाप्रदता (instructiveness) के सम्बन्ध मे लॉक ने सभी प्रकथनो को तुच्छ और शिक्षाप्रद के दो वर्गों मे बाँटा था। तुच्छ मे या तो तादात्म्यात्मक या विश्लेषात्मक प्रकथन होते हैं। इनमे अनिवार्यता पायी जाती है, परन्तु वास्तविक तथ्यो की ज्ञानवृद्धि नही। उसी प्रकार शिक्षाप्रद प्रकथनो मे वास्तविकता का ज्ञान मिलता है, पर इसमे अनिवार्यता नही पायी जाती है।

यह ठीक है कि लॉक को गाणितिक प्रकथनो के स्वरूप के सम्बन्ध मे सही ज्ञान नही था। परन्तु, प्रकथनो के किये गये विभिन्न वर्गीकरण के अध्ययन से आभासित होता है कि लॉक को भी प्रकथनो के प्राकारिक अन्तर का आभास हो रहा था। कम-से-कम यह बात कि प्रकथनो के बीच प्राकारिक अन्तर है, लाइबनित्स की ज्ञान-मीमासा मे स्पष्ट हो जाती है। लाइबनित्स के अनुसार प्रकथनो को अनिवार्य (Necessary) और सयोगात्मक अथवा आपातिक (Contingent) इन दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है। आपातिक प्रकथन वह है, जो वास्तविक स्थिति पर आधारित हो और अनिवार्य प्रकथन वे हैं, जिनके विधेय को बिना आत्मविरोध के नकारा नही जा सकता है। फिर लाइबनित्स ने सही बताया था कि इस प्रकार के प्रकथन गणित मे पाये जाते हैं। प्रकथनो के बीच प्राकारिक अन्तर का सही ज्ञान शायद लाइबनित्स को ही था। जिसको लाइबनित्स ने अनिवार्य और आपातिक प्रकथन कहा है, उसे ही काण्ट के दर्शन और समसामयिक अनुभववाद मे विश्लेषात्मक और सश्लेषात्मक प्रकथन कहा जाता है और काण्ट ने लाइबनित्स के वर्गीकरण को ही ध्यान मे रखकर अपनी समस्या को पूर्वानुभविक सश्लेषात्मक प्रकथन के रूप मे रखा था।

§ ३ (ख) काण्ट के अनुसार विश्लेषात्मक और सश्लेषात्मक अभिकथनो की व्याख्या

काण्ट के अनुसार गणित तथा भौतिकविज्ञान (Physics) मे ही सही ज्ञान पाया जाता है। फिर जैसा हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे कि काण्ट के अनुसार गणित और भौतिक विज्ञान मे पूर्वानुभविक सश्लेषात्मक प्रकथन होते हैं, इसलिए उनके लिए ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए समस्या यह थी कि किस प्रकार से पूर्वानुभविक सश्लेषात्मक प्रकथन की सम्भावना सिद्ध की जा सकती है। इसलिए हमे काण्ट के अनुसार विश्लेषात्मक और सश्लेषात्मक वाक्यो की व्याख्या करनी चाहिए।

स्वय काण्ट ने निर्णय (Judgment)[1] शब्द का व्यवहार किया है। 'निर्णय' शब्द को वाक्य, प्रवचन तथा प्रतिज्ञप्ति से भिन्न समझना चाहिए। निर्णय वह विचार

1 वाक्य (sentenc), प्रकथन (statement), प्रतिज्ञप्ति (proposition) तथा निर्णय (judgment) में अन्तर किया जाता है। प्राय निर्णय को विचार की सरलतम इकाई अथवा यूनिट कहा जाता है। यदि कोई वस्तु मेरे सामने हो और मैं इसके सम्बन्ध में अपने मन में

है जिसे मन मे भाषा के माध्यम मे सोचा जा सकता है। अत प्रतिज्ञप्ति तथा प्रकथनो की तुलना मे 'निर्णय' मे मानसिक प्रक्रियाओ की ध्वनि पायी जाती है। इसलिए कहा जा सकता है कि काण्ट ने निर्णयो को विश्लेषात्मक तथा सश्लेषात्मक के दो वर्गों मे बांटकर अपने मत को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभिरजित कर दिया है। यही कारण है कि समसामयिक अनुभववादी काण्ट की देन को सम्पूर्णतया तर्कनिष्ठ नही मानते हैं।

फिर काण्ट निर्णयो के वर्गीकरण मे दो भिन्न सिद्धान्तो को काम मे लाते हैं। पहला सिद्धान्त उद्भव का है और दूसरा सिद्धान्त निर्णय की विषयवस्तु (Content) का है। उद्भव-दृष्टि के अनुसार काण्ट ने निर्णयो को पूर्वानुभविक (a priori) और उत्तरानुभविक (a posteriori) के दो वर्गों मे बांटा है। इसी प्रकार निर्णयो की कथावस्तु को ध्यान मे रखकर काण्ट ने निर्णयो को विश्लेषात्मक और सश्लेषात्मक के दो वर्गों मे बांटा है।* काण्ट के अनुसार विश्लेषात्मक निर्णय वह है जिसमे उसका विधेय उद्देश्य ही मे पहले ही से स्फुट या गुप्त रूप से निहित रहता है। जैसे, समझा जाता है कि 'मानव' पद से उसके अन्दर पशुता और विवेकशीलता ध्वनित होती हैं। अब यदि हम कहें कि 'मानव पशु है' तो इसका विधेय 'पशु' पहले ही से इस प्रतिज्ञप्ति के उद्देश्य 'मानव' मे निहित है। अब यदि हम 'मानव' से पशुता और विवेकशीलता का अर्थ लगाते हैं तो 'मानव' पशु है, इसे भी हम अवश्य स्वीकार कर लेंगे। इसलिए वास्तव मे विश्लेषात्मक वाक्यो मे हम केवल उद्देश्य पद को अपने निर्धारित अर्थ मे सगत रीति से काम मे लाते हैं। इसलिए यहाँ केवल शब्द-ज्ञान, अर्थात् शब्दो को सही रीति मे काम मे लाने का ज्ञान जानना चाहिए और यहाँ यह प्रश्न ही नही उठता है कि शब्दो के अनुरूप कोई वास्तविकता है या नही। इसलिए काण्ट के अनुसार विश्लेषात्मक निर्णय अनिवार्यत सत्य होता है। विश्लेषात्मक निर्णयो

विचार करूँ तो यह निर्णय कहा जायगा। जब मैं इसे भाषाबद्ध कर बोलूँ या लिखूँ कि यह कलम काली है, तब इसे प्रतिज्ञप्ति कहा जायगा। वाक्य में किसी मानसिक प्रक्रिया को अभिव्यक्त किया जा सकता है, चाहे वह भाव-सवेग हो, इच्छा-सकल्प हो या शुद्ध ज्ञान, परन्तु प्रतिज्ञप्ति वह वर्त्तमानकालिक प्रतीकात्मक अभिकथन (assertion) है, जिसमें किसी वस्तु या घटना के सम्बन्ध में ऐसी सूचना (information) दी जाती है जो सत्य-असत्य हो सकती है। 'प्रकथन' अधिक व्यापक है और इसमें वाक्य और प्रतिज्ञप्ति दोनों चले आते हैं। समसामयिक विचार में प्रकथन और प्रतिज्ञप्ति में भी अन्तर किया जाता है। प्राय. बताया जाता है कि प्रकथन किसी भी वाक्य के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है और उसके अर्थ को ही प्रतिज्ञप्ति कहा जाता है। इस पुस्तक में प्रतिज्ञप्ति और प्रकथन के बीच के सूक्ष्म अन्तर को ध्यान में नहीं रखा गया है।

*'विश्लेषात्मक' शब्द 'विश्लेषण' से निकला है, जिसका अर्थ है कि किसी जटिल वस्तु या भावना को उसके सरल टुकडों या युनिटों में अलग-अलग विभक्त कर दिया जाय। यही बात अंग्रेजी में 'Analytic' शब्द से अभिव्यक्त होती है। उसी प्रकार, Synthetic को 'सश्लेषात्मक' कहा गया है जिसका अर्थ है कि पृथक् टुकडों को जोड कर या सश्लेषकर एक सम्पूर्ण वस्तु या भावना को रचा जाय।

की सत्यता उद्देश्य-पद की गुणवाचकता के विश्लेपण-मात्र से निर्धारित की जाती है। इसलिए यहाँ वास्तविक जगत् के अनुभव की आवश्यकता ही नही होती है। अब जहाँ अनुभव की गुजाइश नही होगी वहाँ ज्ञान-वृद्धि का प्रश्न ही नही उठता है। विश्लेपात्मक निर्णयो के विपरीत सश्लेषात्मक निर्णय वे होते हैं, जिनमे विधेय पहले ही से उद्देश्य पद मे निहित या अन्तर्भावित नही रहता है। जैसे, 'कुछ मानव निरक्षर होते हैं'। अब 'मानव' पद मे साक्षरता या निरक्षरता की सार-गुणवाचकता नही मानी जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति नही पढे तो उसे 'मानव' पुकारने मे कोई दोष नही माना जायगा। इसलिए कोई अमुक व्यक्ति वास्तव मे निरक्षर है या साक्षर है, यह केवल उस व्यक्ति की पूछ-ताछ अर्थात् अनुभूति से ही जाना जा सकता है। इसलिए सश्लेषात्मक निर्णयो की सत्यता अनुभूति-विषयक होती है, न कि केवल शब्दो के ही अर्थ विश्लेषण पर आधारित। इसलिए सश्लेषात्मक निर्णय अनुभूति से प्राप्त किये जाते है और चूँकि अनुभूति ही के द्वारा वास्तविक तथ्यो का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए सश्लेषात्मक निर्णयो मे ज्ञान-वृद्धि हो सकती है। परन्तु अनुभूति के आधार पर कोई इतना ही भर कह सकता है कि 'यह कलम काली है', पर सगतरीति से यह नही कह सकता है कि 'यह कलम अवश्य काली होगी'। यह ठीक है कि अनुभूति के आधार पर हम कह सकते हैं कि सूर्य पूरब मे उगता है, पर हम यह नही कह सकते हैं कि सूर्य पूरब मे अवश्य ही उगेगा। इसलिए सश्लेषात्मक निर्णयो मे अनिवार्यता नही, लेकिन केवल सभाव्यता (Probability) ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए काण्ट के अनुसार विश्लेषात्मक और सश्लेषात्मक निर्णयो मे अन्तर है।

विश्लेषात्मक निर्णय	सश्लेषात्मक निर्णय
१ इसकी सत्यता (वैधता*) शब्दो के ही विश्लेषण पर निर्भर करती है। यदि शब्द सगत रीति से व्यवहृत हुआ तो इसे सही स्वीकार कर लिया जाता है। इसमे वास्तविकता का प्रश्न नही उठता।	१ इसकी सत्यता वास्तविकता को सही अभिव्यजित करने से उत्पन्न होती है। इसलिए यह अनुभूति पर आधारित होती है।
२. इसमे अनिवार्यता पायी जाती है।	२ इसमे अनिवार्यता नही, लेकिन सभाव्यता पायी जाती है।

---

* 'सत्यता' शब्द का वहाँ व्यवहार किया जाता है जहाँ वास्तविकता के अनुसार प्रतिज्ञप्ति का प्रमाणीकरण या सत्यापन होता है। इसके विपरीत, जहाँ केवल शब्दों के ही सगत व्यवहार की बात कही जाती है, वहाँ वैध-अवैध की सज्ञा दी जाती है। इसलिए तर्कशास्त्र में वैधता-अवैधता और विज्ञानों में सत्यता-असत्यता पायी जाती है।

विश्लेषात्मक निर्णय	संश्लेषात्मक निर्णय
३ इसमे चूंकि वास्तविकता का प्रश्न ही नही उठता, इसलिए इससे ज्ञानवृद्धि नही होती है।	३ चूंकि इसका सम्बन्ध वास्तविक अनुभूति से होता, इसलिए इसके द्वारा ज्ञान वृद्धि सम्भव है।

§ ३ (ग) पूर्वानुभविक तथा उत्तरानुभविक निर्णय*

काण्ट के अनुसार पूर्वानुभविक निर्णय वे है, जो अनुभूति से परे तथा पूर्व हो। यहाँ 'अनुभूति मे पूर्व' से तात्पर्य है कि जो इस अमुक अनुभूति तथा दूसरे प्रकार की अनुभूति से नही, वरन् जो किसी भी प्रकार की अनुभूति से परे एव पूर्व हो। मान लिया जाय कि गरम दूध से एक बार जल जाने के बाद बच्चा दूसरी बार दूध को फूंककर पीता है। और, तीसरी बार बच्चा बिना अनुभव किये हुए जान जाता है कि इस बार भी दूध गरम है। इस तीसरी बार के इस निर्णय को 'दूध गरम है' पूर्वानुभविक नही कहा जायगा क्योकि यहाँ यह निर्णय भूत अनुभूति पर आधारित है। फिर बिना डाली पर बैठे या उसपर से गिरे हुए कोई जान सकता है कि किसी डाली पर बैठकर यदि वह उसी डाली को काटे, जिसपर वह बैठा हुआ है, तो वह डाली के साथ भूमि पर गिर जायगा। परन्तु, इस ज्ञान को भी पूर्वानुभविक नही कहा जायगा, क्योकि ऐसा व्यक्ति अन्य वस्तुओ के गिरने को भूत अनुभव के आधार पर जानता है। इसके विपरीत प्रागनुभविक निर्णय वह है, जो किसी भी सम्भव अनुभव से परे एव पूर्व हो। काण्ट के अनुसार 'प्रत्येक घटना किसी-न-किसी कारण से अवश्य उत्पन्न होती है'—यह पूर्वानुभविक निर्णय का उदाहरण है। इसी प्रकार 'कोई भी गुण बिना द्रव्य के सम्भव नहीं होता है,' पूर्वानुभविक निर्णय का उदाहरण माना जा सकता है। काण्ट के अनुसार ज्ञान का आदर्श विज्ञानो मे पाया जाता है और विज्ञान बिना कारण-कार्य के सिद्धान्त को स्वीकारे हुए एक पग भी आगे नही चल सकता है। पर क्या कारण-कार्य का प्रनियम अनुभव पर आधारित है ? इस बात का निर्णय ह्यूम ने कर दिया था और उसने स्पष्ट कर दिया है कि कारण-कार्य के प्रनियम को किसी भी प्रकार के अनुभव से नही प्राप्त किया जा सकता है। तो क्या कारण-कार्य का प्रनियम जिसके बिना विज्ञान सम्भव नही हो सकता है, काल्पनिक रचना कहकर निराधार मान लिया जाय ? इस स्थिति मे काण्ट का कहना है कि विज्ञान को कसौटी मानकर विज्ञान मे सन्निहित नियमो को भी उचित एव बुद्धिपरक समझना चाहिए। अत, विज्ञान मे अन्तर्निहित कारण-कार्य को भी उचित और बुद्धिपरक स्वीकारना चाहिए। अब यदि कारण-कार्य की व्याख्या अनुभव के आधार पर नही हो सकती है तो इसे अनुभव से

* उच्चकक्षा के पाठकों के लिए। पृष्ठों को उलटकर अब पढें—§ ४।

परे एव स्वतत्र समझना चाहिए और इसलिए कारण-कार्य के प्रनियम को पूर्वानुभविक कहना चाहिए ।

काण्ट ने पूर्वानुभविक अभिकथनो के दो लक्षणो का बोध कराया है, अर्थात् शुद्ध अनिवार्यता और सर्वव्यापकता। चूँकि काण्ट अपने युग के विज्ञान को ध्यान मे रखकर किसी भी तथ्यात्मक विज्ञान मे कारण-कार्य के प्रनियम को अपरिहार्य मानते थे, इसलिए उन्होने कारण-कार्य-जैसे प्रनियमो को 'अनिवार्य' कहा है। फिर चूँकि काण्ट पूर्वानुभविक तत्त्वो को मानव-मन की देन समझते थे और चूँकि मानव-मन का स्वरूप सभी व्यक्तियो मे एक समान माना जाता है, इसलिए पूर्वानुभविक तत्त्व को सभी मानव-ज्ञान मे सर्वव्यापक रूप से होना चाहिए ।

यहाँ काण्ट के समीक्षावाद का गहन विषय हो जाता है कि अनिवार्यता और सर्वव्यापकता, ये दोनो लक्षण विश्लेपात्मक अभिकथनो मे भी पाये जाते हैं। तो क्या पूर्वानुभविक और विश्लेपात्मक अभिकथनो को एक ही प्रकार का अभिकथन मान लिया जाय ? काण्ट के अनुसार ये दो प्रकार के भिन्न-भिन्न वर्ग के अभिकथन हैं। इसके विपरीत तर्कनिष्ठ अनुभववादी विश्लेपात्मक और पूर्वानुभविक अभिकथनो को एक ही प्रकार का अभिकथन मानते हैं। इस समस्या की चर्चा बाद मे की जायगी। इस प्रसग मे अभी उत्तरानुभविक अभिकथनो की व्याख्या करनी चाहिए।

उत्तरानुभविक अभिकथन वे हैं, जिन्हें अनुभूति से ही प्राप्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'सफेद फूलो मे सुगध होती है।' यहाँ 'सफेद फूल' के विश्लेपण-मात्र से यह नही निर्धारित किया जा सकता है कि इसमे सुगध है या नही। इस बात को निश्चित करने के लिए कि सफेद फूलो मे सुगध होती है, सफेद फूलो का अनुभव करना पडता है। अत, उत्तरानुभविक अभिकथनो को सश्लेपात्मक अभिकथन कहा जा सकता है।

पर क्या सभी सश्लेपात्मक निर्णय उत्तरानुभविक कहे जा सकते हैं ? काण्ट के अनुसार यह ठीक नही होगा, क्योकि इनके अनुसार सश्लेपात्मक निर्णय पूर्वानुभविक भी होते हैं। अब यह मत सही है या नही, यह अनिवार्यता की व्याख्या पर निर्भर करता है। काण्ट के अनुसार विश्लेपात्मक और पूर्वानुभविक, दोनो प्रकार के निर्णय अनिवार्य रीति से सत्य कहे जाते हैं, तो क्या विश्लेषामक अनिवार्यता और पूर्वानुभविक अनिवार्यता मे कोई अन्तर नही ?*

प्राय, तर्कनिष्ठ अनुभववादियो का कहना है कि विश्लेषात्मक और पूर्वानुभविक अनिवार्यता मे कोई अन्तर नही। इसलिए उनके अनुसार किसी भी निर्णय को सश्लेषात्मक के साथ पूर्वानुभविक भी कहने का अर्थ होता है कि एक ही निर्णय सश्लेपणात्मक और विश्लेषात्मक दोनो है, और ऐसा कहना आत्मविरोधात्मक है।

इसलिए अनुभववादियो का कहना है कि काण्ट ने गणित और पदार्थ विज्ञान के प्रकथनो को सश्लेपात्मक पूर्वानुभविक मानकर एक मिथ्या समस्या अपने सामने रख ली है। अत, ज्ञान के सश्लेपात्मक पूर्वानुभविक निर्णयो का किस प्रकार स्पष्टीकरण हो सकता है? अब यदि समस्या ही भ्रमात्मक हो तो इसका समाधान भी वैसा ही होगा। इसलिए प्राय अनुभववादी कहते है कि काण्ट ने ज्ञान-मीमासा को आगे न बढाकर इसमे भ्रम, शब्दजाल, जल्प इत्यादि के बढ जाने का पूरा मसाला तैयार कर दिया है।

यह ठीक है कि यदि हम गाणितिक निर्णय और भौतिक विज्ञान के प्रकथनो की उस व्याख्या को लें, जिसे काण्ट ने हमारे सामने रखा है तो हमे कहना पडेगा कि काण्ट ने मनोवैज्ञानिक बातो को जोड-तोडकर पूर्वानुभविक सश्लेपात्मक निर्णयो की ऐसी व्याख्या की है, जिसे हम शुद्ध तार्किक नही कह सकते हैं। उन्होने गाणितिक प्रकथनो को भी सश्लेषात्मक रूप मे और पदार्थ-वैज्ञानिक प्रकथनो को गोल रीति से पूर्वानुभविक रूप मे स्पष्ट करने की कोशिश की है। परन्तु क्या पूर्वानुभविक और विश्लेषात्मक अनिवार्यता काण्ट ने कही भी एक कही है? नही। इनका भेद ही काण्ट की मुख्य समस्या थी।

इस बात मे काण्ट अनुभववादियो से सहमत थे कि वास्तविक जगत् का तथ्यात्मक ज्ञान केवल सवेदन और आत्म-निरीक्षण से ही सम्भव हो सकता है। फिर वे अनुभववादियो की दूसरी मान्यता को भी स्वीकार करते थे कि अनुभूति से प्राप्त सवेदन-छाप पृथक्-पृथक् ही हो सकती है। परन्तु ज्ञान प्रत्यक्षो की या सवेदन इत्यादि से प्राप्त प्रत्यक्ष की छापो की क्रमबद्ध व्यवस्था है। इसलिए समस्या यह है कि कैसे पृथक्-पृथक् रहनेवाले प्रत्यक्षों को व्यवस्थित किया जाय और वे आधार जिनसे व्यवस्था उत्पन्न होती है, उन्हें कैसे स्पष्ट कर दिया जाय? यहाँ काण्ट ने अपने दर्शन मे बतलाया है कि क्रमबद्ध व्यवस्था की प्राप्ति मे कई सीढियाँ पायी जाती हैं और प्रत्येक पग पर व्यवस्था के उत्पन्न करने मे पूर्वानुभविक अग पाये जाते हैं। सर्वप्रथम, सवेदन तथा आत्म-निरीक्षण से प्राप्त छाप अपने-आप प्रागनुभविक देश-काल के रूपो से व्यवस्थित होकर प्रत्यक्ष का आकार धारण कर लेती हैं। परन्तु प्रत्यक्षो से ज्ञान नही होता। वास्तव में काण्ट के अनुसार निर्णय ही ज्ञान के यूनिट हैं और प्रत्यक्षो से निर्णय की रचना मे समझ के प्रागनुभविक पदार्थ (Categories) पाये जाते हैं। इन पदार्थों मे काण्ट ने कारण-कार्य और द्रव्य पर अधिक जोर दिया है। काण्ट के अनुसार बिना कारण-कार्य के पदार्थ के कोई भी वैज्ञानिक निर्णय सम्भव नही होता है। अब काण्ट का कहना है कि बिना देश-काल के प्रागनुभविक रूप तथा कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थ की ज्ञान-व्यवस्था सम्भव नही होती है। अब क्या देश-काल के रूपो तथा कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि पदार्थों की अनिवार्यता को

विश्लेषात्मक अनिवार्यता कहा जा सकता है ? अब कम-से-कम तीन प्रकार की अनिवार्यता हो सकती है, अर्थात् ।

१. मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता जो बहुत कुछ तथ्यात्मक अनिवार्यता से मिलती-जुलती है । जैसे, हम कहते हैं कि 'मुलायम घास अवश्य ही मनुष्य के पैर के भार से दब जायगी ।' यह तथ्यात्मक अनिवार्यता की बात है । पर, इसे तार्किक अनिवार्यता नही कहा जा सकता, क्योकि इसके विपक्ष मे हम कल्पना कर सकते है कि मुलायम घास पैर से दबने पर भी खडी-की खडी रह जाय । उसी प्रकार मनो-वैज्ञानिक अनिवार्यता हो सकती है । अब ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य तथा द्रव्य पदार्थ के अनुसार विचारने की प्रणाली मानव-मन के सहचार-नियम से बँध जाने की अनिवार्यता के आधार पर पायी जाती है । मानव मन बाध्य हो जाता है कि अनेक बार सूर्य और प्रकाश का योग पाकर वह सूर्य को कारण और प्रकाश को उसका कार्य समझे । स्वय सूर्य और प्रकाश मे कोई कारण-कार्य का सम्बन्ध नही है, पर मानव मन अपने स्वरूप से बाध्य होकर सहचार के आधार पर सूर्य को 'कारण' समझता है । अब क्या काण्ट भी यही मानते हैं कि मानव अपने स्वभाव से लाचार होकर कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थो (Categories) के अनुसार विचार करते हैं ।

थोडा बहुत काण्ट भी समझते थे कि मानव ऐसे ही रचे गये हैं कि वे कारण-कार्य द्रव्य, इत्यादि पदार्थों के बिना विचार ही नही सकते हैं । इनका मतभेद ह्यूम से इतना ही भर था कि कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थ अनुभूति के द्वारा प्राप्त नही किये गये हैं । वे सभी मानव के विचार करने के सर्वव्यापक विधान हैं । यह विधान मानव के स्वभाव से ही सिद्ध होता है । तो क्या इसे भी मनोवैज्ञानिक माना जाय और कहा जाय कि यह मनोवैज्ञानिक सत्यता है कि मानव बिना कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि पदार्थों के नही सोच सकता है ? नही । इसका कारण है कि काण्ट के अनुसार कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि अनुभूति से नही प्राप्त किये गये हैं, क्योकि मानव-स्वभाव-सिद्ध होने के कारण ये प्रथम अनुभूति के भी पूर्व कहे जायेंगे । फिर यह सही नही कहा जायगा कि वास्तव मे सभी व्यक्ति कारण-कार्य इत्यादि के अनुसार सभी स्थलो पर सोचते हैं। बहुत-से ऐसे पागल हैं जो, समझ सकते हैं कि सूर्य से नही, लेकिन उनकी श्वास-नि श्वास से ही ताप मिलता है और वे यह भी सोच सकते हैं कि कभी सूर्य से ठढा और कभी ताप मिलता है।परन्तु काण्ट का कहना है कि यदि आप सर्वव्यापक, सर्वमान्य तथा वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते है तो आप बिना कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थों को काम मे लाये हुए इस प्रकार के ज्ञान को नही प्राप्त कर सकते है । इसलिए यद्यपि कारण-कार्य इत्यादि के पदार्थ मानव-स्वभाव-सिद्ध हैं तथापि इन्हें मनोवैज्ञानिक नही कहा जायगा। काण्ट ने कभी कल्पना भी नही की थी कि इसे बाल-निरीक्षण तथा मनोवैज्ञानिक

प्रयोग से सिद्ध किया जा सकता है। उनके अनुसार प्रागनुभविक प्रकथन वैज्ञानिक प्रकथनो के तर्कनिष्ठ विश्लेषण से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए काण्ट का सिद्धान्त देखने मे मनोवैज्ञानिक क्यो न लगे, परन्तु यह तर्कनिष्ठ सिद्धान्त कहा जायगा और इसे भाषा-विश्लेषण माना जायगा। तो क्या इस प्रकार की अनिवार्यता को विश्लेषात्मक अनिवार्यता कहा जाय ?

(२) हमलोगो ने पहले ही बताया है कि विश्लेषात्मक प्रकथनो की अनिवार्यता शब्दार्थक हुआ करती है और इसमे वास्तविकता का प्रश्न ही नही उठता है। परन्तु काण्ट के अनुसार प्रागनुभविक कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि पदार्थों का काम है कि वे प्रत्यक्षो को व्यवस्थित कर वैज्ञानिक निर्णयो की स्थापना करें।

(३) इसलिए काण्ट पूर्वानुभविक पदार्थों की अनिवार्यता को तार्किक कहेंगे, न कि विश्लेषात्मक या मनोवैज्ञानिक। अब काण्ट की विचार-शैली के अपनाने पर कहा जा सकता है कि तार्किक अनिवार्यता प्रागनुभविक और विश्लेषात्मक दो प्रकार की होती है। विश्लेषात्मक अनिवार्यता शब्दार्थक या शब्द-विश्लेषणात्मक होती और इसका सम्बन्ध वास्तविकता से नही होता है। पूर्वानुभविक अनिवार्यता वह है, जो वास्तविक प्रत्यक्षो की साक्षात् प्राप्ति से नही, पर उनकी क्रमबद्ध व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है। चूँकि बिना क्रमबद्ध व्यवस्था के वैज्ञानिक ज्ञान सभव नही होता और चूँकि प्रागनुभविक पदार्थ क्रमबद्ध व्यवस्था मे अनिवार्य होते है, इसलिए काण्ट के अनुसार प्रागनुभविक पदार्थों की अनिवार्यता ज्ञानवृद्धि के लिए भी पूर्णतया आवश्यक है।

(क) इसलिए प्रागनुभविक और विश्लेषात्मक अनिवार्यताओ मे पहला अन्तर यह है कि प्रागनुभविक अनिवार्यता का सम्बन्ध वास्तविकता से रहता है और विश्लेषात्मक अनिवार्यता मे वास्तविकता का प्रश्न ही नही उठता है।

(ख) फिर विश्लेषात्मक अनिवार्यता अनायासही स्पष्ट हो जाती है, जो बात प्रागनुभविक अनिवार्यता मे नही पायी जाती है। यदि हम कहें कि 'बरसाती दिन आर्द्र होते हैं' तो इसे स्वीकार करने मे किसी विचार-विमर्श की आवश्यकता नही होती। परन्तु यह कहना कि बिना कारण-कार्य के प्रागनुभविक नियम के वैज्ञानिक ज्ञान सभव नही है, आसानी से नही स्वीकार किया जा सकता है। इसे स्पष्ट करने के ही लिए काण्ट को कठिन प्रयास करना पडा था।

§ ३. (घ) काण्ट की प्रागनुभविक अनिवार्यता के सम्बन्ध मे समसामयिक मत

पहले ही हम देख चुके हैं कि समसामयिक अनुभववादी मत के अनुसार प्रागनुभविक और विश्लेषात्मक अनिवार्यता को एक ही समझा जाता है और इसलिए प्रागनुभविक सश्लेषात्मक निर्णय की सभावना को आत्मविरोधी कहा जाता है। अब ऐसा मानने के सम्बन्ध मे क्या तर्क दिये जाते हैं ?

१ काण्ट ने कारण-कार्य, द्रव्य, भाव-अभाव-सीमा, एकत्व-अनेकत्व-सम्पूर्णत्व इत्यादि के पदार्थों को वैज्ञानिक ज्ञान के लिए आवश्यक और सर्वव्यापक माना है। काण्ट के समय मे किसी भी तथ्यात्मक (Factual) विज्ञान मे बिना कारण-कार्य के पदार्थ की दुहाई दिये किसी भी नियम की स्थापना नही की जाती थी। इसलिए काण्ट ने कारण-कार्य को अपने युग और उसी वैज्ञानिक परम्परा की अनूठी विशेषता नही माना, इसे स्थायी, आवश्यक और अपवाद-रहित पदार्थ माना है। इसलिए काण्ट ने यह निष्कर्ष निकाला था कि बिना कारण-कार्य तथा अन्य पदार्थों के वैज्ञानिक विचार सभव है ही नही। अत, काण्ट ने वैज्ञानिक विचार के लिए इन्हें मानव-स्वभाव-सिद्ध अनिवार्य पदार्थ-विज्ञान माना है। पर क्या इसे आज अनिवार्य विचार-विधान (Legislation) माना जा सकता है ?

आज की दुनिया मे भौतिकी मुख्य विज्ञान माना जाता है। इस विज्ञान मे परमाणु-सम्बन्धी नियमो मे कारण-कार्य की आवश्यकता नही पडती है। स्थूल वस्तुओ के सम्बन्ध मे ही नियतिवाद तथा कारण-कार्य के अनुसार नियमो की स्थापना की जा सकती है, परन्तु सूक्ष्म परमाणुओ के अन्दर की कार्यवाही मे कारण-कार्य का सम्बन्ध नही दिखायी देता है। इसलिए इस युग मे न्यूक्लियर भौतिकी मे कारण-कार्य को अनिवार्य नही समझा जाता है। यही कारण है कि समसामयिक अनुभव-वादी काण्ट के इस कथन को कि कारण-कार्य का पदार्थ (Category) अनिवार्य है, सही नही मानते हैं।

(२) अब चूँकि कारण-कार्य, द्रव्य इत्यादि के पदार्थ वैज्ञानिक ज्ञान मे अनिवार्य नही समझे जा सकते है, तो यह कहना कि ये वैज्ञानिक विचार के विधान हैं, सही नही ठहरता है, अर्थात् यह कहना कि ये पदार्थ मानव-स्वभाव-सिद्ध है, सही नही माना जा सकता है। इसलिए अनुभववादियो का कहना है कि ये पदार्थ वास्तव मे परिपाटी या रूढि (Convention) से उत्पन्न हुए हैं। अभी तक इन रूढिगत पदार्थों के मानने से विचारो के सचालन मे सफलता मिली है, इसलिए इनकी मान्यता अभी भी बनी हुई है। परन्तु जैसा 'रूढि' या 'परिपाटी' शब्द से ही अभिव्यञ्जित हो जाता है, इन्हें मानव-विचारो के लिए अनिवार्य नही समझा जा सकता है।

पदार्थों के सम्बन्ध मे अनिवार्यता न मानकर रूढिवाद के सिद्धान्त को इस समय अधिक मान्यता प्राप्त है, पर क्या इससे काण्ट के मत का सम्पूर्णतया खडन हो जाता है ? नही, इसका कारण है कि जो कुछ काण्ट ने पदार्थों के सम्बन्ध मे कहा था, उसके मूल मे क्या था, इसे ही हमे इस प्रश्न का उत्तर देने मे आधार मानना चाहिए। उनका कहना था कि गणित और पदार्थ-विज्ञान के प्रकथनो को ही मानदड स्वीकार कर उनका विश्लेषण करना चाहिए और उनके भाषा-विश्लेषण

के आधार पर ज्ञान-मीमासा रचनी चाहिए। अब चूंकि काण्ट के युग के वैज्ञानिक प्रकथनो भाषाविश्लेषण के अनुसार कारण-कार्य तथा अन्य पदार्थों को अनिवार्य कहा जा सकता था और आज के वैज्ञानिक प्रकथनो के विश्लेषण से उन्हें केवल रूढिगत (Conventional) ही कहा जा सकता है, तो आज यदि काण्ट जीवित होते तो वे भी पदार्थों को रूढिगत की ही सज्ञा देते। वे भी कहते कि वैज्ञानिक प्रकथनो के लिए कारण-कार्य का पदार्थ उतना अनिवार्य नही माना जायगा जितना गाणितिक समरूपता (Mathematical uniformities), पर वे अन्त मे पूछते, पदार्थ को हम रूढिगत मान ले सकते हैं, पर क्या बिना पदार्थ के हम वैज्ञानिक प्रकथनो की स्थापना कर सकते हैं ? हो सकता है कि कारण-कार्य का पदार्थ अब न मानकर गाणितिक सूत्रो की समरूपता को ही हम अभी अधिक उपयोगी समझें, पर क्या हम किसी भी प्रकार के पदार्थों को एक युग मे बिना अधिक उपयोगी और आवश्यक समझकर वैज्ञानिक प्रकथनो की स्थापना कर सकते हैं ? इसलिए सभव है कि किसी एक पदार्थ-विशेष को, उदाहरणार्थ कारण-कार्य को अनिवार्य हम न समझें, किन्तु सामान्य रीति से पदार्थो को, चाहे हम अब उन्हें रूढिगत कहें या मानव-स्वभाव-सिद्ध कहें हमे उन्हें अनिवार्य समझना ही पडेगा। फिर यदि हम उन्हें अनिवार्य समझें तो कम-से-कम यह भी मानना पडेगा कि तार्किक रूप से सोचना भी मानव-स्वभाव-सिद्ध है। इसलिए अन्त मे तार्किक नियमो के मूल मे मानव-मनोवैज्ञानिकता की वास्तविकता को स्वीकार करना होगा। यह ठीक है कि अनुभववादी विचारक पदार्थ-सम्बन्धी सामान्य समस्या को समस्या ही नही मानेंगे। उनके अनुसार उचित प्रश्न केवल किसी पदार्थ-विशेष के सम्बन्ध मे पूछा जा सकता है, परन्तु यह पूछना कि क्या बिना पदार्थ के सोचा जा सकता है, केवल समस्याभास है।

इसलिए काण्ट की पूर्वानुभविक अनिवार्यता को विश्लेषात्मक अनिवार्यता नही कहा जा सकता है, परन्तु इसकी पदार्थ-सम्बन्धी अनिवार्यता का सिद्धान्त अभी भी विचारको के लिए विचाराधीन है।

§ ४ गणित मे पूर्वानुभविक सश्लेषणात्मक निर्णयो का प्रश्न *

अब जो कुछ भी समसामयिक निष्कर्ष काण्ट की प्रागनुभविक अनिवार्यता के सम्बन्ध मे हो, कम-से-कम यह स्पष्ट है कि काण्ट के अनुसार पूर्वानुभविक अनिवार्यता से ज्ञान-वृद्धि मे योगदान मिलता है। इसलिए यह तो सभी कहेंगे कि विश्लेषात्मक निर्णय अनिवार्य होते हैं, और यह भी कि सश्लेषात्मक निर्णय ज्ञान-वृद्धि करते हैं। पर क्या ऐसे निर्णय भी हो सकते हैं, जो ज्ञान-वृद्धि करते हुए

* पाठ्यक्रम की दृष्टि से यह विचारणीय प्रश्न है।

अनिवार्य हो और अनिवार्य रहते हुए भी विश्लेषात्मक न होकर सश्लेषात्मक हो ? काण्ट का कहना है कि जिन्हें हम विज्ञान कहते हैं, अर्थात् उनके समय के गणित और पदार्थ-विज्ञान, दोनो मे पूर्वानुभविक सश्लेपात्मक निर्णय पाये जाते है और काण्ट ने इसे निम्नलिखित रीति से स्पष्ट करने की कोशिश की है :

अंकगणित के एक उदाहरण को लें। '५ और ७ का योगफल १२ होता है'। यहाँ उद्देश्य है '५ और ७ मिलकर' और विधेय 'योगफल १२'। इसे इसलिए पूर्वानुभविक कहा जा सकता है कि इसमे सर्वव्यापकता और अनिवार्यता पायी जाती है। इस प्रकथन को सभी निश्चित रूप से सत्य मानेंगे। चूंकि सर्वव्यापकता और अनिवार्यता पूर्वानुभविक निर्णयो का चिह्न है, इसलिए अकगणित का यह प्रकथन प्रागनुभविक कहा जायगा। पर इमे क्यो सश्लेपात्मक कहा जाय ? इसे स्पष्ट करने मे काण्ट को कठिनाई का सामना करना पडा। इनका कहना है कि विधेय-पद 'योगफल १२' उद्देश्य-पद '५ और ७ मिलकर' मे पहले से निहित नही है। काण्ट की इस बात को शायद ही लोग स्वीकार कर सकते हैं, क्योकि लोगो के अनुसार '१२' पहले से ही '५+७' मे निहित है और इसलिए वे इस प्रकथन को विश्लेपात्मक मानेंगे न कि सश्लेषात्मक। परन्तु काण्ट के अनुसार उद्देश्य-पद '५ और ७ मिलकर' केवल दो सख्याओ के एक साथ मेल का ही बोध करता है और इस योगक्रिया से क्या योगफल निकलेगा, इसका बोध नही होता है। काण्ट के अनुसार 'योगक्रिया' मे ही 'योगफल' निहित नही है। तो प्रश्न हो सकता है कि हम क्यो समझते हैं कि 'योगफल' पहले से ही 'योगक्रिया' मे निहित है ? काण्ट का कहना है कि यह भ्रम इसलिए हो जाता है कि हम बहुत छोटे-छोटे अको की योगक्रिया अपने उदाहरण मे लिये हुए हैं और इसलिए उन्हें देखने के साथ उनके योगफल १२ को जान लेते हैं। परन्तु यदि हम दो बडे अको को लें, जैसे, ९७६५३२९+३७४५६, तो इनका योगफल X उद्देश्य-पद मे निहित नही मालूम देगा। इसलिए काण्ट के अनुसार अकगणित के निर्णय प्रागनुभविक होने के साथ सश्लेपात्मक भी हैं।

"That 5 should be added to 7, I have indeed already thought in the concept of a sum=7+5, but not that this sum is equivalent to the number 12 Arithmetical propositions are therefore always synthetic This is still more evident if we take large numbers. (*)

पर क्या काण्ट का यह कहना कि ५ और ७ की योगक्रिया मे १२ योगफल निहित नही है, सही माना जायगा ? काण्ट ने मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके अपने पक्ष की निर्बलता को ही स्पष्ट किया है। यदि अक बडे-बडे हो, तो हमारी मनोवैज्ञानिक क्षमता ऐसी

N K Smith, 'Immanuel Kant's Critique of Pure Reason'—Abridged Edition—P. 33

न हो कि देखने के साथ उसके योगफल को बता दे । पर प्रश्न यह है कि क्या अको की योगक्रिया मे ही योगफल निहित है या नही ? काण्ट ने गलत कहा है कि योगफल योगक्रिया मे अन्तर्निहित नही है । कोई आसानी से या कठिनाई से योगक्रिया के द्वारा योगफल को जाने या न जान सके, यह मनोवैज्ञानिक बात है । तार्किक दृष्टिकोण से हमे इतना ही भर देखना है कि योगक्रिया मे योगफल अन्तर्निहित है या नही और हमे मानना पडेगा कि '७+५' का योगफल अवश्य इसमे है, चाहे हम इसे आसानी से या कठिनाई से जानें कि वह योगफल का अक १२ है । काण्ट भी इस बात को जानते थे, क्योकि उन्होने स्पष्ट कहा है कि ऊपर से देखने मे अकगणित के प्रकथन विश्लेषात्मक ही लगते हैं ।

यदि काण्ट इस प्रसग मे प्रागनुभविक अनिवार्यता पर ध्यान देते तो उन्हे स्पष्ट हो जाता कि उन्होने यहाँ 'अनिवार्यता की व्याख्या नही की है और वे बताना चाहते थे कि सब प्रकार की अनिवार्यता प्रागनुभाविक है । यह गलत है । गाणतिक प्रकथनो की अनिवार्यता विश्लेषात्मक अनिवार्यता है, न कि प्रागनुभविक । काण्ट का सबसे बडा दोष यह है कि उन्होने अनिवार्यता को स्पष्ट नही किया है और यहाँ पर प्रागनुभविक अनिवार्यता को विश्लेषात्मक अनिवार्यता मान लिया है । यदि बात ऐसी हो तो प्रागनुभविक सश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक सश्लेषात्मक मे कोई अन्तर नही होता और प्रागनुभविक सश्लेषात्मक निर्णय आत्मविरोधी हो जाता है । अब चूंकि गाणितिक प्रकथनो की अनिवार्यता विश्लेषात्मक अनिवार्यता है, इसलिए इन्हें फिर सश्लेषात्मक मानने मे आत्म-विरोध उत्पन्न हो जाता है और यही कारण है कि काण्ट वास्तव मे गाणितिक प्रकथनो को सश्लेषात्मक नही सिद्ध कर पाये हैं, क्योकि वे सश्लेषात्मक है भी नही । काण्ट की यह भी गलती थी कि वे गणित को तथ्यात्मक विज्ञान मानते थे । गणित मे वास्तविकता से सम्बन्ध नही रहता है और इसलिए इसमे केवल विश्लेषात्मक वाक्य ही रह सकते हैं, इसलिए इन्हें सश्लेषात्मक सिद्ध करने मे उन्हें कठिनाई का सामना करना पडा । भला बालू से तेल कैसे निकलेगा ?

§ ५. भौतिकी मे पूर्वानुभविक सश्लेषात्मक निर्णयो की समस्या

गणित की प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य होती है । इसे ऐसा मानने मे कठिनाई नही होती है, परन्तु इन्हें सश्लेषात्मक सिद्ध करने मे कठिनाई अवश्य मालूम देती है । ठीक इसके विपरीत भौतिकीय प्रकथनो की बात है । उन्हें सश्लेषात्मक मानने मे कठिनाई नही होती है, क्योंकि सभी स्वीकार करेंगे कि भौतिकीय प्रकथन अनुभूति पर आधारित होते हैं । परन्तु उन्हें अनिवार्य मान लेने मे कठिनाई अवश्य होती है और इसे हम काण्ट की व्याख्या मे पायेंगे ।

काण्ट ने अपने मत को स्पष्ट करने के लिए भौतिकीय प्रकथनो के दो उदाहरणो को हमारे सामने रखा है । 'भौतिक पदार्थों के सभी परिवर्तनो मे भौतिक

पदार्थ का परिमाण, (quantity) ज्यों का त्यो (या स्थायी) रहता है,' और किसी भी गति के सचार मे क्रिया-प्रक्रिया (action-reaction) बराबर होती है। काण्ट के अनुसार दोनो प्रतिज्ञप्तियाँ पूर्वानुभविक सश्लेषात्मक होती है। ये इसलिए पूर्वानुभविक हैं कि ये अनिवार्य है और इसलिए सश्लेषात्मक हैं कि 'भौतिक पदार्थ' मे 'स्थायित्व' (Permanence) पहले से ही अन्तर्निहित नही कहा जा सकता है। इसलिए यहाँ स्थायित्व को भौतिक पदार्थ से जोड दिया गया है। परन्तु प्रश्न होता है कि स्थायित्व को 'भौतिक पदार्थ' से जोडा कैसे गया है? काण्ट ने एक पहले के उदाहरण मे कि 'सभी भौतिक पदार्थों मे भार होता है, कहा था कि इस सश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति मे विधेय (भार होना) का उद्देश्यपद (भौतिक पदार्थ) के साथ का अनुभूति के आधार पर ही होता है।[1] तो क्या स्थायित्व का भी 'भौतिक पदार्थ' के साथ योग अनुभूति पर आधारित होता है? काण्ट का कहना है कि नही। यहाँ काण्ट के अनुसार स्थायित्व (विधेय) का भौतिक पदार्थ (उद्देश्य) के साथ योग पूर्वानुभविक है।

"I go outside and beyond the concept of matter joining to it *a priori* in thought something (permanence) which I have not thought *in* it The proposition is not, therefore, analytic, but synthetic, and yet is thought *a priori......*")[2]

अब यदि स्थायित्व की भावना 'भौतिक पदार्थ' मे अन्तर्निहित नही हो तो हम कैसे कह सकते हैं कि भौतिक पदार्थ अवश्य ही परिमाण के दृष्टिकोण से स्थायी रहते हैं? काण्ट को चाहिए था कि वे इस बात पर प्रकाश डालते। परन्तु जो कुछ आगे चलकर उन्होने कारण-कार्य के सम्बन्ध मे कहा है, उससे स्पष्ट होता है कि काण्ट पूर्वानुभविक अनिवार्यता और विश्लेषात्मक अनिवार्यता मे अन्तर समझते थे। भौतिकीय प्रकथनो की अनिवार्यता को वे पूर्वानुभविक अनिवार्यता समझते थे। परन्तु इसे यहाँ इस प्रसग मे उन्होने अनिश्चित रूप मे रख छोडा है।

अब हम पूर्वानुभविक सश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियो की सम्भावना मानें या न मानें, परन्तु काण्ट के लिए गणित और सभी तथ्यात्मक विज्ञानो मे ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ पायी जाती हैं और इसीलिए उनकी समस्या थी कि कैसे पूर्वानुभविक सश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति की सम्भावना सिद्ध हो सकती है। इसी समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने वर्षों के परिश्रम और चिन्तन करने के बाद 'Critique of Pure

---

1. The possibility of the synthesis of the predicate 'weight, with the concept of 'body' thus rests upon experience".—N. K. Smith' Ibid—P 31

2. वही पृष्ठ ३४

Reason' नामक पुस्तक लिखी है और हम इसी पुस्तक के विषय को अब स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।

§ ६. शुद्ध बुद्धि-समीक्षा का प्रारूप

काण्ट की मुख्य रचनाएँ critique of Pure Reason (शुद्ध बुद्धि की समीक्षा), Critique of Practical Reason (कृति-बुद्धि की समीक्षा), Critique of Judgment (भाव-बुद्धि की समीक्षा) के नाम से विख्यात हैं। 'Critique of Pure Reason' अन्य पुस्तको से अधिक प्रमुख स्थान रखती है, पर अन्य दो पुस्तको की भी अवहेलना नही करनी चाहिए। 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' नामक पुस्तक मे काण्ट ने दिखलाया है कि प्रातिभासिक ज्ञान ही सम्भव है और परम पदार्थों का ज्ञान सम्भव नही है। कृति-बुद्धि-विषयक रचना नैतिक विचारो से सम्बन्ध रखती है। इस रचना मे काण्ट ने नैतिकता (Morality) के प्रागनुभविक अगो को स्पष्ट किया है। शुद्ध और कृति-बुद्धि की समीक्षाओ मे मुख्य अन्तर विषय ही का नही है, वरन् निष्कर्षों के फलस्वरूप का भी है। 'Pure Reason' मे काण्ट ने दिखलाया है कि प्रातिभासिक ज्ञान निश्चित एवं सर्वमान्य हैं, पर इसमे सवेद्य (Sensible) उपादान और सयोजन करनेवाले प्रागनुभविक मानसिक रूपो (Forms) के साथ मेल होना आवश्यक है। पर 'Practical Reason' की समीक्षा मे काण्ट ने दिखलाया है कि कर्त्तव्य (duty) प्रागनुभविक रूपो से ही नियन्त्रित होता है। *'Critique of Judgment'* मे काण्ट ने दो विशेष बातो पर ध्यान दिया है। Pure Reason की समीक्षा मे काण्ट ने माना है कि वैज्ञानिक नियम यान्त्रिकीय ही स्वीकार किये जा सकते है। परन्तु 'Critique of Judgment' मे उनका ध्यान जीवो की उद्देश्यात्मक (Teleological) क्रियाओ पर पडता है और काण्ट उद्देश्यात्मक नियमो की सम्भावना भाँपते हैं। यदि वे इस पर अधिक ध्यान देते तो उन्हें अपनी पूरी देन को सशोधित करना पडता। फिर 'Critique of Judgment' मे काण्ट बताते हैं कि अपार्थिव महान् हमारी अनुभूति मे व्यजित हो पडता है, जिससे पारमार्थिक सत्ता का आभास मिलता है। अत, पारमार्थिक सत्ता अज्ञेय होते हुए भी भ्रम नही है; क्योकि यह हमे अपनी उद्देश्य-पूर्त्ति के लिए आलोडित करती है। अत, Critique of Pure Reason का अज्ञेयवाद Practical Reason की समीक्षा मे सशोधित हो जाता है क्योकि इसमे दिखलाया जाता है कि ईश्वर, आत्मा, और विश्व अज्ञेय होते हुए भी विश्वास के योग्य विषय हैं। फिर 'Critique of Judgment' मे पारमार्थिक सत्ता को अकाल्पनिक मानकर अनुभूति मे इसके व्यजित आभास को स्वीकार किया जाता है। अत., Practical Reason और Critique of Judgment के आधार पर अनुकाण्टीय अबौद्धिकवा (Anti-intellectualism) का पूरा मसाला देखने मे आता है।

परन्तु काण्ट के दर्शन मे 'Critique of Pure Reason' का विशेष स्थान है। इसकी ही यहाँ विशेष व्याख्या की जायगी। पहले ही कहा जा चुका है कि काण्ट अपनी समस्याओ को छोटे छोटे टुकडो मे बाँट देते हैं और प्रत्येक टुकड़े का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं। यदि हम समस्याओ के विश्लिष्ट अगो के विस्तार पर अधिक ध्यान दें, तो हो सकता है कि काण्ट की मौलिक देन हमारी पकड से छूट जाय। इसलिए हम मुख्य-मुख्य अगो पर ही ध्यान देंगे।

सभी विषयो से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान की प्राप्ति की शक्ति को सामान्य रीति से काण्ट ने शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) कहा है। इस Pure Reason को उन्होंने Sense, understanding और reason—इन तीन भागो मे बाँटा है। Sense अर्थात् सवेदन-शक्ति (Faculty of intuition) निष्क्रिय कही गयी है। इसके आधार पर सवेदन-राशि (Manifold of sensations) को ग्रहण किया जाता है। परन्तु जैसे ही सवेदना होने लगती है, हमारी मानसिक शक्ति भी सक्रिय होकर सवेदनाओ को सवेद्यता के रूप (Forms) मे ढालने लगती है। जिस रूप मे सवेदना छनकर आती है, उसे काण्ट ने देश और काल का रूप कहा। सवेदनग्राहिता के देश और काल के प्रागनुभविक रूपो से ढलकर हमे Percepts या वस्तु मिलती है। परन्तु अलग-अलग वस्तुओ के रहने से ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता है। Percepts विशिष्ट होते हैं और percepts को निर्णय के रूप मे लाकर सामान्य ज्ञान बनाया जाता है। जैसे, हम कहते हैं कि 'यह किताब लाल है'। यहाँ हमने किसी पुस्तक को 'लाल' गुण से विभूषित किया है। परन्तु 'लाल' इस पुस्तक को छोडकर अन्य पुस्तको या वस्तुओ मे भी लागू होता है। अतः, इस पुस्तक को 'लाल' कहकर हमने इसे अन्य सभी वस्तुओ से (जहाँ तक उनका सम्बन्ध 'लाल' से है) सम्बद्ध कर दिया है। अत, निर्णय (Judgment) मे हम अलग-अलग वस्तुओ को व्यवस्थित कर सामान्य ज्ञान के रूप मे लाते है। निर्णय बनाने की शक्ति को काण्ट ने समझ या Understanding कहा है। जिस तरह से सवेदन-शक्ति मे देश और काल दो रूप हैं, जिनमे ढलकर वे आती है, उसी प्रकार Understanding की १२ मौलिक धारणाएँ (Categories) हैं, जिनके द्वारा Percepts निर्णय मे सम्बद्ध किये जाते है। दूसरे शब्दो मे हम कहते हैं कि सवेदनाएँ क्षणभगुर, अनित्य तथा नश्वर हैं। पर सत्य ज्ञान वह है, जो अभी भी सत्य है और बाद मे भी सत्य होगा। मेरे लिए भी सत्य है और अन्य व्यक्तियो के

लिए भी सत्य । इसलिए ज्ञान क्षणभगुर न होकर स्थायी और सामान्य होना चाहिए । इसलिए काण्ट का कहना है कि बिना मानसिक प्रागनुभविक रूपो के सवेदनाएँ क्षणिक और अनित्य हुआ करती हैं । इसलिए इन्हें ज्ञान मे परिणत करने के लिए रूपान्तरित किया जाता है । सर्वप्रथम, मानव के लिए सवेदनाएँ अपने निजी रूप मे सम्भव नही हो सकती हैं । मानव यदि अति निष्क्रिय भी रहे तोभी उन्हें वह बिना देश और काल के रूप मे बदले हुए ग्रहण ही नही कर सकता है । पर देश और काल के रूप मे व्यवस्थित होकर सवेदनाएँ, वस्तु-प्रत्यक्ष (Percepts) बनती हैं, जैसे अनेक सवेदनाओ के योगफल को हम टेबुल, गाय इत्यादि कहते हैं। पर गाय, टेबुल इत्यादि कहते हैं । पर गाय, टेबुल इत्यादि पदो के कहने मे ज्ञान नही होता है । इन्हें वाक्य के रूप मे हमे लाना चाहिए, जैसे टेबुल काली है या गाय सफेद है । इन निर्णयो मे सवेदनाएँ स्थायी और सम्बद्ध हो गयी हैं । फिर यदि हम निर्णयो पर ध्यान दें तो इनमे कई प्रकार के सामान्य प्रत्यय हैं । जैसे, 'काली', 'सफेद' गुण हैं, जो किसी-न-किसी द्रव्य मे रहते हैं । अत , 'टेबुल काली है', यह द्रव्य-गुण (Substance-attribute) के मूल प्रत्यय के अन्दर आता है । उसी प्रकार से 'सूर्य से बर्फ पिघलती है' दूसरा निर्णय है और इसमे कारण-कार्य की कोटि देखने मे आती है । इसी प्रकार से यदि हम सभी सम्भव निर्णयो पर ध्यान दें तो काण्ट के अनुसार १२ मूल प्रत्यय (Concepts) या मूल-धारणाएँ (Categories) पायी जाती हैं । अत , हम कह सकते हैं कि निर्णय के निर्माण की शक्ति Understanding है और १२ concepts के आधार पर Understanding (समझ), percepts को सामान्य तथा स्थायी ज्ञान से सम्बद्ध कर लेती है । फिर सवेदना, हमारे निष्क्रिय रहने पर भी शायद सभव हो सकती है, परन्तु निर्णय बनाने मे 'समझ' को सक्रिय होना पडता है । जब हम कहते हैं कि टेबुल काली है, तो कालेपन को हमने अनेक वस्तुओ मे देखा होगा और इस गुण को अन्य गुणो से पृथक् कर ही हमने कालेपन का प्रत्यय बनाया होगा । अत', निर्णय करने मे प्रत्यय बनाना पडता है और प्रत्यय बनाने मे अनेक गुणो पर ध्यान देना पडता है । तब किसी एक ही गुण को अन्य सभी गुणो से पृथक् करना पडता है, इत्यादि । अत , निर्णय-शक्ति मे सक्रियता देखने मे आती है । इसलिए काण्ट के अनुसार 'समझ' सक्रिय शक्ति है और सवेदनशीलता निष्क्रिय शक्ति है ।

मानसिक रूपो का यही काम है कि वे क्षणिक सवेदनाओ को सम्बद्ध कर स्थायी बना दें । Understanding तक सवेदनाओ का रूपीकरण प्रातिभासिक ज्ञान के

निर्माण के लिए पर्याप्त समझा जाता है। पर हमारी रूपीकरण की अन्य शक्तियाँ इतनी सीमित सम्बद्धता तथा स्थायित्व से सन्तुष्ट नही रहती हैं। मन मे आदर्श सम्बद्धता और स्थायित्व की प्रवृत्ति बनी रहती है और इस आदर्श सम्बद्धता को प्राप्त करने का काम Reason[1] (प्रज्ञा) का है। प्रज्ञा मे तीन अति मूल प्रत्यय हैं, जिनके आधार पर हम आदर्श ज्ञान की स्थापना करना चाहते है। ईश्वर, आत्मा और विश्व के तीन ideas के आधार पर हम आदर्श ज्ञान की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु इस ज्ञान के आदर्श को आदर्श ही समझना चाहिए, जिसे हम कभी भी प्राप्त नही कर सकते हैं। यदि हम समझें कि हमने अमर आत्मा, ईश्वर तथा विश्व की पूर्ण सत्ता को समझ लिया है तो इसे Transcendental भ्रम ही समझना चाहिए। इसका क्या कारण है ? इसका विशेष कारण है कि बिना आनुभविक (Empirical) अगो के वास्तविक पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। समझ प्रत्ययके (Concepts) प्रत्यक्षों मे लागू होते हैं, पर Ideas of reason प्रत्यक्षो से सम्बन्ध ही नही रखते हैं। उदाहरणार्थ, substance-attribute (द्रव्य-गुण) की मूलधारणा Percepts मे लागू होती है, क्योकि प्रत्यक्षो पर आधारित गुणो को हम प्रत्यय के रूप मे काम मे लाते हैं। जब हम कहते हैं कि किताब लाल है, तो इस 'लाल' प्रत्यय को हमने किसी-न-किसी प्रत्यक्ष से ही प्राप्त किया है। उसी तरह से जब हम कहते हैं कि सूर्य से बर्फ पिघलती है तो हमने कभी-न-कभी इस प्रकार का अनुभव अवश्य किया होगा। अत, द्रव्य-गुण तथा कार्य-कारण के सामान्य प्रत्यय (Concepts) प्रागनुभविक हैं, पर Percepts मे ये लागू होते हैं और इसीसे इनके आधार पर वास्तविक पदार्थों का ज्ञान सम्भव हो सकता है। पर ईश्वर, आत्मा तथा विश्व की परम सत्ता अनुभवातीत है और यहाँ यदि हम कार्य-कारण, द्रव्य-गुण के categories को काम मे लायें तो इनसे ज्ञान सम्भव नहीं होगा। ये खाली-के-खाली साँचे ही रह जाते है और बिना Matter (उपादान या सामग्री) के केवल साँचो से कुछ भी नही बन सकता है। अत, Ideas of reason से हमे ज्ञान का आदर्श अवश्य मिलता है, पर यह आदर्श ही के रूप मे पाया जाता है। चूंकि ईश्वर, अमर आत्मा तथा विश्व का परम तत्त्व तत्त्व-मीमासा (Metaphysics का मुख्य विषय है, इसलिए काण्ट ने दिखाया है कि तत्त्व-मीमासा का ज्ञान सम्भव नहीं है। अत, विज्ञान सम्भव है, पर अति-विज्ञान (तत्त्व-मीमासा) सम्भव नही है।

चूंकि काण्ट ने Pure Reason को sense, understanding और reason के तीन भागो मे बाँटा है, इसलिए इस विभाजन के अनुसार *Critique of Pure Reason* के मुख्य भागो को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

1 यहाँ 'Reason' शब्द अति सकुचित अर्थ में लिया गया है। यह शक्ति संवेदन और समझ के बाद की है और इसके रूपों को काण्ट ने *Ideas* के नाम से पुकारा है।

काण्ट का दर्शन

- Critique of Pure Reasons
  - Transcendental Aesthetic मे काण्ट ने दिखाया है कि सवेदना-ग्राहिता की शर्त्त ही यह है कि यह देश और काल के साँचे मे ढलकर हमारी चेतना मे आये। फिर सामान्य रीति से इसमे काण्ट ने दिखाया है कि गणित-शास्त्रीय ज्ञान की सम्भावना इसी शर्त्त पर सिद्ध होती है कि देश, काल सवेदनग्राहिता के रूप प्रागनुभविक माने जायँ।
  - Transcendental Logic
    - Transcendental Analytic मे काण्ट ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि भौतिकी सम्भव है। इसे दिखाने के लिए काण्ट ने understanding के १२ categories को खोज निकालने और उन्हें सिद्ध करने की कोशिश की है।
    - Transcendental dialectic मे काण्ट ने दिखाया है कि Reason तीन प्रत्ययो के आधार पर आदर्श ज्ञान की स्थापना करना चाहता है, पर इस ज्ञान को परम पदार्थ का वास्तविक ज्ञान (अर्थात् वैज्ञानिक) मान लेने से Transcendental भ्रम हो जाता है।
- Critique of Practical Reason
- Critique of Judgment

§ ६ सवेदन-शक्ति (Aesthetics) के प्रागनुभविक रूपो की विवेचना

अनुभववादियो के अनुसार ज्ञान के सभी अग सवेदनाओ से प्रारम्भ होते हैं और सवेदनाओ मे समाप्त भी हो जाते हैं। इसलिए ज्ञान-निर्माण मे सवेदनाएँ ही आदि-अन्त, अलफा और ओमेगा हैं। फिर उनके अनुसार सभी सवेदनायें एक-दूसरे से पृथक हैं। काण्ट का कहना है कि सवेदनाओ के होते ही मन सक्रिय होकर प्रागनुभविक रूपो के द्वारा उन्हें रूपान्तरित करता है। काण्ट की उक्ति है कि यदि मन अपने प्रागनुभविक रूपो से सवेदनाओ को सम्बद्ध न करे तो उन पृथक् सवेदनाओ से अपने से ही सम्बद्धता आ ही नही सकती है। ह्यूम के कथनानुसार सहचार नियम के आधार पर सवेदनाएँ अपने-आप सम्बद्ध हो जाती है। परन्तु अपने-आप पृथक्-पृथक् सवेदनाएँ कैसे सम्बद्ध हो सकती हैं? यदि किसी बन्दर को टाइप-राइटर पर

छापने दिया जाय तो वर्षों तक उसके छापते रहने पर भी कोई कविता या कहानी अपने-आप छप नही सकती है। परन्तु मानव, अक्षरो को अपनी समझ के द्वारा व्यवस्थित कर शब्द, वाक्य तथा कहानी रच सकता है। ठीक इसी प्रकार से, मन अपने प्रागनुभविक रूपो के द्वारा सवेदनाओ को व्यवस्थित कर ज्ञान की रचना करता है।

यदि हम मान लें कि सवेदनाओ को मन व्यवस्थित करता है, तो हमे जानना चाहिए कि मन के वे क्या सार्वभौम रूप है, जिनके अनुसार मन क्रमिक रीति से सवेदनाओ को व्यवस्थित करता है। सामान्य रीति से मन सवेदनाओ को ग्रहण करने मे ही उन्हें अपने रूपो मे ढाल देता है और तब फिर उन्हें understanding के categories मे बदलकर वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करता है। अत, हमे जानना चाहिए कि संवेदना-ग्राहिता के कौन साँचे हैं, जिनमे ढलकर सवेदनाएँ आती हैं। काण्ट के अनुसार देश और काल दो सवेदन-ग्राहिता के रूप हैं, जिनसे छनकर सवेदन-रश्मियाँ हमारे मन-कूप मे आती हैं। अत, काण्ट देश-काल के सम्बन्ध मे दो प्रकार की व्याख्या करते है—अर्थात् तत्त्व-मीमासात्मक (Metaphysical) और Transcendental तत्त्व-मीमासात्मक। व्याख्या मे काण्ट दिखलाते है कि (१) देश और काल का सम्बन्ध हमारी सवेदन-शक्ति (Perception faculty) से है, न कि Understanding से हैं। समझ सामान्य प्रत्यय की रचना करने की शक्ति है। (२) यद्यपि देश और काल percepts तथापि ये प्रागनुभविक प्रत्यक्ष हैं, न कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष। (३) फिर देश और काल को छोडकर सवेदन-शक्ति का कोई तीसरा प्रागनुभविक रूप नही है। Transcendental व्याख्या में काण्ट दिखाते है कि जबतक हम गणित-शास्त्र को सवेदन-शक्ति के देश और काल की प्रागनुभविकता पर आधारित न करें तबतक हम इसकी सर्वव्यापकता और अनिवार्यता को स्पष्ट नही कर सकते हैं।

§ ८ देश और काल की तत्त्व-मीमांसात्मक व्याख्या

तत्त्व-मीमासात्मक व्याख्या का मुख्य उद्देश्य है कि यह दिखा दे कि देश और काल सवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप हैं। साथ-ही-साथ काण्ट इसमे यह भी सिद्ध करना चाहते है कि देश और काल Concepts नही, बल्कि Percepts हैं। देश और काल की प्रागनुभविकता सिद्ध करने के लिए काण्ट निम्नलिखित दो प्रमाण देते हैं :

(१) लाइबनित्स के अनुसार देश और काल की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही है, परन्तु वे मोनडो के बीच के सम्बन्ध के आधार पर अवास्तविक रचनाएँ हैं। हम देखते है कि वस्तुएँ नीचे-ऊपर, दूर-नजदीक, दाहिने-बायें इत्यादि है और हम इन्ही सम्बन्धो के आधार पर देश की कल्पना करते है। उसी तरह से घटनाओ के बीच पूर्वापर (Succession) सम्बन्धो के आधार पर हम काल की भावना

बनाते है। परन्तु काण्ट, इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि लाइबनित्स के मत के अनुसार पहले देश या काल की भावना नही होती है, पर हम 'ऊपर-नीचे', 'बगल मे' इत्यादि के सम्बन्ध को देखकर देश-प्रत्यय की रचना करते है। परन्तु प्रश्न उठता है कि ऊपर-नीचे, बगल मे, दूर-नजदीक इत्यादि ऐसे गुण हैं, जो उन व्यक्तियो की समझ मे आ ही नही सकते हैं, जिन्हें देश-ज्ञान नही है। इसलिए यदि हम मान लें कि बिना देश-ज्ञान के ऊपर-नीचे, बगल मे इत्यादि का ज्ञान हो सकता है तो यह हमारी भूल है। अत', ऊपर-नीचे, दूर-नजदीक के सम्बन्ध मे देश-ज्ञान नही होता है, परन्तु देश-ज्ञान मानव-मन मे प्रारम्भ से ही होता है, जिसके आधार पर हम दूर-नजदीक, ऊपर-नीचे सम्बन्ध को समझ सकते है। चूंकि लाइबनित्स मानते है कि प्रारम्भ से ही दूर-नजदीक इत्यादि का ज्ञान होता है, इसलिए हमे स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमे देश और काल का ज्ञान प्रारम्भ से ही होता है। अत, देश और काल, दूर-नजदीक, दाहिने-बायें इत्यादि किसी अनुभव पर आश्रित नही है, पर सभी अनुभव के पूर्व ही ये है, जिनके अनुसार हम सब सवेदनाओ को ग्रहण करते है।

(२) फिर यदि देश और काल सवेदित अनुभव से प्राप्त होते तो हम उन्हें उसी प्रकार से कल्पना के आधार पर त्याग सकते हैं जिस प्रकार से वे हममे उत्पन्न होते हैं। परन्तु यदि हम सभी वस्तुओ के अभाव की कल्पना कर भी लें तो हम देश और काल के अभाव की कल्पना नही कर सकते है। अतः, इससे स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्ट वस्तुओ को तो हम अनुभव से अवश्य प्राप्त करते हैं, परन्तु देश और काल को अनुभव से प्राप्त नही कर पाते है, क्योकि यदि ये अनुभव से प्राप्त होते तो अनुभव से प्राप्त की गई सभी वस्तुओ के समान हम इनके भी अभाव की कल्पना कर सकते थे। परन्तु किसी भी वस्तु को हम बिना उसे दैशिक अथवा कालिक माने हुए नही जान सकते हैं। फिर चूंकि देश और काल की हम बिना वस्तुओ के कल्पना कर सकते हैं, पर किसी भी वस्तु को हम बिना देश और काल के रूप मे किये हुए कल्पना नही कर सकते हैं। इसलिए हम देश और काल को सभी प्रत्यक्ष वस्तुओ का प्रागनुभविक रूप समझ सकते हैं।

पुन, देश और काल को शुद्ध प्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिए काण्ट ने दो प्रमाण दिये हैं

(१) प्रत्यक्ष का सम्बन्ध किसी एक वस्तुविशेष से रहता है, पर प्रत्यय (Concept) का सम्बन्ध अनेक वस्तुविशेषो (Particulars) से रहता है। उदाहरणार्थ, मेरी मेज पर रखी लाल विशिष्ट पुस्तक हमारे प्रत्यक्ष मे है। परन्तु पुस्तक-प्रत्यय वह है, जो अनेक पुस्तको मे लागू होता है। यदि देश या काल प्रत्यय होता, तो यह भी अनेक दिक् एव काल के उदाहरण-विशेषो के सामान्य गुणो पर आधृत रहता। प्राय एक मील, एक इ च इत्यादि को देश का उदाहरण कहा जाता है। परन्तु वास्तव मे ये देश के उदाहरण नही हैं, पर देश के ही भाग या खण्ड हैं। उसी प्रकार से काल

एक ही है और क्षण, घण्टा या युग उसके उदाहरण नही, पर एक ही काल के भिन्न-भिन्न खण्ड हैं। अत, चूंकि देश या काल एक ही विशिष्ट वस्तु है, इसलिए यह Percepts (प्रत्यक्ष) है, न कि प्रत्यय (Concept)।

(२) दूसरा प्रमाण पहले से बहुत-कुछ मिलता है। काण्ट के अनुसार देश या काल 'infinite *given* magnitude' है, अर्थात् जो भी देश का काल या खण्ड दिखाया जाय, यह उसका सीमित खण्ड समझा जाता है, क्योकि देश या काल अपरिमित रीति से व्यापता है। करोड़ मील की भी हम कल्पना करें तोभी हम जानते हैं कि देश इससे भी अधिक व्यापक है। उसी प्रकार से लाखो वर्ष के पहले या बाद की हम कल्पना करें तोभी हम जानते है कि काल इससे अधिक व्यापक है। अत, देश या काल के अन्तर्भावित ही देश या काल के उदाहरण सोचे जा सकते हैं। परन्तु यदि देश Concept होता है, तो यह अपने सभी उदाहरणो मे लागू होता है, पर यह इन सबके योग से निर्मित नही होता। उदाहरणार्थ घोडे का प्रत्यय अनेक घोडो मे लागू होता है, पर अनेक घोडो को जोडकर एक विशाल घोडे की प्रतिमा को प्रत्यय नही कहा जाता है। यहाँ एक प्रत्यय अनेक उदाहरणो मे इसलिए लागू होता है कि घोडे का प्रत्यय अनेक घोडो का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु देश का कोई खड देश का प्रतिनिधित्व न करके स्वय उसका एक अश होता है। Particulars are mere *instances* coming *under a concept*, but space is *constituted* by a number of representations or instances coming *within* it; अर्थात् अनेक उदाहरणो के आधार से प्रत्यय का अर्थ स्पष्ट होता है, पर देश के अनेक उदाहरणो से स्वय देश का निर्माण होता है। अत, देश या काल अपरिमित प्रत्यक्ष हैं, न कि ये देश या काल के असख्य उदाहरणो मे प्राप्त अमूर्त्तबोधित प्रत्यय हैं।

अत, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि देश और काल सवेदन-ग्राहिता के प्रागनुभविक रूप है। सभी बाह्य सवेदनाएँ देश के रूप मे ही पायी जा सकती हैं और काल के रूप सभी सवेदनाओ मे देखे जाते है, क्योकि बाह्य वस्तु की सवेदना मानसिक प्रकिया ही होती है और मानसिक प्रक्रियाएँ पूर्वापर (Successive) होने के कारण 'काल' के रूप के अन्तर्गत आती है।

§ ६ देश और काल की Transcendental व्याख्या

अनुभवातीत व्याख्या वह है, जिसमे किसी एक प्रत्यय की ऐसी व्याख्या की जाय कि उससे ऐसा सिद्धान्त निकले, जिसके द्वारा ज्ञान मे अन्तर्निहित अन्य प्रागनुभविक सश्लेषात्मक अभिकथनो की सभावना स्पष्ट की जा सके। अत, दिक् और काल की अनुभवातीत व्याख्या वह है, जिसके द्वारा गणितशास्त्र के सर्वव्यापक एव अनिवार्य अभिकथनो की व्याख्या हो सके।

Transcendental का अर्थ है कि वस्तुओ के प्रत्यक्ष करने के लिए पूर्वानु-

भविक रूपो का अध्ययन किया जाय। अत, देश और काल की Transcendental व्याख्या मे समझा जा सकता है कि समस्त वस्तुओ की नही, पर उनके प्रत्यक्ष करने की प्रागनुभविक विधियो को स्पष्ट किया जाय। सर्वप्रथम, हम जानते है कि गणितशास्त्र का सम्बन्ध देश और काल मे है, और यह भी जानते है कि गणितशास्त्र मे सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान पाया जाता है, जिसे हम केवल analytic ही नही समझ सकते हैं, अर्थात् गणितशास्त्र मे Synthetic Judgment a priori पाया जाता है। अत, देश और काल की ऐसी Transcendental व्याख्या करनी चाहिए कि उसके आधार पर गणित-शास्त्र के Synthetic judgment *a priori* की व्याख्या हो जाय।

पूर्वकाण्टीय आधुनिक दर्शन मे देकार्त, स्पिनोजा, लॉक आदि ने गणितशास्त्र मे सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान स्वीकार किया था। यहाँ तक कि ह्यूम ने सभी प्रकार के ज्ञान को सम्भाव्य (Probable) दिखलाकर सिद्ध किया था कि गणित मे सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान सभव है। परन्तु ह्यूम ने यह भी माना था कि गणितशास्त्रीय युक्तियाँ इसलिए अनिवार्य होती हैं कि उनका सम्बन्ध वास्तविकता से नहीं रहता है, अर्थात् गणित मे clear, distinct और abstract ideas ही पाये जाते हैं। पर यदि हम ह्यूम के समाधान को मान लें तो इसके अनुसार गाणितिक युक्तियाँ केवल analytic ही सिद्ध मानी जायेंगी। पर काण्ट ने पहले ही दिखाया है कि गणित मे *synthetic* judgment *a priori* पाये जाते हैं, इसलिए यहाँ ह्यूम के समाधान की चर्चा नही की जायगी।

हमलोग पहले ही देश और काल के प्रति लाइबनित्स के सिद्धान्त को दोषपूर्ण दिखला चुके हैं। लाइबनित्स के प्रतिपक्ष मे न्यूटन का सिद्धान्त था, जिसके अनुसार देश और काल की अपनी स्वतन्त्र और, वास्तविक सत्ता है। न्यूटन के प्रशसक होते हुए भी काण्ट ने न्यूटन के सिद्धान्त को सही नही माना है। यदि देश और काल की स्वतन्त्र, वास्तविक सत्ता होती, जो विषयी से बाहर हो, तो हम उन्हें केवल अनुभूतिही के आधार पर जान सकते। पर जो भी बात हम अनुभूति के द्वारा जानेंगे वह सार्वभौम तथा अनिवार्य नही हो सकती है। अत, देश और काल की स्वतन्त्र, वास्तविक सत्ता मान लेने से गणितशास्त्र के Synthetic judgment *a priori* की व्याख्या नही हो पाती है।

देश और काल के उपर्युक्त सिद्धान्तो के खडन से काण्ट के मत का रास्ता साफ हो जाता है। काण्ट के अनुसार देश और काल न तो वास्तविक पदार्थ हैं*, न वस्तुओ के गुण है†, और न ये केवल प्रत्यय-मात्र है‡। देश और काल सभी सवेदनाओ को ग्रहण करने के प्रागनुभविक रूप हैं अर्थात् सभी प्रत्ययों को प्रत्यक्ष करने

---

* यह न्यूटन का मत था कि देश और काल वास्तविक द्रव्य पदार्थ है।

† यह लाइबनित्स का मत था।

†† यह ह्यूम और सामयिक तार्किक अनुभववादियों का मत है।

के लिए देश और काल अनिवार्य आधार है। यह देश एवं काल का आधार ज्ञाता के अन्दर है, न कि द्रव्य या गुण मे। विषयनिष्ठ हैं, विषयनिष्ठ नही हैं। मान लिया जाय कि किसी व्यक्ति को बिना ऐनक के कुछ भी दिखाई न दे और ऐनक के दोनो ग्लास रँगे हुए हो। तो ऐसी हालत मे जो कुछ भी दिखाई देगा वह ऐनक के रगो से रंगा हुआ दिखेगा और बिना ऐनक तथा उसके रग से रँगे हुए कुछ भी नही दिखाई देगा। अत, देश और काल हमारे मन मे हैं ताकि इनके रगो से रँगकर हम सवेदनाओ को ग्रहण करें। इसलिए हम देश और काल मे नहीं हैं, वरन् देश और काल हमारे अन्दर है। यदि हम देश और काल को सवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप मान लें तो इसने गणितशास्त्र के synthetic judgment a priori की व्याख्या हो जायगी।

चूंकि देश और काल सभी मानव के अनिवार्य रूप हैं जिनके द्वारा सभी सवेदनाएँ ग्रहण की जा सकती हैं, इसलिए इनके द्वारा जो ज्ञान होगा वह सर्वव्यापक होगा। फिर चूंकि ये रूप सवेदनाओ के ग्रहण करने मे परिहार्य नही है, पर मन की अपनी आवश्यक शर्तें हैं, जिनके द्वारा सवेदनाएँ ग्रहण की जाती है, इसलिए इन पर आधारित ज्ञान भी अनिवार्य होगा।* फिर गणितशास्त्र का ज्ञान analytic नही है, इसलिए इसे प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए। परन्तु इस प्रत्यक्ष को इन्द्रियाश्रित न रहना चाहिए, क्योकि किसी भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान सभव नही हो सकता है। अत., देश और काल के प्रत्यक्ष को प्रागनुभविक तथा शुद्ध कहा जा सकता है, क्योकि न तो यह प्रत्यक्ष इन्द्रियाश्रित है और न इसे प्रत्यक्ष करने के लिए किसी विशिष्ट वस्तु की आवश्यकता होती है। फिर भी देश और काल को शुद्ध प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, क्योकि किसी भी प्रत्यक्ष की सभावना के लिए देश और काल के प्रागनुभविक रूपों को काम मे लाना ही पडता है। अब यदि देश और काल शुद्ध प्रत्यक्ष हो तो इनके आधार पर *synthetic* judgment a priori सिद्ध माने जायेंगे।

चूंकि देश और काल सवेदनाओ को ग्रहण करने के अनिवार्य रूप है, इसलिए इन्हें पारमार्थिक सत्ता नही समझना चाहिए। ऐसा सभव है कि देवता लोग या मानवेतर विवेकशील प्राणियो के लिए सवेदनग्राहिता के ये रूप अनिवार्य न हो। फिर वस्तुएँ हमे लम्बी, चौड़ी, छोटी-बडी इत्यादि अवश्य दिखेंगी। परन्तु वस्तुयें इसलिए हमे ऐसी दीखती हैं कि हम उन्हें देश के अनिवार्य साँचे मे ढालकर ग्रहण करते हैं। वस्तुओ का वास्तव मे अपना शुद्ध रूप क्या है, यह हम नही जान सकते हैं, क्योकि जब ही हम वस्तुओ का प्रत्यक्ष करते हैं तभी हम उन्हें देश के रूप मे ढालकर ही ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए वस्तुओ के अपने शुद्ध स्वरूप को न जान सकने के

* यहाँ 'अनिवार्यता' से तात्पर्य है वह, जो मानव मन के स्वरूप से ही सिद्ध हो। अत, यह अनिवार्यता मनोवैज्ञानिक कही जायगी, न कि तर्कनिष्ठ।

कारण हमारा ज्ञान प्रातिभासिक ही हो सकता और पारमार्थिक नही हो सकता है।

फिर देश और काल, चूंकि सवेदनाओ के ग्रहण करने के प्रागनुभविक रूप हैं, इसलिए इन्हें विषयीगत कहा जा सकता है। पर इसकी आत्मनिष्ठता या विषयीगतता (Subjectivity) ऐसी है कि यह समरूप से सभी ज्ञाताओ मे पायी जाती है। इसलिए वही स्वप्न जो सभी अनिवार्य रूप से देखते है, स्वप्न नही, पर वास्तविकता है*। अत., देश और काल अतिवैयक्तिक तथा सर्वव्यापक रीति से विषयीगत रहने पर भी वास्तव मे विषयगत (Objective) प्रतीत होते है। काण्ट और अनुकाण्टीय प्रत्ययवाद के अनुसार वही विषयगत है जो सभी ज्ञाताओ के लिए समरूप तथा सार्वभौम हो। यही कारण है कि देश और काल के सम्बन्ध मे काण्ट ने कहा है कि यद्यपि ये Transcendentally विषयीगत ही हैं† तो भी ये व्यावहारिक रूप से सत्य हैं। देश और काल परम पदार्थों के गुण नही हैं और न इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। इसलिए काण्ट के लिए प्रत्यक्ष प्राप्त करने के ऐनक के ये दो अनिवार्य शीशे हैं और इसलिए ये विषयीगत हैं। पर ये ऐसे शीशे के रग है, जो सभी ज्ञाताओ को एक समान दीखेगा और इसलिये व्यावहारिक दृष्टिकोण से सभी को सभी प्रत्यक्ष देश और काल मे दीखेंगे। अत, व्यावहारिक जीवन मे हमे ये वस्तुनिष्ठ प्रतीत होते हैं।

अत, देश और काल की Transcendental व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि देश और काल को सवेदनग्राहिता के प्रागनुभविक रूप मान लेने से गणितशास्त्र के Synthetic judgment a priori की व्याख्या हो जाती है, अर्थात् गाणितीय निर्णयो की सर्वव्यापकता एव अनिवार्यता की व्याख्या हो जाती है।

आलोचना · काण्ट ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि यदि हम देश और काल को a priori forms of perception प्रमाणित कर दें, तो हम सिद्ध कर पायेंगे कि Synthetic judgment a priori गणितशास्त्र मे कैसे सभव हो सकते हैं। परन्तु जिस उदाहरण से काण्ट ने यह दिखाने की कोशिश की है कि गणितशास्त्र मे synthetic judgment a priori है, वही स्पष्ट नही है। काण्ट का उदाहरण है कि ७ और ५ मिलकर १२ होते हैं। परन्तु यदि हम ७ और ५ का अर्थ समझें और उनके मिलाने या जोडने को जानें तो १२ अवश्य ही होगा। अत, ७ और ५ मिलकर १२ होते हैं, वास्तव मे analytic वाक्य है। काण्ट ने मनगढन्त रीति से बताया है कि ७ और ५=१२ मे हम जोडने की प्रक्रिया को विधेय बनाते हैं, न कि इसके योगफल को। इसलिए Transcendental Aesthetic की समस्या ही स्पष्ट नही है, तो इसका समाधान ही कहाँ तक सतोषजनक समझा जा सकता है?

---

* A dream which all men dream and must for ever dream is not a dream but a reality

† "Space and Time are *empirically* real, but transcendentally ideal, N K Smith, Ibid—P 47

फिर काण्ट ने कहा है कि देश और काल a priori percepts हैं। पर यदि देश और काल इन्द्रियातीत हो तो उन्हें जाना कैसे जाता है ? यदि हमारी बुद्धि उन्हें जानती है तो वे प्रत्यक्ष नही, वरन् प्रत्यय हैं। प्रागनुभविक प्रत्यक्ष कहकर काण्ट ने 'देश और काल' का कोई स्पष्टीकरण नही किया है। आगे चलकर हम पाते हैं कि शामुएल अलेक्जैण्डर ने देश-काल को सहज प्रत्यक्ष (intuition) के द्वारा प्राप्त करने की बात कही है। पर आलोचको का मत है कि अलेक्जैण्डर इसे स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। प्रागनुभविक intuition (सहज प्रत्यक्ष) वास्तव मे रहस्यमय प्रक्रिया है।

पर काण्ट का मुख्य उद्देश्य था कि वे ह्यूम के मत को दोषपूर्ण ठहरा दें। ह्यूम ने कहा था कि गाणितिक ज्ञान अनिवार्य अवश्य है, पर यह वास्तविकता निरपेक्ष है। काण्ट ने दिखलाया है कि यह वास्तविक है, पर शुद्ध प्रत्यक्ष की दुनिया मे ही यह वास्तविक है। इससे तो ह्यूम के मत का खडन नही होता है। ह्यूम ने भी स्वीकार किया था कि मानसिक कल्पना-ससार मे गणित अनिवार्य है।

परन्तु यद्यपि काण्ट का समाधान विशेष रूप से स्पष्ट नही है, तो भी उनकी एक देन विशेष है। उन्होने सामान्य रीति से स्पष्ट कर दिया है कि बिना मानसिक सक्रियता के योगदान के, ज्ञान की सम्बद्धता सभव नही है। यदि हम बिना मानसिक योगदान के कोरी ज्ञान-सामग्री खोजना चाहें तो हमारा यह प्रयास विफल होगा। निम्न से निम्नतम ज्ञान की सीढियो मे भी मानसिक योगदान स्पष्ट रहता है। फिर काण्ट ने विषयगत (Objective) ज्ञान की व्याख्या ही ऐसी कर दी है, जिससे ह्यूम की वास्तविकता का प्रश्न फीका पड जाता है। काण्ट ने बताया है कि वास्तव मे वही विषयगत सत्यता है जो तार्किक नियमो के आधार पर सार्वभौमिक रीति से निर्मित हो। सवेदनाओ के आधार पर वास्तविकता की खोज करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कोरी सवेदना होना ही असभव है। अत., सवेदनाओ को सम्बद्ध बनाने के लिए देश और काल को मानसिक देन मानना चाहिए।

Transcendental Aesthetic मे ऐसा मालूम देता है कि देश और काल को प्रागनुभविक प्रत्यक्ष या इन्हें सभी प्रत्यक्षो को ग्रहण करने के अनिवार्य रूप सिद्ध करने से गाणितिक सार्वभौमिकता तथा अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। पर बात ऐसी नही है। काण्ट के अनुसार बिना understanding की मूलधारणाओ के द्वारा प्रत्यक्षो को सम्बद्ध किये हुए किसी भी प्रकार का ज्ञान सम्भव नही है। परन्तु काण्ट दिखाना चाहते थे कि ज्ञान मे आनुभविक अगो का रहना अनिवार्य है। इसलिए काण्ट ने दिखाया है कि गाणितिक ज्ञान वास्तविक है, क्योकि वह शुद्ध आनुभविक अगो पर आधारित है। परन्तु हमे अब देखना है कि किस प्रकार से प्रत्यक्षो की सम्बद्धता Concepts के द्वारा होती है, जिससे वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव होता है। इस प्रकार की

गवेषणा, काण्ट ने Transcendental Analytic मे की है। इसलिए इसकी व्याख्या होनी चाहिए।

§ १०. Transcendental Analytic

Transcendental Aesthetic मे काण्ट ने बताया कि किस प्रकार से रूपान्तरित करके हम सवेदनाओ को ग्रहण करते हैं। परन्तु सवेदनाओ पर विचार (Thinking) करने पर ही हमे ज्ञान मिल सकता है। हम १२ categories के आधार पर विचारते हैं। हो सकता है कि मूलधारणाओ या categories को हम उचित रीति से काम मे लायें या उन्हें उचित विषय मे काम मे न लायें। concepts या categories को उचित विषय मे हम तभी काम मे ला सकते हैं जब ये विषय प्रत्यक्ष के आधार पर प्राप्त किये जाते है। परन्तु यदि हम मूल प्रत्ययो (concepts) को प्रत्यक्षातीत विषयो मे लागू करें तो हमारा विचारना अनुचित होगा। अत, काण्ट के अनुसार उचित विचारना ही ज्ञान है, पर अनुचित विचारना ज्ञान नही है। इसलिए विचारने के अध्ययन के दो भाग किये गये हैं, अर्थात् (१) Transcendental Analytic, जिसमे उचित विचारने (Valid thinking) की शर्तों को जानने की कोशिश की गयी है, और (२) Transcendental Dialectic, जिसमे प्रत्यक्षातीत (Super-sensible) विषयो पर विचारने के प्रत्ययो का अनुचित प्रयोग किया जाता है। Transcendental Analytic के अध्ययन मे निम्नलिखित विभागो को हमे ध्यान मे रखना चाहिए।

Transcendental Analytic

- Analytic of Conceptions मूलधारणाओ का विश्लेषण, अर्थात् इनकी खोज और उनका प्रमाणीकरण
  - Metaphysical Deduction या उपपादन जिसमे १२ प्रत्ययो की स्थापना होती है।
  - Transcendental Deduction उपपादन जिसमे दिखाया जाता है कि बिना १२ प्रत्ययो के वैज्ञानिक ज्ञान की सम्भावना नही हो सकती है।
- Analytic of Principles अर्थात् प्रत्ययो का प्रत्यक्षो मे उपयोग करने के नियम
  - Schema या ठठरी, जिसमे प्रत्ययो को काल के रूप मे लाकर सवेदनामय बनाया जाता है।
  - Understanding के Principles जिसमे चार नियमो का उल्लेख किया जाता है, जिनके आधार पर प्रत्यय प्रत्यक्षो को सयोजित कर ज्ञान की रचना करते हैं।

Transcendental Analytic की सामान्य व्याख्या

Transcendental Aesthetic मे काण्ट ने दिखाया है कि गाणितिक अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता इसलिए होती है कि इसका सम्बन्ध प्रागनुभविक, अनुभवातीत शुद्ध प्रत्यक्षो से रहता है। Transcendental Analytic मे काण्ट की समस्या है कि किस प्रकार से पदार्थ-विज्ञान के Synthetic Judgment a priori की व्याख्या की जाय। यह ठीक है कि गुरुत्वाकर्षण तथा पदार्थ और शक्ति की नित्यता आदि के सम्बन्ध मे पदार्थ-विज्ञान मे अनिवार्य तथा सार्वभौम नियम या वाक्य पाये जाते हैं। उनके इन नियमो की व्याख्या किस आधार पर की जा सकती है? क्या हम इन नियमो को वास्तविक, वस्तुगत तथा मानव-निरपेक्ष प्रकृति के नियम समझ सकते हैं? यदि पदार्थ-विज्ञान के नियम परम पदार्थों मे वस्तुगत समझे जायँ, तो हम इन नियमो को केवल अनुभव से ही जान सकते है, और अनुभव के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि कोई भी नियम उन्ही वस्तुओ मे सत्य है जिनका हमे अनुभव हुआ है, और वे तभी तक सत्य हैं जबतक हमे उनका अनुभव हुआ है। परन्तु पदार्थ-विज्ञान के नियम सभी देश, काल और पात्र के लिए सत्य हैं और इसलिए हम उन्हें अत्यनुभव* कह सकते हैं। फिर पदार्थ-विज्ञान के नियमो मे अनिवार्यता है। परन्तु यदि ये नियम अनुभव पर ही आधारित होते, तो हम कह सकते हैं कि ये नियम सत्य हैं, पर हम नही कह सकते है कि ये नियम अवश्यमेव सत्य होगे। अत, पदार्थ-विज्ञान के नियम परम पदार्थों मे वस्तुगत नही माने जा सकते है। इसलिए हमे स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये नियम हमारी समझ (Understanding) की देन हैं जो प्रातिभासिक जगत् मे आरोपित किये गये हैं। इसलिए Transcendental Analytic मे दिखाया जाता है कि वे कौन प्रागनुभविक प्रत्यय (Concepts) हैं, जिनके आधार पर पदार्थ-विज्ञान के अनिवार्य तथा सार्वभौम नियमो की स्थापना की जा सकती है।

परन्तु समझ का काम है विचारना और विचारना कारण-कार्य, एकता, अनेकता, द्रव्य-गुण इत्यादि प्रत्ययो (Concepts) के आधार पर होता है। विचार की अपनी सक्रियता है और इसलिए हम अपने विचारो को सभी प्रकार की वस्तुओ के सम्बन्ध मे काम मे लाते है। जैसे, हम कह सकते हैं कि प्रेतात्मा एक है या प्रेतात्माएँ अनेक हैं। परन्तु यदि प्रेतात्मा हो ही नही तो हमारे लिए उन्हें एक या अनेक कहना व्यर्थ है। इसलिए चूँकि विचारना सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है और चूँकि स्वय प्रत्ययो से ही इसके विषय की सत्यता नही निर्धारित की जा सकती है, इसलिए विचारना वही पर उचित समझा जायगा जहाँ इसका विषय प्रत्यक्ष पर आधारित हो। यदि वास्तव मे विश्वसनीय व्यक्तियो ने repeatable and shareable

* अत्यनुभव से अर्थ है (अति+अनुभव), जो अनुभव की सीमा को पार कर जाय।

अपनी इन्द्रियो से प्रेतात्मा को जाना है तो हमारा कहना है कि प्रेतात्मा एक है या अनेक, वास्तविक-अवास्तविक हो सकता है, अर्थात् हमारा विचार उचित-विषयक होता है अन्यथा नही। अतः, काण्ट के अनुसार विचारने के प्रत्यय खाली साँचो के समान है। उनके उलट-फेर करने से ही हमे किसी भी विषय का ज्ञान नही हो सकता है। हाँ, यदि उनमे हम उचित उपादान (Matter) या उनका मसाला डाल दें तो साँचो से ढली हुई अनेक वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए काण्ट की प्रसिद्ध उक्ति है कि Concepts without percepts are empty, and percepts without concepts are blind. आगे चलकर हम देखेंगे कि प्रत्यक्षातीत वस्तुओ के विषय मे दार्शनिको ने शुद्ध विचार के आधार पर ज्ञान प्राप्त करना चाहा है। प्राय, ईश्वर को पूर्ण, शाश्वत, नित्य, अद्वैत, परम पदार्थ कहकर, दार्शनिको ने उसकी वास्तविकता सिद्ध करने की कोशिश की है। पर हम प्रत्ययो का कितना ही बडा ढेर क्यो न लगा दें, बिना प्रत्यक्षो (Percepts) के, वास्तविकता हो ही नही सकती है।

यह ठीक है कि बिना प्रत्ययो के प्रत्यक्ष केवल बिना रूप या आकार के मिट्टी के लोदे के समान हैं। परन्तु फिर भी किसी भी ज्ञान के विषय के वास्तविक होने की पहली सीढी यही है कि वह प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त हो। पर यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष मे अनिवार्य तथा सार्वभौम कारण-कार्य, द्रव्य-गुण इत्यादि पाये नही जाते हैं। इस बात को ह्यूम ने सदा के लिए स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे नही देखा जाता है। पर, अनुभव के आधार पर हम यही कह सकते है कि दो घटनाओ के बीच पूर्वापर (succession) अर्थात् पहले और बाद का सम्वन्ध देखने मे आता है, परन्तु उनके बीच किसी अनिवार्य लगाव का सम्बन्ध देखने मे नही आता हैं। अतः, किसी भी ज्ञान के विषय को कम-से-कम प्रत्यक्षाश्रित होना चाहिए, परन्तु प्रत्यक्षो मे विचार के प्रत्यय नही मिलते है। परन्तु बिना विचार या प्रत्ययो (Concepts या categories) के प्रत्यक्षो को सम्वद्ध या समायोजित (connected or ordered) नही किया जा सकता है और बिना क्रमबद्धता तथा व्यवस्था के ज्ञान सभव नही हैं। यदि प्रत्यय, प्रत्यक्ष से नही प्राप्त किये जा सकते है तो ये कहाँ से प्राप्त होते है ? काण्ट का कहना है कि ये प्रत्यय प्रागनुभविक (a priori) तथा अनुभवातीत (Transcendental) हैं। स्वय हमारे मन की समझ (Understanding) से ये फूटते हैं और हमारा मन इन्हें प्रत्यक्षो मे आरोपित कर उन्हें ज्ञान के रूप मे बदलता है। इसलिए प्रत्यक्षो को प्रत्ययो के आधार पर सम्बद्ध कर जो पदार्थ-विज्ञान (Physics) मे नियम बनाये जाते है, वे मानसिक आरोपण के ही परिणाम हैं। परन्तु जब तक इन प्रत्ययो को प्रत्यक्षो मे आरोपित न किया जाय तबतक ये प्रत्यय खाली साँचो के समान समझे जा सकते हैं। अत, प्रत्यक्ष

हमारी संवेदनग्राह्यता से प्राप्त होता है और प्रत्यय हमारी समझ की सक्रियता की उपज मे मिलता है। इसलिए प्रत्यक्षो* के सम्बन्ध मे हम निष्क्रिय कहे जा सकते हैं और इसलिए सक्रिय समझ को निष्क्रिय सवेदनग्राह्यता से भिन्न समझना चाहिए। इसलिए प्रत्यक्ष की आवश्यकता पर जोर देते हुए काण्ट ने कहा है कि Understanding makes nature out of the materials it does not make। समझ प्रत्यक्षो के उपादान से प्रकृति-सम्बन्धी नियमो की स्थापना करती है। परन्तु ये उपादान (Materials) स्वय समझ से ही उत्पन्न नही हो सकते हैं। इन्हें हमारी इन्द्रियो को प्राप्त करना चाहिए। इसलिए understanding does not *make*, but *receives* the materials फिर समझ प्रत्यक्षो मे प्रत्ययो को आरोपित कर पदार्थ-विज्ञान के अनिवार्य तथा सार्वभौम नियमो की स्थापना करती है। यदि समझ के प्रागनुभविक तथा अनुभवातीत प्रत्ययो को प्रत्यक्षो पर आरोपित न किया जाय तो अनिवार्य तथा सार्वभौम नियम विज्ञानो मे प्राप्त हो ही नही सकते हैं।

पर प्रश्न उठता है कि प्रत्यय (Concepts) यदि मानसिक या विषयीगत हो, तो प्रकृति-सम्बन्धी नियमो के निर्माण मे हम इन्हें कैसे सत्य मानें ? इस सम्बन्ध मे काण्ट बताते है कि प्रत्ययो को हम प्राकृतिक नियमो की स्थापना मे प्रागनुभविक शर्त्त मानते हैं। जबतक प्रत्यय प्रागनुभविक न हो और जबतक ये प्रत्यक्षो को सूत्रबद्ध न करें तबतक प्रकृति का हमे ज्ञान हो ही नही सकता है। इसलिए मानव-ज्ञान के दृष्टिकोण से ये प्रत्यय अनिवार्य है। मानव-ज्ञान बिना मानव-शर्त्तों के सभव नही है। फिर वास्तव मे (प्रकृति) Nature को अपनी निजी अथवा मानव-निरपेक्ष अवस्था मे हम नही जान सकते है। जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह, वह प्रकृति है जो हमारे ज्ञान के साँचो मे ढलकर हमारी चेतना मे सत्य मानी जाती है। अत, जिसे हम विज्ञान मे Nature या प्रकृति कहते है, वह हमारी समझ से रूपान्तरित होती है। इसलिए विज्ञानो के जो भी नियम हैं, वे मानवीकृत तथा प्रातिभासिक प्रकृति के मानव नियम हैं। इस अर्थ मे हम कह सकते है कि Understanding makes Nature, अर्थात् समझ प्रत्ययो के आधार पर प्रातिभासिक (Phenomenal) प्रकृति के नियमो की स्थापना करती है। परन्तु यद्यपि हमारा ज्ञान प्रातिभासिक जगत् का ही हो सकता है और पारमार्थिक जगत् हमारे लिए अज्ञात और अज्ञेय है, और फिर यद्यपि प्रातिभासिक जगत् के सम्बन्ध मे प्राकृतिक नियम विषयीगत हो सकते हैं, तथापि मानव

---

*वास्तव में हमारा मन Perception और conception दोनों में सक्रिय रहता है। परन्तु काण्ट के समय में सवेदनाओं के ग्रहण करने में मन को निष्क्रिय समझा जाता था और केवल उनपर विचारने में मन को सक्रिय समझा जाता था। परन्तु बिना Space और Time की मानसिक देन के, काण्ट के अनुसार, प्रत्यक्षों की सम्भावना सिद्ध नहीं हो पाती है। अत, प्रत्यक्षों में भी मानसिक देन है।

स्तर से विज्ञानो का यह ज्ञान सार्वभौमिक, अतिवैयक्तिक अथवा व्यक्तिविशेष-निरपेक्ष है। प्रत्यय समझ की देन अवश्य है, परन्तु सभी व्यक्तियो की समझ मे एक ही प्रकार के प्रत्यय पाये जाते है और इसलिए सभी व्यक्ति इन प्रत्ययो के आधार पर समान रूप से वैज्ञानिक नियमो की स्थापना कर सकते हैं। अत, वैज्ञानिक नियम विषयीगत होते हुए भी व्यक्ति-विशेषातीत है। इसलिए मानव-दृष्टिकोण से जो भी नियम व्यक्ति-विशेषातीत होकर सार्वभौम तथा अनिवार्य हो, उन्हें हम पूर्णतया विषयगत (Objective) मान सकते हैं। यद्यपि ये नियम मानसिक हैं और हम इन्हें प्रत्यक्षो पर आरोपित करते हैं, पर सभी व्यक्ति इन सब प्रत्ययो को एक ही रीति से आरोपित करते हैं और इसलिए जो भी ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष मे आकर प्रत्ययारोपित होकर हमारे विचार मे आयगा वह सब को एक समान विषयगत मालूम देगा। चूंकि मानव के लिए परम पदार्थ ज्ञान का विषय तो हो नही सकता है, इसलिए जो मानव के लिए ज्ञान का विषय होगा, वह इसीलिए विषय होता है कि वह a priori, transcendental समझ के प्रत्ययो से एक ही रूप मे बनता है। Therefore, a dream which all men dream and must dream, is not a dream but a reality, at least on the empirical level

कही एक भूल न हो जाय, इसलिए एक बात और बता देनी चाहिए। जब काण्ट कहते हैं कि Understanding makes Nature, तब उनके कहने का अर्थ है कि समझ के द्वारा हम प्रातिभासिक जगत् के नियमो की स्थापना करते है। परन्तु यहां पर विज्ञानो के नियमो की स्थापना सामान्य रीति और सकीर्ण रीति—दोनो अर्थों मे काम मे लायी जा सकती है। पर काण्ट का मत किसी एक विज्ञान से नही, पर सभी विज्ञानो से है, और फिर काण्ट के प्राकृतिक नियम 'प्रागनुभविक हैं, न कि अनुभवाश्रित'। इसलिए काण्ट का कहना है कि किसी एक विज्ञान के आनुभविक नियम (Empirical laws) उसके आनुभविक नियमो पर आधारित होते हैं और उन्हें खोज निकालने और प्रमाणित करने का भार वैज्ञानिको के कन्धो पर रहता है। परन्तु ये विशिष्ट नियम (Particular laws) समझ के प्रागनुभविक प्रत्ययो पर आधारित होते हैं और इसलिए सामान्य अर्थ मे ही कहा जाता है कि Understanding gives laws to Nature। समझ के द्वारा केवल प्रागनुभविक (*a priori*) नियम ही स्थापित हो सकते और इन नियमो से ही हम विज्ञानो के विशिष्ट नियमो को निगमनात्मक (deductive) रीति से नही निकाल सकते हैं। हां, परन्तु विज्ञानो के सभी विशिष्ट नियम, अन्त मे, काण्ट के अनुसार इन्ही प्रागनुभविक प्रत्ययो पर आधारित कहे जा सकते हैं।*

---

*देखें N. K. Smith; Ibid, pp, 102-103, Sec. 26.

Transcendental Analytic की उपर्युक्त व्याख्या मे हमलोगो ने केवल 'Analytic of conceptions' की ही व्याख्या की है और 'Analytic of principles' की व्याख्या नही की है। Analytic of principles की सक्षिप्त व्याख्या यथास्थान होगी, यहाँ हमे अब 'Analytic of conceptions' की सक्षिप्त व्याख्या करनी है। Analytic of conceptions के दो भाग हैं, अर्थात् Metaphysical Deduction of Categories और Transcendental Deduction of Categories Metaphysical Deduction मे उन प्रत्ययो को खोज निकाला जाता है, जिनके आधार पर हम किसी भी विषय पर सोच या विचार सकते हैं और Transcendental Deduction मे सिद्ध किया जाता है कि यदि हम प्रागनुभविक सयोजन ((a priori synthesis) को स्वीकार न करें तो हम पदार्थ-विज्ञान के अनिवार्य तथा सार्वभौम नियमो की स्थापना नही कर सकते हैं।

§११ Metaphysical Deduction (तत्त्वमीमांसात्मक उपपादन)

जिस प्रकार सवेदनग्राह्यता मे हमे प्रत्यक्ष (Percepts) प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार understanding से हमे concepts या categories (मूल धारणाएँ) प्राप्त होते हैं। ये concepts निर्णय (judgment) मे अन्तर्निहित होते हैं। इसलिए यदि हम सभी सभव निर्णय को जान लें तो हम उन निर्णयो के आधार पर सभी सभव प्रत्ययो को जान सकते हैं। काण्ट के अनुसार, अरस्तू ने सभी सभव निर्णयो का सर्वग्राही ((Exhaustive) वर्गीकरण किया है। इसलिए यदि हम अरस्तु के निर्णयो के वर्गीकरण को ध्यान मे:रखे तो उनके अन्तर्निहित सभी सभव प्रत्ययो को खोज निकालने मे समर्थ हो सकेंगे। अरस्तू ने वाक्यो (या निर्णयो) को परिमाण (Quantity), गुण (Quality), सम्बन्ध (Relation) और प्रकार (Modality) के आधारपर १२ वर्गों मे बाँटा है। इनके अनुरूप काण्ट ने १२ प्रत्ययो (concepts) को खोज निकाला है। इन्हे स्पष्ट करने के निम्नलिखित तालिका दी जा सकती है .

निर्णय-भेद के आधार Principles of classification	निर्णय-भेद (Kinds-of judgments)	निर्णय-वर्गों या भेदो पर आधारित प्रत्यय (Categories deduced from the kinds of judgments)
परिमाण	१. पूर्णव्यापी (Universal) उ कुछ मनुष्य मरणशील है	१. एकात्मक (Unity)
	२ अशव्यापी (Particular) उ. कुछ मनुष्य कवि हैं।	२. अनेकत्व (Plurality)
	३ एकवाची (Singular) उ कालिदास कवि हैं।	३ सम्पूर्णत्व (Totality)

गुण	१. भावात्मक (Affirmative) उ. मनुष्य मरणशील हैं । २ अभावात्मक (Negative) उ देवता मरणशील नही हैं । ३ अपरिमितात्मक (Infinite) उ. ईश्वर अगुणी है ।	१. सत्ता या वास्तविकता (Reality) २ अभाव या निषेध (Negation) ३ सीमित भाव या सीमा (Limitation)
सम्वन्ध Relation	१. निरपेक्ष वाक्य (Categorical) उ मनुष्य विवेकशील । होते हैं २ हेतुफलाश्रित वाक्य (Hypothetical) उ. यदि सूर्य उगे, तो प्रकाश होगा । ३ वैकल्पिक वाक्य (Disjunclives) उ वह चाहे दुष्ट है या मूर्ख ।	१ द्रव्य-गुण (Substance-Accident) २. कारण-कार्य प्रत्यय ३ पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भाव Action and Reaction or reciprocity between agent and patient)
विधि या प्रकार (Modallity)	१. सदेहात्मक (Problematic) उ सभव है कि राम अभी आवे । २. विधानात्मक या साधारण या प्रतिज्ञात (Assertory) उ भारत प्राचीन है । ३ अनिवार्य (Necessary) उ दो और दो मिलकर अवश्य ही चार होगा ।	१ संभावना-असंभावना २ वास्तविकता-अवास्तविकता (Existence-Non-existence) ३ अनिवार्यता-आकस्मिकता (Necessity-Contingency)

इन बारह Concepts मे से पहली ६ मूल धारणाओ को काण्ट ने

गणितीय (Mathematical) कहा है, और पिछली ६ मूल धारणाओ को गत्यात्मक (Dynamical) कहा है। गणितीय मूल धारणाओ का सम्बन्ध वस्तुओ से है, चाहे वे शुद्ध प्रत्यक्ष हो या अनुभवाश्रित। परन्तु गत्यात्मक मूल धारणाओ का प्रसग या तो प्रत्ययो के पारस्परिक सम्बन्धो से है या वस्तुओ के साथ समझ (Understanding) के सम्बन्ध से है। सम्बन्ध (Relation) के ऊपर आधारित निर्णयो के अन्तर्निहित प्रत्ययो का प्रसग वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध से है, और विधि (Modality) पर आधारित निर्णयो के अन्तर्निहित प्रत्ययो का लगाव वस्तुओ के साथ समझ या बोध के सम्बन्ध से है। फिर गाणितिक प्रत्ययो मे सापेक्ष पद (Correlates) देखने मे नही आते हैं, परन्तु गत्यात्मक प्रत्ययो मे सह-सबधी युग्म पाये जाते हैं, जैसे कारण-कार्य, देखने मे आते हैं। अपितु, चारो आधारो पर निर्णयो के वर्गीकरण पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वर्ग मे तीन मूल प्रत्यय (Categories) देखने मे आते हैं, और प्रत्येक वर्गीकरण मे तीसरा प्रत्यय, दो प्रत्ययो के योग से प्राप्त होता है। अत, सम्पूर्णत्व अनेकत्व को एकत्व मे लाने से प्राप्त होता है, वास्तविकता मे अभाव होने से सीमित भाव (Limitation) होता है और द्रव्यो के बीच कारण-कार्य के रहने पर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। अन्त मे, सभावना के भाव पर अनिवार्यता उत्पन्न होती है। यद्यपि तीसरा प्रत्यय, पहले दो के योग से उत्पन्न होता है, तथापि इसे स्वतन्त्र मूलधारणा समझना चाहिए। काण्ट के द्वारा प्रत्ययो को इस प्रकार बाँटने मे हेगेल को द्वन्द्वात्मक विधि का सकेत मिला था और उन्होंने पक्ष, प्रतिपक्ष (Antithesis) तथा सपक्ष (Synthesis) के द्वारा अपनी प्रसिद्ध विधि को स्पष्ट किया है।

Metaphysical Deduction से इतना ही स्पष्ट होता है कि सभी सभव निर्णयो मे १२ प्रत्यय देखने मे आते हैं। परन्तु अब सिद्ध करना है कि बिना इन प्रत्ययो के वास्तविक ज्ञान सभव नही हो सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति Transcendental Deduction मे की गयी है।

§ १२. अत्यानुभविक उपपादन Transcendental Deduction की सक्षिप्त व्याख्या

ज्ञान का प्रारम्भ सवेदन-राशियो (Manifold of sensations) से होता है। सवेदनाएँ एक-दूसरे से अलग और क्षणिक हुआ करती हैं। इन्हें व्यवस्थित करने पर ही स्थायी ज्ञान सभव होता है। सर्वप्रथम, सवेदन-राशि देश और काल के मानसिक प्रागनुभविक रूपो से व्यवस्थित होती है। यदि देश और काल को प्रागनुभविक रूप न माना जाय, जिनसे छनकर, ढलकर सवेदन-राशि प्रत्यक्ष वस्तु (Percept) का आकार धारण करती है, तो गाणितिक ज्ञान की अनिवार्यता तथा असदिग्धता सिद्ध नही की

जा सकती है। परन्तु, सवेदनग्राह्यता के देश और काल के प्रागनुभविक रूपो से केवल प्रत्यक्ष वस्तुएँ ही मिलती हैं। हमे इन प्रत्यक्षो को दुवारा और उच्चतर तल से व्यवस्थित करना पडता है ताकि इनसे ज्ञान प्राप्त हो जाय। वास्तव मे वैज्ञानिक नियमो मे प्रत्यक्षो को समझ के १२ प्रत्ययो के द्वारा व्यवस्थित कर निर्णय बनाया जाता है। यहाँ भी हम पाते हैं कि ये १२ प्रत्यय अनुभव से प्राप्त नही हो सकते हैं; क्योकि इनमे सार्वभौमिकता और अनिवार्यता पायी जाती हैं जिन्हें हम अनुभव से प्राप्त नही कर सकते है। इसलिए प्रश्न उठता है कि प्रागनुभविक प्रत्ययो से, जो विषयीगत हैं, कैसे प्राकृतिक विषयगत (Objective) नियमो की स्थापना की जाय।

काण्ट की समस्या के समाधान मे हमे ध्यान रखना चाहिए कि विषयगत से काण्ट का अर्थ यह नही है कि वास्तव मे मानव-मन से परे पदार्थों की निजी अवस्था है, जिसे हम जान सकते है। उनकी सत्ता अवश्य मानव-मन से परे है, पर उनके स्वरूप को हम बिना मानव-रग मे रंगे हुए नही जान सकते हैं। इसलिए यदि स्वलक्षणात्मक पदार्थ (Things-in-themselves) हमारे ज्ञान के विषय न हो, तो विषयगत ज्ञान' का अर्थ क्या हो सकता है? विषयगत ज्ञान भी विषयीगत है। परन्तु विषयीगतता (Subjectivity) के दो अर्थ हो सकते हैं। जब अँधेरे मे एक छोटी चीज दाहिनी से बायी ओर चलती है, तब एक व्यक्ति को वह चीज चूहा मालूम दे सकती है और दूसरे को छुछुन्दर और तीसरे को बेंग इत्यादि। इस प्रकार के ज्ञान को जो भिन्न-भिन्न ज्ञाताओ को भिन्न जान पडे, सापेक्ष (Relative) कहते हैं और इसे कोरा विषयीगत ज्ञान कहते हैं। जब ह्यूम ने कहा है कि कारण-कार्य या द्रव्य-गुण प्रत्यय सहचार से उत्पन्न होते हैं, तो किसी दो व्यक्तियो को एक प्रकार का सहचार नही हो सकता है और इसलिए कारण-कार्य, द्रव्य-गुण इत्यादि के प्रत्यय, ह्यूमी व्याख्या के अनुसार, केवल आत्मनिष्ठ तथा सापेक्ष ही हो सकते है। जब काण्ट मूल धारणाओ को विषयीगत कहते है तब काण्ट Transcendental Deduction मे दिखाना चाहते हैं कि विषयीगत होते हुए भी इनसे, सापेक्ष नही पर निरपेक्ष तथा सार्वभौम ज्ञान प्राप्त हो सकते है। अत, Transcendental Deduction का उद्देश्य है कि वह मानसिक और प्रागनुभविक प्रत्ययो के आधार पर सर्वव्यापक ज्ञान की सम्भावना सिद्ध कर दे। वह ज्ञान जो सभी व्यक्तियो मे सर्वव्यापक और अनिवार्य हो, वास्तव में विषयगत कहा जा सकता है। इसलिए काण्ट ने इस पक्ष मे अपने उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है "The concepts which thus contain *a priori* the pure thought involved in every experience, we find in the categories. If we can prove that by their means alone an object can be thought this will be a sufficient deduct-

tion of them, and will justify their objective validity" हम इसलिए कह सकते हैं कि Transcendental Deduction का उद्देश्य है कि वह उन अनिवार्य प्रागनुभविक समझ के रूपो को स्पष्ट कर दे जो सभी ज्ञातव्यो मे एक समान पाये जाते हैं। इन प्रागनुभविक अगो की व्याख्या काण्ट ने निम्नलिखित रीति से की है .

१ *The synthesis of Apprehension in Intuition*
(सहज प्रत्यक्ष मे अववोध का सश्लेषण)

सवेदनाएँ पृथक्-पृथक् रूप मे आती हैं और यदि वे इसी क्षणिक रूप मे छोड दी जायें तो वे विलीन हो जायेंगी। उन्हें स्थायी ज्ञान मे मढ देने के लिए पहली शर्त्त यही है कि हम सवेदन-राशि को अपने अवधान मे एक साथ रखे रहें। अवधान मे संवेदनाओ को एक साथ रखने की शर्त्त प्रागनुभविक है, क्योकि वह वात सवेदनाओ के होते ही होनी चाहिए। फिर यह शर्त्त दिक् और काल-सम्वन्धी शुद्ध सवेदनाओ मे भी लागू है।

२. *The synthesis of Reproduction in Imagination*
(कल्पना मे पुनस्मृ त सवेदनाओ का सश्लेषण)

मान लिया जाय कि एक लम्बी रेखा दी हुई है, जिसका हमे ज्ञान प्राप्त करना है। हम एक समय मे इसके एक ही भाग को अपने अवधान मे रख सकते हैं। इसलिए यदि हम इस रेखा के अन्तिम भाग का प्रत्यक्ष करें, तो पूर्ण रेखा को समझने के लिए पूर्व भाग के प्रत्यक्ष को हमे अपनी कल्पना मे सही-सही स्मृत करना चाहिए। यदि अन्तिम भाग के प्रत्यक्ष करते-करते पूर्व भाग की स्मृति का लोप हो जाय तो पूरी रेखा का ज्ञान हमे प्राप्त नही हो पायगा। अतः, सहज-प्रत्यक्ष (Intuition) मे सवेदनाओ के सश्लेपण मे पुनस्मृ त सवेदनाओ का सश्लेपण अन्तर्निहित है।

३ *The synthesis of Recognition in a concept*
(प्रत्यय मे प्रत्यभिज्ञान का सश्लेपण)

फिर मान लिया जाय कि दी हुई रेखा के दो भाग 'क' और 'ख' है। यदि हम 'ख' के विपय मे विचारते हुए सोचें कि 'क', जिसको हम एक क्षण पूर्व सोच रहे थे, वह पुनस्मृ त होते समय वदल गया है, तो ऐसी अवस्था मे हमे पूरी रेखा का पूर्ण ज्ञान नही होगा। अत, पूर्ण ज्ञान के लिए आवश्यक है कि जव 'क' पुनस्मृ त होता है तव हम पहचानें कि यह पुनस्मृ त 'क' वही है, जिसे हमने कुछ क्षण पहले देखा था। इसलिए पुनस्मृ त सवेदनाओ का सश्लेषण हमारी प्रत्यभिज्ञा (Recognition) मे होना चाहिए। इसलिए वह प्रत्यय, जिसे हम किसी एक समय मे काम मे लाते हैं, उसे दूसरे समयो मे भी एक समान रहना चाहिए। अत, एक समान मूल धारणाओ के रहने से ही ज्ञान सम्भव है। इसलिए बिना समझ के १२ प्रत्ययो के ज्ञान सम्भव नही हो सकेगा।

काण्ट apprehension, reproduction तथा recognition के अगो क प्रागनुभविक मानते हैं और इस बात पर जोर देकर बताना चाहते हैं कि जिसे हम ज्ञान का विषय कहते हैं, वह इन्ही अनिवार्य रीति से सम्बद्ध अगो का समूह है। इसलिए जिस भी विषय को हम ज्ञान का रूप देते है, उसमे सभी ज्ञाताओ के लिए सवेदन-सग्रह, पुनस्मृ ति और प्रत्यभिज्ञा एक समान हुआ करती हैं। परन्तु ज्ञान-निर्माण मे सभी प्रागनुभविक अगो के एक समान रहने की मुख्य शर्त्त है कि सभी अगो को 'अत्यानुभविक समाकल्पन का ऐक्य' (*Transcendental* unity of *apperception*) मे रहना चाहिए, अर्थात् सभी अगो को एक ही चेतना मे रहना चाहिए।

हमलोगो ने देखा है कि एक ही अवधान मे सवेदन-सग्रह होना चाहिए। इसकी स्मृति भी अनेक समयो मे एक ही होनी चाहिए। फिर इस स्मृति की प्रत्यभिज्ञा भी एक समान रहनी चाहिए। अत, वे प्रत्यय जिनके आधार पर अनेक प्रत्यक्ष सयोजित होते हैं, विविध समय पर एक ही समान रहना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो मेज का मेरा ज्ञान जो कल हुआ था, आज नही रह पायगा और इसलिए ज्ञान क्षण-क्षण पर एक ही व्यक्ति के लिए बदलता जायगा और इसे ज्ञान के नाम से पुकारा नही जा सकता है। इसलिए सवेदनग्राह्यता के दिक् और काल के रूप को तथा उन प्रत्ययो को, जिनके आधार पर प्रत्यक्षो को व्यवस्थित कर ज्ञान बनाया जाता है, मेरी चेतना में एक समान रहना चाहिए। परन्तु ये दिक् और काल तथा १२ प्रत्यय उसी समय एक स्थायी रूप मे माने जा सकते हैं, जब वह चेतना, जिसके ये विषय हैं, एकरूपी बनी रहे। जब तक चेतना एक न हो, तबतक हम कैसे कह सकते हैं कि जिस प्रत्यय को मैंने हम काम मे लाया था वह आज इस समय भी वही है? "There must, therefore, be a transcendental ground of the unity of consciousness in the synthesis of the manifold of all our intuitions, and consequently also of the concepts of objects in general, and so of all objects of experience, a ground without which it would be impossible to think any object for our intuitions"

परन्तु समाकल्पन* का सश्लेषात्मक ऐक्य (Synthetic unity of Apperception), जो सभी विचारो मे स्थायी रूप मे रहना चाहिए, हमारे विचारो की प्रागनुभविक शर्त्त है। इसे हमे अपनी अनुभूति से प्राप्त नही कर सकते हैं। ह्यूम ने ठीक ही कहा है कि यदि मैं अपने को सहज प्रत्यक्ष के आधार पर जानना चाहूँ, तो

* 'समाकल्पन' से अर्थ होता है प्रत्यत्तों का परद या सस्कार। अव भूत प्रत्यत्तों को बीता हुआ समझने के लिए 'आत्मचेतना' होनी चाहिए। अत समाकल्पन में आत्मचेतना परिलक्षित है।

मैं अपने स्थायी अहभाव को कभी भी नही जान सकता हूँ। इसलिए समाकल्पन का ऐक्य अनुभूत और प्रागनुभविक हैं, यह स्वय सभी अनुभूतियो के सम्भव होने का तार्किक आधार है। चूँकि Synthetic unity of apperception किसी भी अनुभव का आधार है, इसलिए यह मुझमे प्रागनुभविक तथा Transcendenlal है। फिर Transcendental तथा प्रागनुभविक होने के कारण व्यक्तियो मे एक समान है। इसलिए दिक् और काल तथा १२ प्रत्यय सभी व्यक्तियो मे एक समान रहना चाहिए और इन्हें एक स्थायी रूप मे रहने के लिए सभी व्यक्तियो मे समाकल्पन के ऐक्य को एक ही रूप मे रहना चाहिए।

यदि हम मान लें कि एक ही परम स्थायी चेतना है, जिसके रहने से ही ज्ञान सम्भव है, तभी ज्ञान की सार्वभौमिकता, असदिग्धता तथा अनिवार्यता सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार की चेतना अनुभवातीत तथा प्रागनुभविक है। अतः, जो भी प्राकृतिक नियम हम खोज निकालें, वह इसी स्थायी परम चेतना का विषय होगा; और चूँकि यह प्रागनुभविक चेतना है, इसलिए इस प्रकार का नियम विषयगत कहा जायगा, क्योंकि प्रागनुभविक चेतना सबमे एक ही है। अब यदि पूछा जाय कि वैज्ञानिकों मे प्राकृतिक नियमो के स्वीकार करने मे क्यो मतैक्य है, तो हम कह सकते हैं कि उनके अन्दर एक ही स्थायी परम चेतना है, और उसी बात को नियम कहा जाता है, जो इस प्रकार की चेतना का विषय हो। अत, 'विषय' मानसिक शक्तियों से परे और स्वतन्त्र नही है, परन्तु स्वय यह उस स्थायी चेतना की देन है, जो सभी विचारको मे सामान्य रीति से पायी जाती है। "Accordingly, the order and conformity to law in the phenomena which we call *nature*, we ourselves introduce and we could never find it there if we, or the nature of our mind had not originally placed it there" यहाँ 'we' का अर्थ स्थायी, परम चेतना से है जो सभी ज्ञाताओ मे स्थायी, प्रागनुभविक तथा सामान्य है।

काण्ट synthetic unity of apperception को ज्ञान का प्रागनुभविक आधार मानते हैं, पर इसकी वास्तविकता को स्वीकार नही करते हैं, क्योकि वास्तविक वही है, जो अनुभवाश्रित हो और काण्ट ने बार-बार हमे चेतावनी दी है कि समाकल्पना का ऐक्य अथवा स्थायी अहभाव अनुभवातीत है, परन्तु अनुकाण्टीय विचारधारा मे इसी Synthetic unity of apperception को प्रत्ययवादियो ने (निरपेक्ष सत्ता) Absolute माना है और इसी निरपेक्ष सत्ता से सभी प्रत्ययो का होना दिखलाया है।

यद्यपि काण्ट ने बताया है कि संप्रत्यक्षण अथवा समाकल्पन के ऐक्य से सभी विषयगत ज्ञान प्राप्त होते है, तथापि इसे प्रत्ययवाद (Idealism) नही कहा जा सकता है, क्योकि उन्होने बार-बार कहा है कि बिना प्रत्यक्षो के प्रत्यय से ज्ञान नही हो

सकता है। अत, हमे अब जानना चाहिए कि किस प्रकार से संप्रत्यक्षण के ऐक्य के प्रत्यय (concepts) प्रत्यक्ष मे लागू होते हैं। इस विषय पर काण्ट ने 'Analytic of Principles' मे प्रकाश डाला है और इसकी हम अति सक्षिप्त व्याख्या करेंगे क्योकि वास्तव मे Transcendental Deduction of Categories मे ही काण्ट के विचारो का सार पाया जाता है, जिसकी व्याख्या हो चुकी है।

§ १३ Analytic of Principles

प्रश्न यह उठता है कि Understanding सक्रिय शक्ति है और सवेदन-शक्ति निष्क्रिय है और ज्ञान बिना इनके योग से सम्भव नही है। तो इनके योग को किस प्रकार समझा जा सकता है ? काण्ट के अनुसार अनुभववादियो की गलती यही थी कि उन्होने प्रत्यक्ष और प्रत्यय के बीच के अन्तर को प्राकारिक न मानकर आशिक समझा था। परन्तु, यदि विचारना प्रत्यक्ष ही हो, तो ह्यूम ने ठीक ही दिखा दिया है कि प्रत्यय, प्रत्यक्ष से नही प्राप्त हो सकते है और इसलिए सगत सिद्धान्त तो यही होगा कि प्रत्यय भ्रान्तिपूर्ण विषयीगत रचना है। पर वास्तव मे वैज्ञानिक नियमो को सत्य स्वीकार कर लेने पर हमे प्रत्ययो को उचित मान लेने मे आपत्ति नही होनी चाहिए।

यदि प्रत्ययो और प्रत्यक्षो मे विषम जाति का अथवा प्राकारिक भेद हो और फिर उनके योग को समझाना हो तो हमे मानना पड़ेगा कि उनके बीच मे एक तीसरा माध्यम है, जिसे सवेदनामय प्रत्यय या प्रत्ययात्मक सवेदना कहा जा सकता है। इस माध्यम को schematism या सामान्य प्रतिमावाद कहा जा सकता है। हमारे मन मे कल्पना-शक्ति है, जो अज्ञात रीति से ही प्रत्ययो को सामान्य प्रतिमा के रूप मे परिणत कर देती है। इसी गुप्त कला के आधार पर हमारे प्रत्यय सवेदनामय (Sensuous) हो जाते या सवेदना प्रत्ययात्मक (Conceptualised) हो जाती है। इसलिए हमे जानना चाहिए कि किस प्रकार से Schematism सम्भव है।

काण्ट के अनुसार 'काल' ही ऐसा माध्यम है, जिसके आधार पर संवेदन और विचार-शक्तियाँ एक-दूसरे का आलिगन कर सकती हैं। पहली बात तो यह है कि 'काल' सामान्य प्रकार से सभी प्रत्यक्षो का प्रागनुभविक रूप है। फिर Concepts और इसमे यह सामान्य बात है कि दोनो शुद्ध या प्रागनुभविक हैं। फिर मूल धारणाओ मे भी कुछ सवेदनाओ का आभास मिलना चाहिए ताकि इन्हें प्रत्यक्षो मे लागू किया जा सके और सवेदनाओ का आभास जो प्रत्ययों मे है वह यह है कि इसमे भी अर्थात् काल मे पूर्वापरपन है। " pure *a priori* concepts, in addition to the function of understanding expressed in the category, must

contain *a priori* certain formal conditions of sensibility, namely, those of inner sense." इसलिए प्रत्ययो को 'काल' के आधार पर ही सवेदनामय बनाया जाता है या सवेदनाओ को प्रत्ययात्मक (Conceptualised) किया जाता है।

सवेदनामय प्रत्यय (sensualised concepts) को schema या सामान्य प्रतिमा (Image) कहा जाता है। जब हम किसी वस्तु के विषय मे विचारने लगते हैं तो प्राय हमारे विचार मे कोई-न-कोई प्रतिमा भी पायी जाती है। जैसे, जब हम मनुष्य के सम्बन्ध मे विचारने लगते हैं तब कोई एक लम्बे या नाटे, गोरे या काले व्यक्ति की प्रतिमा हमारे विचार के आलम्बन के रूप मे दिखायी देती है। परन्तु Schema वह प्रतिमा है, जो विशेष न होकर सामान्य हो। इसका कारण यह है कि Concept अनेक वस्तुओ मे लागू होता है और कितनी ही विशेष प्रतिमाएँ हमारी कल्पना मे आयें वे Concept के सभी उदाहरणो के लिए सर्वग्राही (Exhaustive) नही कही जा सकती है। इसलिए सभी उदाहरणो मे सर्वग्राही रीति से लागू होने के लिए हमारे विचार को सामान्य प्रतिमा की आवश्यकता पड जाती है।". . . .. the schema has to be distinguished from the image (It is) rather the representation of a method whereby a multiplicity, for instance a thousand, may be represented in image in conformity with a certain concept, than the image itself . . .. This representation of a univer sal procedure of imagination in providing an image for a concept, I entitle the schema of this concept" अर्थात् काण्ट के अनुसार सभी विचारोमे प्रतिमा का रहना आवश्यक है। यद्यपि प्रतिमा विचार नही है, पर विचार का यह अनिवार्य आलम्बन या आश्रय है। अत, काल के विभिन्न रूपो मे प्रत्ययो की सामान्य प्रतिमा को schema कहा जा सकता है।

चूँकि १२ प्रत्यय गुण, परिमाण, सम्बन्ध और विधि के आधार पर विभाजित किये गये हैं, इसलिए काल भी इन चारो रूपो मे प्रत्ययो को सवेदनामय करता है। इसकी सक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित रीति से हो सकती है।

१ **परिमाण**—काल-शृ खला (Series) के द्वारा परिमाण-सम्बन्धी प्रत्ययो का सामान्य प्रतिमाकरण होता है। एक क्षण मे निहित रहने पर एकत्व, सभी क्षणो मे निहित रहने पर सम्पूर्णत्व तथा सामान्य रीति वे बराबर रहने पर अनेकत्व, का काल-रूप मे प्रतिमाकरण होता है

२. **गुण**—काल-व्याप्ति। 'विधायन' अथवा प्रतिज्ञापन वह है, जो किसी निर्दिष्ट काल में समरूप सवेदनाओ से व्याप्त हो, जो काल किसी भी सवेदना से रिक्त हो उसे 'निषेध' (Negation) कहा जा सकता है, और जो काल सवेदन-

शून्यता के बाद कुछ समय तक किसी सवेदना से व्याप्त हो, उसे 'सीमित भाव' की व्यवस्था से व्यक्त होना कहा जाता है।

३. सम्बन्ध— काल-क्रम (Order) द्रव्य की काल-व्यवस्था वह है, जिसमे परिवर्त्तन के होने पर भी किसी वस्तु को स्थायी समझा जाय, कारण-कार्य की काल-व्यवस्था वह है, जिसमे एक घटना का दूसरी घटना के साथ अनिवार्य सम्बन्ध हो। पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की काल-व्यवस्था वह है, जिसमे द्रव्य अपने आकस्मिक धर्मों के कारण एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

४. विधि— काल-सम्पूर्णता (Time comprehension)। 'संभावना' वह है, जो किसी भी समय हो सकती है; 'वास्तविकता' वह है, जो किसी भी निश्चित काल मे हो और अनिवार्य वह है, जो सभी कालो मे हो।

काल-व्यवस्था के सिद्धान्त से काण्ट यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि बिना किसी प्रकार की प्रतिमा के विचार सभव नही होता है। टेबुल, कुर्सी, ताप, रग इत्यादि साधारण प्रत्यय हैं और इनमे भी कोई-न-कोई प्रतिमा-विशेष पायी जाती है। चूँकि मूलधारणाएँ (Categories) सामान्य प्रत्यय है, इसलिए ये सामान्य प्रतिमाओ के माध्यम से सभव होते है और ये सामान्य प्रतिमाएँ 'काल' के रूप मे पायी जाती हैं। समसामयिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगो से यह सिद्ध असिद्ध नही हो पाया है कि विचारो मे प्रतिमाओ का होना अनिवार्य है। अब जो भी मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष स्थापित हो, पर उससे काण्ट की गवेषणा का महत्त्व कम नही हो सकता है। काण्ट की धारणा तार्किक है। यदि विचार और सवेदन मे प्राकारिक या जाति-भेद हो और फिर यदि बिना उनके घनिष्ठ आलिगन से वैज्ञानिक ज्ञान सभव न हो, तो उन्हें किसी-न-किसी सामान्य माध्यम की आवश्यकता पड जाती है।

शामुएल अलेक्जेंण्डर ने काण्ट की काल-व्यवस्था के सिद्धान्त से काफी लाभ उठाने की कोशिश की है। वे ब्रिटिश अनुभववाद की परम्परा मे आते हैं और इसलिए वे मूल प्रत्ययो को अनुभव के ही आधार पर स्पष्ट करना चाहते थे। उनके अनुसार दिक्-काल (Space-Time) परम सत्ता है और इसी से हमारे सारे प्रत्यय भी सिद्ध होते है। परन्तु आलोचको का कहना है कि अलेक्जेण्डर प्रत्ययो की व्याख्या नही कर पाये हैं, क्योकि वास्तव मे उनके प्रत्यय, प्रत्यय नही है, पर वे प्रत्ययो के के समान अतीन्द्रिय हैं, और न ऐन्द्रिय अनुभूतियो के समान क्षणिक तथा रूप-रहित हैं। इनमे विचार और सवेदन के दोनो धर्म पाये जाते है।

§ १४ काण्ट का अज्ञेयवाद (Agnosticism)

काण्ट के सिद्धान्त को अज्ञेयवाद कहा जाता है, क्योकि इसके अनुसार हम परम सत्ता के शुद्ध स्वरूप को नही जान सकते हैं। ज्ञान की शर्त्त ही है कि हम पहले

संवेदन को दिक् और काल के रूप मे परिणत करके प्रत्यक्ष वनायें और फिर प्रत्यक्षो को प्रागनुभविक मानसिक प्रत्ययो के आधार पर ज्ञान मे वदल दें। जिस किसी वस्तु का हमे ज्ञान होगा वह मानव-रूपो के आकार मे ढलकर ही आयगा और विना इस आकार मे ढाले हुए हम किसी वस्तु को जान ही नही सकते हैं। परन्तु परम पदार्थ का अपना निजी स्वरूप क्या है, इसे हम कैसे जान सकते हैं ? इसलिए काण्ट का कहना है कि Things-in-themselves are unknown and unknowable। परन्तु प्रश्न उठता है कि यदि परम पदार्थ का स्वरूप अज्ञात और अज्ञेय है तो इसके अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या है ? फिर यदि हम मानें की परम पदार्थ अज्ञेय है, तो इससे स्पष्ट होता है कि हम यह भी कह सकते हैं कि यह है या नही। किसी वस्तु को 'है या नहीं' कहने का अर्थ है कि हम इसका विधान या निषेध कर रहे है, अर्थात् इसमे वास्तविकता (Reality) अथवा अभाव (Negation) का प्रत्यय काम मे ला रहे हैं। परन्तु हमलोगो ने देखा है कि प्रत्यय, बिना प्रत्यक्ष के खाली साँचा है और खाली साँचे से किसी भी ज्ञान की वस्तु का निर्माण नही हो सकता है। इसलिए यदि पारमार्थिक सत्ता अज्ञेय हो तो हम यह भी नही कह सकते हैं कि यह है या नही है। जव काण्ट कहते हैं कि परम सत्ता है, पर यह अज्ञेय है, तो आलोचको का कहना है कि काण्ट को कोई अधिकार नही है कि वे कहें कि पारमार्थिक सत्ता है या नही है।

काण्ट उपर्युक्त आलोचना का प्रत्युत्तर करते हुए वताते हैं कि जब वे कहते कि पारमार्थिक सत्ता है, तो 'है' उसी समय ज्ञानात्मक कहलायगा जव इसमे कुछ प्रत्यक्ष भी हो, अर्थात् किसी ज्ञान को भावात्मक मानने मे दो अग होते हैं (क) यह है और (ख) यह क्या है। 'क्या' सवेदन-वस्तु से प्राप्त होता है। जव तक सवेदन-वस्तु न हो तवतक ज्ञान नही कहा जा सकता है। अत, हम यही कह सकते हैं कि कि परम सत्ता है, पर हम नही वता सकते हैं कि यह क्या है (We know that it *is* but we do not know *what* it is)। ऐसी अवस्था मे, काण्ट के अनुसार जव परम सत्ता का ज्ञान है नही, तो इसे न्याय-सगत या असगत कहना ही कठिन है। पारमार्थिक सत्ता हमारे ज्ञान की सीमा को परिलक्षित करती है और यह स्वय ज्ञान की वस्तु नही है।

फिर भी प्रश्न उठता है कि यदि पारमार्थिक सत्ता अज्ञात और अज्ञेय हो तो हमें इसका वोध ही नही हो सकता है और इसलिए इसका उल्लेख भी करना सभव नही है। आगे चलकर हम देखेंगे कि काण्ट वास्तव मे पारमार्थिक सत्ता को शून्य नही समझते थे। पर वे इसे ज्ञान की परिधि से हटाकर विश्वास के क्षेत्र मे ले जाना चाहते थे, जहाँ इसपर सदेह ही नही किया जा सके। अतः, काण्ट अपने अज्ञेयवाद के आधार पर धर्म और आचार की सरक्षा करना चाहते थे। परन्तु

शुद्ध ज्ञान-मीमासा मे भी काण्ट अपने अज्ञेयवाद के आधार पर बतलाना चाहते थे कि ज्ञान मे मानसिक रूपो के अतिरिक्त आनुभविक (Empirical) अग भी है। अतः, काण्ट ने शुद्ध प्रत्ययवाद का खडन किया है और वस्तुवाद की क्षीण रेखा दिखलाकर मानव-ज्ञान को प्रातिभासिक परिधि मे ही सीमित रखा है। इसलिए अनुकाण्टीय विचारो मे काण्ट के अज्ञेयवाद की कडी आलोचना करने पर भी इसे काण्ट के दर्शन से हटाया नही जा सकता है।

§. १५. अत्यानुभविक द्वन्द्वशास्त्र
Transcendental Dialectic

काण्ट की ज्ञान-मीमासा का विशेप विपय था कि Synthetic judgment *a priori* की व्याख्या की जाय। इस प्रकार के निर्णय गणितशास्त्र, पदार्थ विज्ञान और तत्त्व-मीमासा मे पाये जाते है। गणितशास्त्र के Synthetic judgment *a priori* की व्याख्या सवेदन-शक्ति-विज्ञान (Aesthetic) मे की गयी है और पदार्थ-विज्ञान के Synthetic judgment *a priori* की व्याख्या Transcendental Analytic मे की गयी है। काण्ट के अनुसार गाणितिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान सभव है, पर काण्ट अब बताना चाहते हैं कि तत्त्व-मीमासा के विपय ईश्वर, आत्मा और विश्व ज्ञानातीत हैं। ज्ञान के सम्बन्ध मे काण्ट का मत सीधा और साफ है। हम काण्ट के अनुसार, प्रत्यय के आधार पर ही जान सकते है, पर इन प्रत्ययो का उचित उपयोग प्रत्यक्षो (Percepts) मे ही लागू होता है। जो कुछ प्रत्यक्षातीत हो या अतिसवेद्य (Supra-sensible) हो, वह वास्तविक ज्ञान का विषय नही हो सकता है। पर मानव इस ज्ञान की इस सीमा को ग्रहण नही करना चाहते हैं। उनके अन्दर ऐसी व्याकुलता तथा ज्ञान-पिपासा पायी जाती है, जिसके कारण वे इस ज्ञान की मर्यादा का उल्लघन करने का प्रयास करते हैं। यह व्याकुलता मन के स्वय सम्बद्धता-प्रयास या प्रवृत्ति (Impulse) से निकलती है। सामान्य रीति से मन अपने प्रागनुभविक रूपो के आधार पर परिवर्त्तनशील तथा क्षणभगुर सवेदनाओ को ज्ञान मे परिणत कर देता है। पर यह ज्ञान केवल प्रातिभासिक जगत् का ही सभव हो सकता है। परन्तु मन की प्रागनुभविक प्रवृत्ति रहती है कि वह प्रातिभासिक जगत् की सीमाओ को पार करते हुए प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक सत्ताओ को समेटकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले। जिस प्रकार से विचार, प्रत्ययो के आधार पर प्रत्यक्षो को समेटकर वैज्ञानिक ज्ञान का निर्माण करता है, उसी प्रकार प्रज्ञा (Reason) ईश्वर, आत्मा और विश्व के प्रति सामान्य प्रत्ययो के आधार पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहती है। यदि हम पूर्ण ज्ञान को, जो मन, प्रज्ञा के तीन प्रत्ययो के आधार पर प्राप्त करना चाहता है, केवल आदर्श-रूप मे समझें, तो हम प्रज्ञा की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग करते हैं। पर

यदि हम समझें कि ईश्वर इत्यादि का हमको पूर्ण ज्ञान वास्तव मे प्राप्त हो सकता है, तो हममे छाया को ठोस मान लेने का दोष आ जाता है। प्रज्ञा के तीन प्रत्यय ज्ञान के नियामक (Regulative) अग हैं, न कि सघटक (Constitutive) अग हैं। "The ideas of Reason do *regulate*, but do not *constitute* knowledge".

प्राय, मन की ज्ञानात्मक (Cognitive) प्रक्रियाओ को वस्तुबोधन, निर्णय (Judgment) और अनुमान (Inference) की प्रक्रियाओ मे बाँट दिया जाता है। इस विभाजन के अनुसार, सवेदन-शक्ति का सम्बन्ध वस्तुबोधन से, विचार-शक्ति का का सम्बन्ध मूल प्रत्ययो से, और प्रज्ञा का सम्बन्ध अनुमान से है। ज्ञान की सम्बद्धता, जो मन की अपनी प्रागनुभविक देन है, प्रत्यक्ष से प्रारम्भ होकर, प्रत्ययो से होती हुई प्रज्ञा की तीन सामान्य धारणाओ (Ideas) मे समाप्त हो जाती है। "All our knowledge begins with the senses, proceeds thence to the understanding and ends with reason" जिस प्रकार से विचार की मूल-धारणाएँ प्रत्यक्षो की सम्बद्धता को पूरी करती है, उसी रीति से प्रज्ञा की तीन धारणाएँ, विचार के प्रत्ययों के आधार पर ज्ञान की सम्बद्धता को पूर्ण करने की की कोशिश करती हैं। परन्तु प्रज्ञा के द्वारा पूर्ण ज्ञान का आभास आदर्श मात्र है। पर मानव प्रागनुभविक प्रेरणा से विवश होकर transcendental भ्रम मे पड जाते हैं। चूँकि प्रज्ञा का सम्बन्ध अनुमान से है और अनुमान निरपेक्ष (Categorical), हेतुफलाश्रित (Hypothetical) तथा वैकल्पिक (Disjunctive)—तीन प्रकार के होते हैं, इसलिए इनके अनुरूप प्रज्ञा के आत्मा, विश्व और ईश्वर नामक तीन प्रत्यय होते हैं। आत्मा के प्रत्यय के आधार पर प्रज्ञा आत्मा की अमरता, स्वतन्त्रता इत्यादि सिद्ध करना चाहती है। पर, वे केवल प्रत्यय-मात्र है और स्थायी, अमर तथा शुद्ध आत्मा ज्ञान का विषय नही हो सकती है। यदि हम समझ लें कि हम अमर, स्थायी तथा शाश्वत आत्मा को वैज्ञानिक रीति से जानते हैं तो इस प्रकार के ज्ञानाभास मे Paralogism का दोष आ जाता है। उसी प्रकार विश्व की सम्पूर्णता किसी भी प्रत्यय मे नही अँट सकती, क्योकि सवेदनाएँ विश्व के किसी अग की ही हो सकती हैं। यदि विश्व की सम्पूर्णता प्रत्यक्ष का विषय न हो, तो यह ज्ञान का विषय हो नही सकता है। हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय मे विचार सकते है, पर जान नही सकते हैं। We can *think*, but cannot *know* the totality of the universe. इसलिए ज्ञान की सीमा, विचार की सीमा नही है। पर चूँकि understanding के द्वारा बिना प्रत्यक्ष के, प्रत्यय-मात्र के आधार पर विचार करने से ही ज्ञान नही होता है, इसलिए यदि हम समझ लें कि हम विश्व की सम्पूर्णता को समझते हैं तो हममे *Antinomies* (विरोधाभास) का दोष आ जाता है। फिर यदि हम आत्मा और विश्व के रचयिता ईश्वर को जानने का प्रयास करें तो हममे Ideal of reason का दोष आ जायगा।

Paralogism, antinomics और Ideal of reason को काण्ट ने Transcendental भ्रम कहा है, क्योंकि ये मन के प्रागनुभविक रूपीकरण की प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। चूंकि ये Transcendental भ्रम हैं, इसलिए सभी व्यक्तियों में इनके पाये जाने की सभावना रहती है। फिर, यदि प्रज्ञा के तीनो प्रत्यय ज्ञानातीत स्पष्ट भी कर दिये जायं, तोभी इनकी चपेटो से बचना कठिन है। यही कारण है कि काण्ट के अनुसार शायद ही कोई विचारक इन्हें सत्य न मानकर इनकी चपेटो से अपने को मुक्त कर सका है। अपितु, यद्यपि ये भ्रम भ्रम ही हैं, तथापि ये ऊँची कल्पनाएँ नही हैं। न हम कह सकते हैं ये असत् हैं और न हम कह सकते हैं कि ये सत् हैं। इनके विषय मे सशय उतना ही दोषपूर्ण है, जितना इन्हें ज्ञात समझ लेने मे दोष है। साथ ही काण्ट ने अपनी अन्य समीक्षाओ (Critique) मे दिखाया है ये ज्ञान के नहीं, पर विश्वास (Eaith) के उचित विषय है। अतः, काण्ट ने प्रज्ञा के विषय को ज्ञानातीत ठहराकर, उन्हें विश्वास का विषय बना लिया है। Kant, therefore, has demolished knowledge in order to make room for faith

हम प्रज्ञा के तीनो प्रत्ययो की अलग-अलग व्याख्या करेंगे और काण्ट के अनुसार दिखलायेंगे कि ये सभी ज्ञानातीत हैं।

§ १६ आत्मा के सम्बन्ध मे भ्रम
Paralogisms of Reason

हमलोगो ने Transcendental Deduction of the categories मे देखा है कि बिना अत्यानुभविक सप्रत्यक्ष के ऐक्य के ज्ञान की सम्बद्धता, अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता प्राप्त नही की जा सकती है। परन्तु Synthetic unity of Apperception ज्ञान का तार्किक आधार है और इसलिए इसे वास्तविक सत्ता नही माना जा सकता है। अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते है कि ऐसा मालूम देता है कि एक ही चेतना है, जिसमे सभी प्रत्यय पाये जाते हैं। पर इस पराप्रत्यक्ष की एकता वास्तविक नही है, क्योंकि हम इसे किसी भी अन्तर्निरीक्षण से प्राप्त नही कर पाते हैं। यह ठीक है कि अन्तर्निरीक्षण के आधार पर जो कुछ हम अपनी आत्मा के विषय अनुभूत करते हैं, उसे हम स्थायी, शाश्वत आत्मा नही कह सकते हैं। अनुभूत आत्मा के ज्ञान को आनुभविक (Empirical) मनोविज्ञान कहते हैं और इस मनोविज्ञान मे बताया जाता है कि परिवर्त्तनशील और क्षणभगुर मानसिक प्रक्रियाओ के समूह को आत्मा कहा जा सकता है। अत, अनुभव के आधार पर स्थायी मनस् का कोई पता नही लगता है। पर प्रज्ञा के प्रत्यय के आधार पर हम स्थायी एव शाश्वत द्रव्य के रूप मे आत्मा को जानने की कोशिश करते है। आनुभविक मनोविज्ञान से अलग कर हम इसे

प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान (Rational psychology) कह सकते हैं और काण्ट के अनुसार यह युक्तिसगत मनोविज्ञान नही कहा जा सकता है।

हमलोगो ने पहले ही देखा है कि प्रत्यक्षो को समझ (Understanding), प्रत्ययो के आधार पर सम्बद्ध कर ज्ञान उत्पन्न करती है। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली सीढी है और बिना इस पहली सीढी को पार किये हुए हम उचित रीति से प्रत्ययो की दूसरी सीढी पर नही चढ सकते हैं। पर यदि अनुचित रीति से भी हम ज्ञान प्राप्त करना चाहें, तो हम प्रत्ययो की ही मदद लेंगे। इसलिए, यदि हम स्थायी आत्मा के विषय प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान की रचना करना चाहें तो यहाँ भी हम इन १२ प्रत्ययो की मदद लेंगे। ये १२ प्रत्यय गुण, परिमाण, सम्बन्ध और विधि के अनुसार विभाजित किये गये हैं। इसलिए प्रज्ञात्मक आत्मा के ज्ञान की रचना मे भी ये चारो विभाजन के सिद्धान्त पाये जाते हैं। अत, प्रज्ञात्मक आत्मा के सम्बन्ध मे निम्नांकित चार प्रकार की बातें कही गयी हैं .

१. आत्मा द्रव्य है, २. गुण के दृष्टिकोण से आत्मा को सरल कहा जा सकता है, ३. अनेक कालो मे एक ही रूप मे रहने के कारण, इसमे एकत्व (Unity) का भाव है, न कि अनेकत्व का, ४ दिक् की सभी सम्भाव्य वस्तुओ से इसका सम्बन्ध है।

चूंकि मै सभी विषयो पर विचार करता हूँ, इसलिए मैं ज्ञाता हूँ और इसलिए मैं ज्ञाता के रूप मे सभी ज्ञेय वस्तुओ से परे और स्वतन्त्र हूँ। अत, प्रज्ञात्मक शुद्ध द्रव्य है, जिसमे किसी भी प्रकार की ज्ञेय वस्तुओ की जडता नही है। इसलिए इसे जडहीन चेतना कहा जा सकता है। फिर, चूंकि यह सरल एव निरवयव है, इसलिए यह अविनाशी (Immortal) है। अपितु, चूंकि इसका सम्बन्ध सम्भाव्य वस्तुओ से है, इसलिए इसे प्राणियो का प्राण और देहधारियो की आत्मा कहा जा सकता है।

परन्तु प्रज्ञात्मक आत्मा के विषय मे कहना कि यह अमर है, या स्वतन्त्र है, इत्यादि वृथा है। प्रत्ययो ही के आधार पर कोई सिद्ध नही कर सकता है कि आत्मा अमर है। यदि मर जाने के बाद भी आत्मा का किसी प्रकार अनुभव किया जा सके, तो हो सकता है कि हम इसे अमर सिद्ध कर पायें। पर इस प्रकार का प्रयोग अभी तक सम्भव हो नही पाया है। इसलिए, आत्मा को अमर कहना अयुक्तिसगत भ्रम है। उसी प्रकार ज्ञान की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता दिखाने के लिए हमे मानना पडता है कि कोई स्थायी, ज्ञाता-रूप मे चेतना है। पर हम यह नही कह सकते हैं कि वास्तव मे कोई परम ज्ञाता है, क्योकि ऐसा मान लेने से ज्ञाता वास्तव मे 'ज्ञेय' हो जाता है। इसलिए देकार्त का कहना कि cogito ergo sum से ज्ञाता-रूप मे हम अपनी आत्मा को जानते [illegible] ही है। यह ठीक है कि ज्ञान की व्याख्या करने मे

Synthetic unity of apperception को स्वीकार करना पडता है। पर इस रूप में यह केवल परम प्रत्यय है, जिसके आधार पर ज्ञान की व्याख्या की जाती है। पर प्रत्यय को वास्तविक नही समझा जा सकता है।

अत, काण्ट के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि हम प्रज्ञात्मक आत्मा को जान नही सकते हैं। यदि हम इसे जानने का दम्भ करें तो इसमे Transcendental भ्रम हो जाता है। यद्यपि यह भ्रम है तो भी यह कोरी कल्पना नही है, क्योंकि इससे अपने को मुक्त रखना किसी भी विचारक के लिए आसान नही है। फिर हम पाते हैं कि हमारे आचार की विवेचना विना स्वतन्त्र आत्मा को माने हुए नही की जा सकती है। अत, यह विश्वास का विषय है, यद्यपि प्रज्ञात्मक आत्मा ज्ञानातीत है।

§ १७. प्रज्ञा का विरोधाभास
(Antinomies)

जिस प्रकार से आनुभविक मनोविज्ञान के पूर्ण ज्ञान के आदर्श को प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान के रूप मे हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसी प्रकार बाह्य वस्तुओ के पूर्ण ज्ञान को ब्रह्माण्ड-ज्ञान के रूप मे हम प्राप्त करना चाहते हैं। इसे हम विश्व-विज्ञान कह सकते हैं। यह वह विज्ञान है, जिसमे हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय मे ही जानने की कोशिश करते हैं। परन्तु विश्व की सम्पूर्णता का हम प्रत्यक्ष नही कर सकते हैं, और इसलिए यहाँ हमारा ज्ञान दोषपूर्ण होता है। हम सोचते हैं कि हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय मे कह सकते हैं कि यह शाश्वत अणुओ से बना है, या इसकी सृष्टि अपने-आप हुई है, इत्यादि। पर वास्तव मे हम विश्व की सम्पूर्णता के विषय मे कुछ भी नही कह सकते हैं। यह इसीसे सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्माण्ड के विषय मे हमारा ज्ञान विरोधी पक्षो मे पाया जाता है और दोनो पक्ष और प्रतिपक्ष इसके विषय प्रमाणित किये जा सकते हैं। अत, इससे स्पष्ट हो जाता है कि हमारे ज्ञान की सीमा पहुँच गयी है, जहाँ निश्चित तथा अनिवार्य ज्ञान सम्भव नही हो सकता है।

ब्रह्माण्ड के प्रति भी परिमाण, गुण, सम्बन्ध तथा विधि के अनुसार, वाद (Thesis) और प्रतिवाद (Anti-thesis) के रूप मे चार विरोधाभास (Antinomies) देखने मे आते हैं। प्रत्येक विरोधाभास मे वाद और प्रतिवाद दोनो युक्तिसगत दिखाई देते हैं।

परिमाण-सम्बन्धी विरोधाभास

पक्ष या वाद—ब्रह्माण्ड दिक् और काल मे सीमित है, अर्थात् इसकी सृष्टि की गयी है और फिर किसी एक समय मे इसका अन्त भी होगा।

यदि ब्रह्माण्ड की सृष्टि किसी निश्चित काल मे नही हुई है, तो यह अनादि और शाश्वत है। यदि यह अनादि हो, तो इससे यह सिद्ध होता है कि अनन्त काल बीत चुका है। पर 'अनन्त' का अर्थ ही है कि जिसका अन्त न हो और यह कहना कि अनन्त काल 'बीत' चुका है, बोध करता है कि 'अनन्त' का अन्त हो गया है। अत, ब्रह्माण्ड अनन्त नही है। इसलिए इसका अवश्य कभी आदि और अन्त मानना पडेगा। अत ब्रह्माण्ड की कभी-न-कभी अवश्य ही सृष्टि की गयी होगी।

फिर यदि ब्रह्माण्ड दिक् मे परिमित न हो, तो यह अपरिमित होगा। परन्तु दिक् मे अपरिमित वही है, जिसमे असख्य वस्तुएँ एक साथ पायी जायँ। परन्तु असख्य वस्तुओ के प्रत्यक्ष के लिए अनन्त काल की आवश्यकता पड जाती है। पर हम देख चुके है कि 'अनन्त काल' किसी भी प्रकार प्राप्त नही हो सकता है। अत ब्रह्माण्ड दिक् मे परिमित है।

प्रतिपक्ष या प्रतिवाद—ब्रह्माण्ड का आदि और अन्त नही है, इसलिए यह दिक् और काल मे अपरिमित है।

यदि ब्रह्माण्ड की सृष्टि किसी एक काल मे हुई हो, तो इससे स्पष्ट है कि सृष्टि से पूर्व अनन्त काल बीत चुका है। पर वह काल, जिसमे कोई घटना न हो, शून्य काल कहा जा सकता है। पर शून्य काल मे कोई घटना नही हो सकती है। इसलिए ब्रह्माण्ड की सृष्टि शून्य काल मे कही जाय तो अयुक्तिसगत होगा। अत, ब्रह्माण्ड की सृष्टि कभी नही हुई है। इसलिए इसका न कोई आदि है और न अन्त।

फिर यदि हम मान लें कि ब्रह्माण्ड दिक् मे परिमित है, तो इससे बोध होता है कि यह घिरा हुआ है। पर ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त तो दिक् है नही, इसलिए यदि हम कहें कि ब्रह्माण्ड घिरा हुआ है, तो इससे बोध होता है ब्रह्माण्ड शून्य (Vacuum) से घिरा हुआ है। पर शून्य से कुछ भी घिर नही सकता है। अत, ब्रह्माण्ड दिक् मे अपरिमित है।

परिमाण-सम्बन्धी विरोधाभास मे हमे ध्यान रखना चाहिए कि काण्ट विश्व की सम्पूर्णता (Totality) के विषय की चर्चा कर रहे हैं, जो किसी के प्रत्यक्ष मे एक साथ नही अँट सकती है। इसलिए प्रत्यक्ष पर आधारित न रहने के कारण हमारा ज्ञान खोखला ही रह जाता है।

फिर प्रतिपक्ष मे काण्ट बतला रहे है कि बिना घटनाओ के काल और दिक् शून्य हैं। इसी आधार पर अलेक्जैण्डर शामुएल ने कहा है कि देश और काल एक-दूसरे से अलग नही किये जा सकते है। इसलिए इनके अनुसार मूल सत्ता दिक्-काल है, न कि देश और काल। दिक् और काल को अवियोज्य रीति से मान लेने पर ये एक-दूसरे को शून्य रहने से बचाते है।

गुण-सम्बन्धी विरोधाभास

पक्ष—सरल द्रव्य, अर्थात् परमाणुओ के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नही है।

यदि यौगिक द्रव्य का निर्माण सरल परमाणुओ के योग से न हो, तो यौगिक द्रव्य के विनष्ट होने पर उनका लोप हो जायगा और अन्त मे कुछ भी शेष न रह पायगा। परन्तु यौगिक द्रव्य आकस्मिक है, और सरल द्रव्य ही स्थायी तथा शाश्वत है।

प्रतिपक्ष—परमाणुओ की सत्ता स्वीकार नही की जा सकती है।

यदि परमाणु सत् हों, तो ये दिक् मे ही सत् होगे। पर जो कुछ दिक् मे हो उसमे ऊपरी, निचला, दाहिना, बायाँ इत्यादि अश रहते हैं। अत अखण्ड्य, शाश्वत अणुओ की सरलता स्वीकार नही की जा सकती; क्योंकि सरल का अर्थ है कि वह, जो अश-रहित तथा अखण्डित हो।

सम्बन्ध पर आधारित विरोधाभास

पक्ष—स्वतन्त्र कारण हो सकता है और सभी कुछ कारण-कार्य से नियन्त्रित नही हैं।

यदि सभी घटनाओ की व्याख्या कारण-कार्य के आधार पर की जाय, तो वर्त्तमान घटनाओ का कारण भूत कारण होंगे और इन भूत घटनाओ के भी अन्य भूत कारण होंगे, और इस रीति से अनवस्था का दोष (Regressus ad infinitum) हो जायगा। इसलिए इस दोष से बचने के लिए हमे स्वीकार करना चाहिए कि कोई ऐसा स्वतन्त्र कारण है, जिसने सासारिक घटनाओ का प्रारम्भ किया है।

प्रतिपक्ष—स्वतन्त्र कारण सभव नही है और सभी कुछ नियतिवाद से जकड़ा हुआ है।

यदि हम मान लें कि बिना किसी कारणवश घटनाएँ हुआ करती हैं तो किसी घटना की व्याख्या न हो पायगी। अत, हमे स्वीकार करना चाहिए कि कोई भी घटना बिना कारण के नही हो सकती, और इसलिए स्वतन्त्र कारण सभव नही हो सकता है।

विधि-सम्बन्धी विरोधाभास

पक्ष—विश्व मे या इसके किसी भाग मे विश्व का निरपेक्ष तथा अनिवार्य आधार है।

विश्व मे अनेक घटनाएँ हुआ करती हैं। ये अनिवार्य नही लगती हैं। इसलिए हमे इनका कारण खोजना पडता है। पर ये कारण भी आपातिक या आकस्मिक मालूम देते हैं। जैसे, धान के अच्छे होने का कारण अच्छी वर्षा कही जाती है, पर क्यो जल से धान अच्छा होता है, यह आकस्मिक मालूम देता है। पर घटनाओ की व्याख्या आकस्मिक कारण या कारणो की शृ खला नही कही जा सकती है। अतः, विश्व की सारी घटनाओ की व्याख्या अन्त मे अनिवार्य तथा निरपेक्ष सत्ता के आधार पर की जा सकती है।

फिर, यह निरपेक्ष तथा अनिवार्य सत्ता विश्व मे ही होगी, क्योकि घटनाओ का प्रारम्भ काल मे ही हो सकता है, जो विश्व का गुण है। अत विश्व का अनिवार्य कारण विश्व-निहित हो सकता है।

प्रतिपक्ष—न तो विश्व मे और न इसके बाहर विश्व का कोई निरपेक्ष तथा अनिवार्य आधार है।

विश्व की सारी घटनाएँ दिक् और काल मे देखी जाती हैं, जिन्हें हम प्रातिभासिक सत्ता मानते हैं। पर सभी प्रातिभासिक सत्ताएँ नियतिवाद से जकडी हुई हैं और कोई भी घटना निरपेक्ष नही दीखती है। इसलिए प्रातिभासिक दृष्टिकोण से कोई भी निरपेक्ष तथा अनिवार्य सत्ता नही दिखाई देती है।

यदि कोई सत्ता विश्व मे हो तो वह दिक् और काल मे रहने के कारण प्रातिभासिक होगी, न कि पारमार्थिक, और इसलिए नियतिवाद से जकडी हुई होगी। पर यदि यह सत्ता दिक् और काल से शून्य मे हो, तो शून्य मे न कोई घटना रह सकती और न प्रारम्भ हो सकती है।

अत, न विश्व मे और न विश्व से परे कोई निरपेक्ष तथा अनिवार्य सत्ता हो सकती है।

विरोधाभासात्मक विचार मानसिक रूपीकरण-प्रवृत्ति का चरम विकास है, जो हमारी ज्ञेय वस्तुओ के सम्बन्ध मे पाया जाता है। जब हमारे प्रागनुभविक रूपो से प्रत्यक्षो के सम्बद्ध करने पर ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब रूपीकरण की प्रवृत्ति प्रत्यक्षातीत विषयो के प्रति भी सम्बद्धता प्रदान करके ज्ञान उत्पन्न करना चाहती है। इस प्रकार की चरम सम्बद्धता मे मानव के चरम लक्ष्य छिपे हुए हैं। हम

जानना चाहते हैं कि वास्तव मे हम स्वतन्त्र हैं या नियतिवाद से जकडे हुए हैं—क्या इस विश्व का कोई सृजनहार है या सृष्टि स्वयभू तथा शाश्वत है। इन प्रश्नो का कोई सतोषजनक उत्तर नही हो सकता है और इसलिए दर्शन के इतिहास मे कोई एक पक्ष को और कोई विरोधाभास के दूसरे प्रतिपक्ष को अपनाता हुआ दिखाई देता है। व्यावहारिक, नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से विचारक विरोधाभास के पक्षो को अपनाकर कहते है कि इस विश्व का सृष्टिकर्ता है, जिसने विश्व की सृष्टि की है, और प्रत्येक व्यक्ति नैतिक निर्णयो मे स्वतन्त्र है तथा सरल आत्मा को धारण करके वह अमर है। परन्तु अनुभव पर आश्रित रहकर वैज्ञानिक विचारक प्रतिपक्षो को ही अपनाता है और वह सृष्टि को स्वयभू, शाश्वत तथा स्वसचालित मानता और कही भी वह स्वतन्त्र कारण को स्वीकार नही करता है। यदि दोनो प्रकार के विचारक अपने पक्षो के केवल आदर्श रूप मे रखकर हठवादी न हो जायँ, तो इससे लाभ अवश्य हो सकता है। अनुभववादी प्रतिपक्षो के आधार पर स्वतन्त्र कारण इत्यादि को अस्वीकार करता हुआ वैज्ञानिक ज्ञान का परिवर्द्धन करेगा, तथा पक्षो को ग्रहण करनेवाला विचारक धर्म तथा नीति की सरक्षा कर सकेगा।

"Without unbroken causal connection, there is no nature; without freedom, no morality . without a Deity, no religion."

§ १८ प्रज्ञा का परम आदर्श
(Ideal of Reason)

विश्व-सम्बन्धी प्रज्ञात्मक प्रत्यय से इसलिए ज्ञान असिद्ध ठहरता है कि विश्व के प्रति हमे पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो सही मालूम देते और फिर वे परस्पर-विरोधी हैं। अत, यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपने ज्ञान के सीमान्त पर पहुँच गये हैं। पर, रूपीकरण की प्रवृत्ति ज्ञान की पूर्णता प्राप्त करने के निमित्त हमारे मन को व्याकुल करती है और हम बराबर ज्ञान-सीमा को पार करने के लिए उतावले हो जाते हैं। प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान प्रज्ञात्मक विश्व-विज्ञान के अतिरिक्त प्रज्ञा, ज्ञाता और ज्ञेय, दोनो की विशाल तथा पूर्ण समष्टि को किसी एक व्यक्ति की कल्पना कर प्राप्त करना चाहती है। प्रज्ञा इस ज्ञान के महान् आदर्श से प्रेरित होकर विचार करती है कि एक ईश्वर है, जिसमे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और पूर्ण ज्ञान निहित है। अत, ईश्वर-सम्बन्धी प्रज्ञात्मक प्रत्यय मे शाश्वत, ज्ञाता-रूप आत्मा और विश्व की सम्पूर्णता, दोनो का सम्मिश्रण है। चूंकि प्रज्ञात्मक आत्मा और विश्व की सम्पूर्णता-सम्बन्धी ज्ञान दोनो आदर्श ज्ञान के रूप हैं, इसलिए ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान को मानव-ज्ञान का परम आदर्श कहा जा सकता है।

यदि मानव अपने ज्ञान की पूर्णता को ईश्वर-ज्ञान के आधार पर प्राप्त करना

चाहता है, तोभी इससे वास्तविक ज्ञान नही समझा जा सकता है। वास्तविक ज्ञान वही है, जिसकी आधारशिला प्रत्यक्षो पर जमी हो। पर ईश्वर को कोई भी न देख सकता और न किसी इन्द्रिय से अनुभव कर सकता है। अत, केवल प्रत्ययो के आधार पर ईश्वर-विज्ञान केवल खोखला ज्ञान है। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रमाण, जो ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे बताये गये हैं, अयुक्तिसगत ठहरते हैं। इसलिए हम ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण के खोखलेपन को काण्ट की युक्तियो के अनुसार इस रीति से स्पष्ट कर सकते हैं।

तत्त्व या सत्ता-सम्बन्धी प्रमाण
(Ontological Proof)

अन्सेल्म, देकार्त और लाइबनित्स ने ईश्वर की सत्ता को वास्तविक प्रमाणित करने के लिए सत्ता-सम्बन्धी प्रमाण दिया है। इस प्रमाण के अनुसार, हमारे मन मे पूर्ण सत्ता की धारणा है और इसलिए यह धारणा केवल कोरी कल्पना न होकर अवश्य ही वास्तविक सत्ता के सम्बन्ध मे होगी। ईश्वर की वास्तविकता (Actuality or existence) उस पूर्ण द्रव्य के प्रत्यय से उसी प्रकार टपकती है जिस प्रकार से त्रिभुज का त्रिकोणाकार उसके प्रत्यय से ही ध्वनित होता है। सक्षेप मे, प्रत्ययो के आधार पर ही वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है।

यहाँ काण्ट का कहना है कि वास्तविकता केवल इन्द्रिय-ज्ञान से प्राप्त की जा सकती है। प्रत्ययो से प्रत्यक्षो की सम्बद्धता प्राप्त की जा सकती, पर इससे वास्तविकता नही प्राप्त की जा सकती है। प्रत्यय चाहे साधारण वस्तुओ के विषय हो या पूर्ण द्रव्य के विषय मे, वे वास्तविकता को नही प्राप्त कर सकते है। हम आसानी से प्रत्यय बना सकते हैं कि हमारी पॉकेट मे १०० रुपये हैं, पर इससे यह सिद्ध नही होता है कि हमारे पास १०० रुपये हैं। यदि केवल प्रत्ययो की रचना से ही वास्तविकता प्राप्त हो जाती तो कोई भूखा, नगा और दरिद्र न होता। भूखा व्यक्ति मालपूआ तथा रसगुल्ला का प्रत्यय बनाकर अपनी भूख शान्त कर लेता। जिस साम्यानुमान (Analogy) के आधार पर सत्तात्मक प्रमाण दिया गया है, वह दोषपूर्ण अनुमान है। त्रिभुज की परिभाषा से त्रिकोणाकारपन का निष्कर्ष सिद्ध होता है। पर त्रिकोणाकारपन केवल एक प्रत्यय है। एक प्रत्यय से अन्य अन्तर्ध्वनित प्रत्ययो की स्थापना की जा सकती है। पर सत्तात्मक प्रमाण मे प्रत्यय के आधार पर वास्तविकता की स्थापना की जाती है, जो किसी भी प्रत्यय का धर्म नही है।

आलोचक जैसे केअर्ड ने आगे चलकर कहा है कि यद्यपि साधारणतया प्रत्ययो के आधार पर वास्तविकता स्थापित नही की जा सकती है, तथापि केवल एक और एक ही ऐसा प्रत्यय है, जिसके अनुरूप वास्तविकता न स्वीकार करने से विचारो मे

आत्मव्याघात (Self contradiction) चला आता है। अत, इन आलोचकों के अनुसार, ईश्वर के प्रत्यय से अनिवार्य रूप से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है। काण्ट इस आलोचना का प्रत्युत्तर प्रस्तुत करते हुए बताते है कि प्रत्ययो के आधार पर किसी वस्तु के वास्तविक होने की सभावना की कल्पना की जा सकती है, पर अस्तित्व के प्रत्यय से किसी भी वस्तु की (चाहे वह साधारण हो या असाधारण) वास्तविकता सिद्ध नही की जा सकती है। यदि हम सश्लेषात्मक (Synthetic) तथा विश्लेषात्मक (Analytic) वाक्यो का भेद याद करे, तो हम देखेंगे कि analytic वाक्यो मे अनिवार्यता पायी जाती है, पर वह प्रत्ययात्मक (Conceptual) अनिवार्यता ही है। Synthetic वाक्यो के विधेय का निषेध हम बिना किसी अयुक्ति के कर सकते हैं। यदि ईश्वर का अस्तित्व विश्लेषात्मक वाक्य का विधेय है, तो हम कह सकते हैं कि 'ईश्वर' से उसके अन्तर्निहित अस्तित्व-प्रत्यय अनिवार्य रीति से सिद्ध होता है। पर यहाँ ईश्वर का अस्तित्व केवल प्रत्यय है, न कि वास्तविक सत्ता। परन्तु यदि हम कहें कि ईश्वर का अस्तित्व, सश्लेषात्मक वाक्य का विधेय है, तो हम बिना किसी अयुक्ति के इसका निषेध कर सकते हैं। अत, ईश्वर की वास्तविक सत्ता, ईश्वर-सम्बन्धी प्रत्यय से सिद्ध नही हो पाती है।

विश्व-सम्बन्धी कारण-कार्यमूलक प्रमाण

हमलोगो ने पाया कि सत्तामूलक ईश्वर के अस्तित्व का पूर्वानुभविक प्रमाण इसलिए दोषपूर्ण सिद्ध हो गया है कि हम अनुभूत वस्तुओ से अपनी युक्तियो को प्रारम्भ नही करते हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए विश्वाश्रित (cosmological) प्रमाण दिया जाता है।

हमारा विश्व के प्रति जो कुछ अनुभव होता है, उससे बोध होता है कि सभी वस्तुएँ आपातिक (Contingent) हैं। अत, सभी आपातिक वस्तुओ की व्याख्या के लिए हमे इनके अनिवार्य आधार-कारण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस तरह का प्रमाण देकार्त और लाइबनित्स ने भी दिया था। इनके अनुसार सभी घटनाओ की व्याख्या कारण-कार्य के सिद्धान्त के द्वारा की जाती है। पर 'क' का कारण 'ख' और 'ख' का कारण 'ग' है, इत्यादि। इस प्रकार के कारण-कार्य की व्याख्या मे अपरिमित प्रतीपगमन करना पडता है। अत, हमे इसे अपरिमित प्रतीपगमन के दोष से बचने के लिए स्वीकार करना चाहिए कि सभी कारण-कार्य की शृंखला का भी कोई ऐसा कारण होना चाहिए, जिससे और कोई प्रतीपगमन न हो पाये। अत, इस आधार-कारण को अनिवार्य, निरपेक्ष सत्ता होना चाहिए।

पहली बात है कि आपातिक सत्ता का आधार-कारण अनिवार्य रूप आपातिक ही हो सकता है। आपातिक (Contingent) से हम अनिवार्य सत्ता नही प्राप्त कर

सकते हैं, क्योकि इन दोनो के बीच किसी प्रकार का लगाव है ही नही। फिर, यदि हम मान भी लें कि आपातिक घटनाओ से अनिवार्य सत्ता (Necessary being) ध्वनित होती है, तो इससे यह सिद्ध नही होता है कि इस अनिवार्य सत्ता की वास्तविकता है। अनिवार्य सत्ता केवल प्रत्यय-मात्र है और प्रत्यय से वास्तविकता स्थापित नही की जा सकती है। अत, विश्व-सम्बन्धी प्रमाण भी वास्तव मे, सत्तामूलक प्रमाण पर आश्रित है। चूंकि सत्तामूलक प्रमाण अयुक्तिसगत ठहरता है, इसलिए कारण-कार्यमूलक प्रमाण से भी अनिवार्य सत्ता, अर्थात् ईश्वर की वास्तविकता सिद्ध नही होती है।

उद्देश्यमूलक प्रमाण (Teleological Proof)

इस प्रमाण के अनुसार जहाँ तक मानव अनुभव-प्राप्त होता है, वहाँ तक सम्पूर्ण विश्व मे क्रम, व्यवस्था, साधन-साध्य की सम्बद्धता इत्यादि दिखाई देती हैं। पर क्या साधनो की ऐसी व्यवस्था, जिससे निश्चित लक्ष्य की पूर्त्ति होती हो, बिना किसी उद्देश्य के हो सकती है ? क्या इससे महती बुद्धि का उद्देश्य परिलक्षित नहीं होता है ? अत, प्राकृतिक समरूपता, व्यवस्था, सौन्दर्य आदि से स्पष्ट होता है कि कोई परम सत्ता है, जिसने इस विश्व की रचना अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए की है।

काण्ट ने उद्देश्यमूलक प्रमाण को श्रद्धा की निगाह से देखा है और इसके सम्बन्ध मे लिखा है "This proof always deserves to be mentioned with respect. It is the oldest, the clearest, and the most accordant with the common reason of mankind" फिर भी काण्ट के अनुसार इस प्रमाण को युक्तिसगत नही माना जा सकता है। पहली बात यह है कि यह युक्ति केवल साम्यानुमान का उदाहरण है और इसलिए इसका निष्कर्ष असदिग्ध नही हो सकता है। फिर, इस उद्देश्यमूलक प्रमाण से इतना ही सिद्ध हो सकता है कि विश्व का कोई शिल्पकार (Architect) है, न कि इस विश्व का कोई सृष्टिकर्त्ता (Creator) है। सृष्टिकर्त्ता वह है, जो विश्व के उपादान और उसके रूप—दोनो का रचयिता हो। पर शिल्पकार वह है, जो किसी दी गयी सामग्री या उपादान मे बाहर से रूप आरोपित करता है। उद्देश्यमूलक प्रमाण के अनुसार विश्व की व्यवस्था तथा सम्बद्धता स्वय विश्व से ही अपने-आप नही हो सकती है, इसलिए किसी सृजनहार परम सत्ता ने बाहर से इसमे व्यवस्था आरोपित की है। अत, इससे स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक पदार्थ पहले से मौजूद थे और इसे ईश्वर ने नही रचा है। इसलिए ईश्वर पूर्वस्थित भौतिक पदार्थ से परिमित हो जाता है। अत, उद्देश्यमूलक प्रमाण से अपरिमित, निरपेक्ष, परम सत्ता का अस्तित्व सिद्ध नही होता है।

प्रज्ञात्मक प्रत्ययो की उपयोगिता

प्रज्ञात्मक प्रत्ययो के द्वारा वास्तविक ज्ञान नही हो सकता है और यदि इसे हम ज्ञान मान लें तो हममे Transcendental भ्रम उत्पन्न हो जाता है। पर प्रज्ञात्मक प्रत्यय प्रयोजनहीन नही हैं, क्योकि इनकी भी मानव-ज्ञान मे अपनी उपयोगिता है।

१ प्रज्ञात्मक प्रत्ययो के द्वारा प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान, विश्व-विज्ञान तथा ईश्वर-विज्ञान मानव के ज्ञान के चरम उद्देश्य की ओर सकेत करते हैं ताकि उन्हें हम अपने दृष्टिकोण मे रखकर अपने प्रातिभासिक जगत् के ज्ञान को यथासम्भव सम्बद्ध बनायें। अत, प्रज्ञा के प्रत्यय ज्ञान के निर्मायक अग नही, पर वे इसके नियामक सघटक (regulative) आदर्श हैं।

२. प्रज्ञा के प्रत्यय हमारे ज्ञान के सीमान्त (Limiting) उदाहरण हैं, जो वोध कराते हैं कि उन्हें पार कर हम किसी प्रकार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नही कर सकते हैं।

३ जिस प्रकार से सवेदन-शक्ति के रूप समझ की मूलधारणाओ के द्वारा सम्बद्ध होते है, उसी प्रकार समझ की मूलधारणाएँ प्रज्ञा के तीन प्रत्ययो के द्वारा सम्बद्धता को प्राप्त करती हैं। सवेदन तथा विचार-शक्ति पदार्थों या वस्तुओ का वास्तविक ज्ञान प्रदान करती है, पर प्रज्ञा के प्रत्यय आदर्श प्रदान करते हैं। इसी को दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि सवेदन और विचार-शक्ति का सम्बन्ध उन विषयो से है जो हैं, पर प्रज्ञा का सम्बन्ध उन विषयो से है, जिन्हें होना चाहिए (ought to be)।

४ यह ठीक है कि ईश्वर की वास्तविकता, आत्मा की अमरता तथा इच्छा की स्वतन्त्रता ज्ञानातीत है। पर ज्ञानातीत रहने के कारण उनके प्रति सन्देह भी नही किया जा सकना है। उनके विषय मे सन्देह करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है, जितना उनके विषय मे ज्ञान का हठ करना अयुक्तिसगत है। दोनो के तर्क हवा से बातें करते हैं और छाया को सत्य मानकर उससे टक्कर लेते हैं। "Both parties to the dispute beat the air, they worry their own shadow for they pass beyond nature to a region where their dogmatic grips find nothing to lay hold of" Therefore, 'the sword of the sceptic and battering ram of the materialists fall harmless on vacuity.'

५ जव प्रज्ञा के प्रत्यय ज्ञानातीत सिद्ध हो जाते तो वे कोरी कल्पना नही कहे जा सकते हैं, क्योकि उन्हें नैतिक तथा धार्मिक विश्वास का योग्य विषय माना जा सकता है। यद्यपि हम नही कह सकते कि ईश्वर तथा इच्छा की स्वतन्त्रता असदिग्ध रीति मे जानी जा सकती है तथापि हम कह सकते है कि हमे निष्काम भाव से अपने

कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए, मानो हम स्वतन्त्र है और मानो न्यायाधीश ईश्वर पुण्यात्माओ को उनको किये का यथोचित फल देगा, इत्यादि ।

§ १९ क्या काण्ट ने ह्यूम की समस्या का समाधान किया है ?

ह्यूम की समस्या अनुभवजन्य नियमो (Empirical laws) के सम्बन्ध मे थी। हम रोटी खाते आये है और भूत अनुभूति के आधार पर नियम बनाते हैं कि रोटी से शरीर की रक्षा होती है या पानी से प्यास बुझती है। ये नियम भविष्य मे और सभी मानव के लिए सत्य माने जाते हैं। पर प्रश्न है कि इनका क्या आधार है, जिसपर ये नियम टिके हुए हैं ? प्राय, ह्यूम के समय मे दार्शनिक कहते थे कि ये नियम कारण-कार्य के सिद्धान्त पर टिके हुए है। यही कारण है कि ह्यूम ने कारण-कार्य के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे अपनी गम्भीर गवेषणा प्रारम्भ की थी।

ह्यूम अनुभववादी थे और इसलिए उनके अनुसार सभी भावनाएँ केवल अनुभव से ही सिद्ध की जा सकती हैं। यदि अग्नि और ताप के बीच कारण-कार्य का सम्बन्ध है तो इसे भी अनुभूति पर ही आधारित होना चाहिए। परन्तु ह्यूम ने तीक्ष्ण विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट कर दिया है कि कही भी ऐसी घटनाएँ नही है, जिनके बीच कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। पर प्रश्न है कि यदि अग्नि और ताप के बीच किसी प्रकार का सार्वभौम तथा अनिवार्य कारण-कार्य का सम्बन्ध न हो तो हम क्यो समझते हैं कि अग्नि से ताप अवश्य ही होगा ? यहाँ ह्यूम का कहना है कि अग्नि और ताप का इतनी अधिक बार हमलोगो ने एक साथ अनुभव किया है कि इनके बीच साहचर्य-सम्बन्ध (Relation of association) स्थापित हो गया है, और जब दो भावनाओ के बीच साहचर्य हो जाता है तब एक भावना के प्रस्तुत होने पर हम अनिवार्य रूप से दूसरी भावना की प्रतीक्षा करने लगते है। अत, दो वस्तुओ के बीच अनिवार्यता (Necessity) का सम्बन्ध कही नही है, पर अनिवार्यता मानसिक है और विषयीगत है, जिससे विवश होकर प्रत्येक व्यक्ति 'उन वस्तुओ के बीच अनिवार्य सम्बन्ध देखता है, जिनमे साहचर्य पाया जाता है। फिर, व्यक्तियो मे अनिवार्यता के सम्बन्ध की प्रतीक्षा करने की आदत तथा परम्परा (Custom) बन जाती है और जब कभी कोई भी घटना होती है तब व्यक्ति उसका कारण खोज निकालना चाहता है। अत, कारण-कार्य का सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ नही, पर आत्मनिष्ठ तथा काल्पनिक परम्परा है।

इसलिए यदि कहा जाय कि अनुभवजन्य नियमो का आधार कारण-कार्य का सिद्धान्त है, तो ह्यूम का कहना है कि चूंकि कारण-कार्य का सिद्धान्त मनगढन्त तथा काल्पनिक परम्परा है, इसलिए वैज्ञानिक नियमो का कोई ठोस युक्तिसगत आधार नही माना जा सकता है। अत, वैज्ञानिक ज्ञान का भी कोई आधार नही है। इसी निष्कर्ष को ह्यूम का सशयवाद कहा जाता है।

काण्ट को विज्ञान मे पूरी आस्था थी और साथ-ही-साथ उनके अनुसार वैज्ञानिक नियमो का आधार कारण-कार्य का सिद्धान्त था। इसलिए सर्वप्रथम, ह्यूम के सशयवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने बताया कि यह कहना कि 'विज्ञानो मे ज्ञान है ही नही', गलत है। वैज्ञानिक ज्ञान अनिवार्य तथा सर्वव्यापक रूप से सत्य होता है। कम-से-कम यह बात गणितशास्त्र मे स्पष्ट है। अत., काण्ट ने ह्यूम की आलोचना करके लिखा है कि ह्यूम ने अपनी समस्या तथा निष्कर्ष को संकीर्ण क्षेत्र ही मे सीमित रखा है। यदि ह्यूम अपनी समस्या को व्यापक रूप मे विज्ञान के क्षेत्र मे देखते तो उन्हें उनकी कमी खटकने लगती।

"Among philosophers, David Hume . . occupied himself exclusively with the synthetic proposition regarding the connection of an effect with its cause, and he believed himself to have shown that such an *a priori* proposition is entirely impossible

.. If he had envisaged our problem in all its universality, he would never have been guilty of this statement, so destructive of all pure philosophy For he would then have recognised that, according to his own argument, pure mathematics as containing *a priori* synthetic propositions, would also not be possible, and from such an assertion his good sense would have saved him." (Critique of Pure Reason, Introduction, P 20)। यहाँ ह्यूम की आलोचना काण्ट ने ठीक नही की है; क्योकि ह्यूम गाणितिक निष्कर्ष को अनिवार्य तथा सार्वभौम मानते थे, पर उनके अनुसार गणित का सम्बन्ध वास्तविक अनुभूतिजन्य नियमो से नही रहता है। पर ह्यूम की विशेष समस्या वास्तविक घटनाओ के बीच के अनुभूतिजन्य नियमो की सत्यता से सम्बन्ध रखती है। इस सम्बन्ध मे ह्यूम के अनुसार वैज्ञानिक नियमो की सत्यता निराधार है।

काण्ट ने ह्यूम का प्रत्युत्तर देते हुए बतलाया है कि पदार्थ-विज्ञान मे भी Synthetic Judgment *a priori* हैं, अर्थात् अनिवार्य तथा सार्वभौम नियम हैं और ये नियम विशेष रीति से कारण-कार्य के सिद्धान्त पर आधारित हैं। परन्तु कारण-कार्य का सिद्धान्त प्रागनुभविक है और इसलिए इसे अनुभूति से सिद्ध ही नही किया जा सकता है। यदि ह्यूम ने कारण-कार्य के सिद्धान्त को अनुभवातीत पाया, तो इससे उन्हें सतर्क हो जाना चाहिए था। उन्हें समझना चाहिए था कि कारण-कार्य का सिद्धान्त प्रागनुभविक है और इसलिए उन्हें अपने अनुभववाद मे सशोधन लाना चाहिए था। पर ह्यूम ने अनुभववाद की लीक को पकडे रहकर कारण-कार्य के सिद्धान्त को साहचर्य के आधार पर स्पष्ट किया है। परन्तु साहचर्य-नियम भी मन के स्वरूप पर अनिवार्य रीति से निर्भर रहता है। इसके अनुसार भी कहना पडता है

कि मन का ऐसा स्वरूप है कि साहचर्य के हो जाने पर एक वस्तु के प्रस्तुत रहने पर दूसरी वस्तु की प्रतीक्षा अनिवार्य रीति से होने लगती है। यहाँ काण्ट का कहना है कि ह्यूम ने कम-से-कम मन के स्वरूप के सम्बन्ध मे अनिवार्यता ग्रहण की है, अर्थात् मन का स्वरूप ऐसा है कि (क) इसकी प्रकियाओ के बीच साहचर्य हो जाता है; और (ख) सहचारी प्रक्रियाएँ ऐसी हैं कि एक के प्रस्तुत होने पर दूसरी प्रक्रिया अनिवार्य रीति से उभरने लगती है। मन के सम्बन्ध मे मानव-मन के इस स्वरूप तथा उसकी कार्यवाही को ह्यूम को भी वस्तुनिष्ठ स्वीकार करना पडेगा। अत, ज्ञान मे बिना विषयनिष्ठ अनिवार्यता को माने हुए किसी भी प्रकार की व्याख्या नही हो सकती है। "Experience does indeed show that one appearance customarily follows upon another, but not that this sequence is necessary .But as regards the empirical rule of *association* which we must postulate throughout.. .. upon what, I ask, does this rule, as a law of nature, rest ? How is this association itself possible ? (Pure Reason, P 88)

सक्षेप मे काण्ट, ह्यूम के अनुभववाद की आलोचना करते हुए बताते हैं कि गणित तथा पदार्थ-विज्ञान (Physics) मे Synthetic judgments a priori हैं। यदि विज्ञानो मे नियम अनिवार्य तथा सार्वभौम हो, तो ये अनुभव से प्राप्त नही किये जा सकते हैं। अनुभव के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि अग्नि और ताप के बीच सम्बन्ध पाया जाता है, पर हम यह नही कह सकते हैं कि अग्नि और ताप के बीच सम्बन्ध अवश्यमेव होगा। "Appearances do indeed present cases from which a rule can be obtained according to which something usually happens, but they never prove the sequence to be *necessary*. To the synthesis of cause and effect there belongs a dignity which cannot be empirically expressed, namely, that the effect not only succeeds upon the cause, but that it is posited *through* it and arises *out of* it This strict universality of the rule is never a characteristic of empirical rule .. " (N K Smith, Pure Reason, P. 78 फिर देखें पृष्ठ ८०)। चूँकि सार्वभौम तथा अनिवार्य नियम अनुभव से प्राप्त नही हो सकते हैं, इसलिए काण्ट के अनुसार वैज्ञानिक नियमो की अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता प्रागनुभविक मानसिक देन है।

ह्यूम गाणितिक नियमो को अनिवार्य इसलिए समझते थे कि ये प्रत्ययों के स्पष्टीकरण (Explication) से प्राप्त किये जाते है और इसलिए ह्यूम की विशेष समस्या थी कि पदार्थ-विज्ञान के वस्तुनिष्ठ नियमो को कैसे अनिवार्य रूप से सिद्ध माना जाय। यहाँ ह्यूम की समस्या का समाधान करते हुए काण्ट ने बताया है कि पदार्थ-विज्ञान के दो पक्ष हैं, अर्थात् शुद्ध (Pure) पदार्थ-विज्ञान और यथार्थ (Proper) पदार्थ-विज्ञान। Proper physics का सम्बन्ध वास्तविक विशेष नियमो से है और

वास्तव मे ह्यूम की समस्या अनुभवजन्य इन्ही विशेष नियमो से सम्बन्ध रखती है। इस प्रसग मे काण्ट ने Pure physics के सम्बन्ध मे दिखाया है कि बिना प्रागनुभविक समझ के प्रत्ययो के इसकी सभावना नही हो सकती है। अब Physics Proper के जितने विशेष (Particulr) नियम हैं, वे Pure Physics के प्रागनुभविक नियमो पर आधारित माने जा सकते हैं।

परन्तु काण्ट के उपर्युक्त समाधान को अब सर्वमान्य नही समझा जा सकता है। Pure physics को वास्तव मे पदार्थ-विधान माना ही नही जाता है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि विज्ञान-दर्शन के अनुसार सभी विज्ञानो मे कुछ प्रारम्भिक (Initial) मन्तव्य (Postulates) होते हैं और जिन्हें काण्ट ने 'समझ के प्रत्यय' कहा है, वे केवल विज्ञानो के प्रारम्भिक मन्तव्य हैं। इन मन्तव्यो के अनुसार विज्ञान-विचार सचालित होता है, पर इनसे विज्ञानो के विशेष नियम निर्मित नही होते हैं। स्वय काण्ट ने लिखा है कि प्रत्ययो मे वैज्ञानिक नियम सिद्ध नही किये जा जा सकते हैं। "Special laws, as concerning those appearances which are empirically determined cannot in their specific character be *derived* from the categories although they are one and all subject to them. To obtain any knowledge whatsover of these special laws, we must resort to experience,....." (वही, P 103)। अतः, वास्तव मे काण्ट ने ह्यूम के Physics Proper से सम्बन्ध रखनेवाली समस्या का समाधान नही किया है। केवल इतना कहने से काम नही चल सकता है कि Physics Proper के नियम Pure Physics पर आधारित हैं। यदि काण्ट वास्तव मे दिखा देते कि Pure Physics से Physics Proper के सभी नियम निकलते है तो वे ह्यूम की समस्या का समाधान कर देते और काण्ट ने यह काम नही किया है। काण्ट तो इतना ही समझते थे कि बिना कारण कार्य के नियम को माने हुए वैज्ञानिक किसी नियम को स्थापित नही कर सकते हैं और यह कारण-कार्य का सिद्धान्त प्रागनुभविक हो सकता है। पर आज वैज्ञानिको के लिए कारण-कार्य का सिद्धान्त आवश्यक नही समझा जाता है। अत, अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि ह्यूमी समस्या का काण्टीय समाधान अपने युग के लिए समीचीन था, पर समसामयिक दृष्टिकोण के अनुसार काण्टीय समाधान को सतोषजनक नही कहा जा सकता है।

परन्तु काण्टीय समाधान का मूल आधार है कि विज्ञानो मे अनिवार्य तथा सश्लेषात्मक (Synthetic) नियम पाये जाते हैं। इसके विपक्ष मे ह्यूम का कथन था कि वैज्ञानिक नियम केवल सभाव्य (Probable) हैं। यदि सभी वैज्ञानिक नियम केवल संभाव्य हो, तो काण्टीय प्रागनुभविक प्रत्ययो की आवश्यकता ही नही पड़ती है। समसामयिक विचारधारा मे स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि नियम अनिवार्य हो

तो ये केवल विश्लेषात्मक (Analytic) ही हो सकते हैं, और यदि ये नियम सश्लेषात्मक हो, तो ये अनिवार्य नही हो सकते है। इसलिए Synthetic judgments *a priori* को ही न्यायसंगत नही समझा गया है। अत काण्टीय समस्या ही दोषपूर्ण कही गयी है और इसके आधार पर जो कुछ काण्ट ने ह्यूम का समाधान किया है, उसे प्रसगहीन समझा गया है। इसलिए हम कह सकते हैं कि काण्ट ने ह्यूमी समस्या का समाधान नही किया है† ।

§ २०. व्यावहारिक या नैतिक बुद्धि की समीक्षा
(Critique of Practical Reason)

शुद्ध बुद्धि की गवेषणा करके काण्ट ने स्पष्ट कर दिया है कि विज्ञानात्मक त्तत्वमीमासा सभव नही है। तत्त्वमीमासा मे ईश्वर, अमर तथा स्वतन्त्र आत्मा इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। अत, यदि तत्त्वमीमासा सभव न हो तो ईश्वर तथा आत्मा के विषय मे भी नही जाना जा सकता है। परन्तु यह निष्कर्ष निषेधात्मक (Negative) है और काण्ट का उद्देश्य था कि वे भावात्मक रूप से इन विषयो के विषय मे कुछ बता सकें। स्वय काण्ट नीति और धर्म मे आस्था रखते थे और इसलिए वे ईश्वर तथा आत्मा के सम्बन्ध मे अज्ञेयवादी नही रहना चाहते थे। उनके अनुसार यदि ईश्वर तथा आत्मा ज्ञान के विषय न हो, तो हम इनके सम्बन्ध मे, इनकी वास्तविकता-अवास्तविकता के विषय भी कुछ नही कह सकते हैं, अर्थात् यदि ईश्वर की वास्तविकता ज्ञान-सिद्ध नही हो सकती है तो अनीश्वरवाद भी सिद्ध नही किया जा सकता है, और यदि ज्ञान इनके सम्बन्ध मे कुछ नही हो सकता है तो विश्वास के लिए रास्ता खुल जाता है कि वह ईश्वर और आत्मा को अपना विषय बनाये। अत काण्ट की उक्ति है : I was obliged to destroy knowledge in order to make room for faith विश्वास प्रज्ञा के विरुद्ध नही, पर स्वय प्रज्ञात्मक है, क्योकि यह व्यावहारिक बुद्धि से निकलता है। इसलिए काण्ट व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा के आधार पर ईश्वर और आत्मा को विश्वास का विषय सिद्ध करते हैं।

वैज्ञानिक ज्ञान की समीक्षा करने के लिए काण्ट ने तत्कालीन गणित तथा पदार्थ-विज्ञान की गवेषणा की है। ठीक उसी रीति से नैतिक सिद्धान्तो को खोज निकालने के लिए काण्ट नैतिक निर्णयो का विश्लेषण करते है। इसलिए काण्ट नैतिक निर्णयो के उदाहरण का सकलन करते हैं उनके नियमो (Laws) की ओर हमारे ध्यान को

---

† इस महत्त्वपूर्ण समसामयिक प्रश्न के सम्बन्ध में देखें C L. Lewis. 'An Analysis of Knowledge and Valuation, pp. 158—163 (Open Court Publishing Co.), The Journal of Philosophy, Vols XLVI, XLVII, 1950. फिर सामान्य रूप से इस प्रश्न पर प्र ाश के लिए देखें B M. Laing 'Kant and Natural Science ..PHILOSOPHY, Vol. XIX, 144 pp. 216-23 ., A J. Ayer, 'Ibid... 11-78,85

खोचते है और अन्त मे उन नैतिक सिद्धान्तो (Principles) को प्रमाणित कर दिखाते हैं, जो इन नैतिक निर्णयो और उनके नियमो के बीच देखे जाते है।

काण्ट की नैतिक समीक्षा मे हमे ध्यान रखना चाहिए कि काण्ट का विषय शुद्ध नीति-विज्ञान है, जिस प्रकार से Critique of pure Reason मे उनका विषय शुद्ध पदार्थ-विज्ञान था और काण्ट का कहना था कि Physics proper 'की आधारभूमि मे Pure physics है, ठीक उसी प्रकर हम कह सकते है कि Empirical या Applied Ethics शुद्धनीति-विज्ञान पर निर्भर करता है और इसलिए हमे शुद्ध नीतिशास्त्र का ही यहाँ अध्ययन करना है। शुद्ध पदार्थ-विज्ञान का निष्कर्ष है कि Understanding gives laws to nature, उसी प्रकार शुद्ध नीतिशास्त्र से स्पष्ट होता है कि Reason alone determines moral principles.

यदि हम नैतिक निर्णय के किसी एक उदाहरण को लें तो इससे काण्टीय गवेषणा स्पष्ट हो जायगी। प्राय, हम कहते हैं कि हमे झूठ बोलना नही चाहिए या किसी का उधार नही रखना चाहिए। यहाँ काण्ट का कहना है कि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध उन घटनाओ से नही है, जो होती रहती हैं। अर्थात् नीति का सम्बन्ध वास्तविकता (Facts) से नही, पर आदर्श (Ideal) या 'चाहिए' (Ought) से है। अत, Critique of Pure Reason का सम्बन्ध वास्तविकता से था, पर निति-विज्ञान का सम्बन्ध आदर्श या 'चाहिए' या पर मूल्यो (Values) से है और इसलिए इसके सिद्धान्त भी शुद्ध प्रज्ञा के सिद्धान्तो से भिन्न होगे।[1] दूसरी बात है कि जब हम नैतिक निर्णय करते है कि 'झूठ नही बोलना चाहिए' तो इसे हम सार्वभौमिक रीति से सत्य समझते है। फिर, जैसे हमे ज्ञात होता है कि हमे झूठ नही बोलना चाहिए, वैसे ही हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है कि हम ऐसा ही करें। काण्ट की यह उक्ति है कि Du Kannst, denn du sollst अर्थात् तू कर सकता है, तो तुझे करना ही चाहिए। अब हम जानते है कि सार्वभौमिक तथा अनिवार्य वाक्य केवल प्रागनुभविक होते है। अत, नैतिक निर्णय आनुभविक (Empirical) न होकर केवल *a priori* ही हो सकते हैं। पर तीसरी बात नैतिक निर्णय के विश्लेषण से स्पष्ट होती है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य का रहना आवश्यक है। जब हम कहते हैं कि हमे झूठ नही बोलना चाहिए, तो स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ कम-से-कम अन्य पक्ष भी हो सकते हैं, अर्थात् हम मौन भी हो सकते तथा झूठ भी बोल सकते हैं। अत, इस प्रसग मे कई पक्ष हैं, जिनमे से किसी एक पक्ष को हम अपना सकते हैं। इसलिए हमे चुनने की आवश्यकता पड जाती है, और चुनने का कोई अर्थ नही हो सकता, यदि हममे चुनने की पूरी स्वतन्त्रता न हो। अत, नैतिक व्यापार वह है, जिसमे हम स्वतन्त्र रीति से कई पक्षो मे से किसी एक ही पक्ष को

१ क्योंकि शुद्ध प्रज्ञा का सम्बन्ध वास्तवि॥ घटनाओं के आधार से है।

अपनाते हैं। इसलिए नैतिक व्यापार को हम स्वतन्त्र व्यापार कह सकते है। अब यदि नैतिक कार्य स्वतन्त्र हो तो इसे हम प्रातिभासिक (Phenomenal) स्तर से स्पष्ट नही कर सकते हैं, क्योंकि प्रातिभासिक घटनाओ की व्याख्या केवल कारण-कार्य के नियनिवाद के आधार पर ही की जा सकती है[1] और स्वतन्त्र व्यापार का उसमे स्थान ही नही है। अत, नैतिक व्यापार की व्याख्या पारमार्थिक (Noumenal) सत्ता ही के आधार पर की जा सकती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक निर्णयों की व्याख्या Noumenal Self के a priori laws के ही आधार पर हो सकती है, अर्थात् नैतिक सिद्धान्त व्यावहारिक प्रज्ञा की देन मे सम्भव हो सकते है और इसके लिए नैतिक नियम, जो नैतिक सिद्धात (Principles) से निकलते है, सार्वभौमिक ही हो सकते है। फिर प्रातिभासिक आत्मा तो पारमार्थिक आत्मा का केवल माध्यम है, इसलिए आनुभाविक नियम सापेक्ष होता है (क्योकि यह तो अपना हेतु नही, पर पारमार्थिक (Noumenal) सत्ता ही इसका मूलहेतु होता है)। अत, नैतिक निर्णय निरपेक्ष (Categorical) ही हो सकता है। इसलिए काण्ट के अनुसार नैतिक सिद्धान्त की माँग है कि There is nothing in the world, nay, even bayond the world, nothing conceivable which can be regarded as good without qualification saving alone a good will, सत्सकल्प को इसलिए निरपेक्ष रीति से अच्छा कहा गया है, क्योकि अन्य शुभ चीजें सभी दशाओ मे शुभ नही रह पाती है। धन, स्वास्थ्य, विद्या इत्यादि शुभ अवश्य है, पर यदि सत्सकल्प न हो तो इनका दुरुपयोग हो सकता है। धन से तथा विद्या से भी दुराचार हो सकता है। उदाहरणार्थ, वकील लोग विद्या-बल से सच को झूठ और झूठ को सच कर देते है। पर सत्सकल्प ही ऐसा है, जिससे कभी भी दुराचार का भय नही हो सकता है। अत, नैतिक शुभ अथवा औचित्य इसी सत्सकल्प (Good will) पर निर्भर करता है।

सकल्प (Will) का स्वरूप ही ऐसा है कि इससे किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्त्ति होती है। तो यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सत्सकल्प का अच्छापन इसके उद्देश्य-विषय से निर्धारित होता है? यहाँ काण्ट के अनुसार सत्सकल्प का अच्छापन स्वय सत्सकल्प की श्रेष्ठता पर निर्भर करता है, न कि परिणाम पर। हो सकता है कि सत्सकल्प का परिणाम बिगड जाय, तोभी सत्सकल्प की श्रेष्ठता अक्षुण्ण रह जाती है। A good will is good, not because of the consequences which may be frustrated by a niggardly provision of a stepmotherly nature A good will is good in itself and like a jewel shines by its

---

१ क्योंकि काण्ट के अनुसार वास्तविक घटनाओं की व्याख्या Causal principle से ही हो सकती हैं।

own light चूंकि काण्ट परिणाम की भावना को नैतिकता का लक्षण नही मानते हैं, इसलिए इनके अनुसार निष्काम कर्म को ही कर्त्तव्य समझा जाता है। इसलिए काण्ट की उक्तियो मे भगवद्‌गीता के आचार दर्शन की पुनरावृत्ति पायी जाती है। चूंकि सत्सकल्प प्रज्ञात्मक है, क्योकि इसकी शुरुआत व्यावहारिक बुद्धि से होती है, इसलिए सत्सकल्प का शुभत्व (goodness) केवल इसकी प्रज्ञात्मकता पर निर्भर करता है। जो काम केवल सत्सकल्प के ही हेतु हो, वह हमे कर्त्तव्य (Duty) मालूम देता है। इसलिए व्यापारो की नैतिकता कर्त्तव्य की कर्त्तव्यता पर निर्भर करती है और इसलिए नैतिक आचार को नैतिक नियम के प्रति श्रद्धा के वश होकर होना चाहिए (A moral act is performed out of the pure regard for the moral law)।

काण्ट के आचार-दर्शन का निष्कर्ष है कि व्यापारो की नैतिकता उसके सत्संकल्प पर निर्भर करती है और सत्सकल्प पारमार्थिक सत्ता तथा आत्मा से निकलता है। पर मानव आनुभविक जीव भी है अर्थात् वह आवेश (Impulses) तथा मूल प्रवृत्तियो की तुष्टि चाहता है, जिससे उसे सुख (Pleasure) मिले। अत: आनुभविक जीव होने के कारण मानव मूलप्रवृत्तियो की तुष्टि से सुख-प्राप्ति की इच्छा रखता है और केवल प्रज्ञा के अनुसार सचालित होने पर सुखेच्छा के कारण नैतिकता के मार्ग से विचलित हो जाने की उसमे आशका हो जाती है, अर्थात् सुखेच्छा के प्रबल हो जाने पर मानव शुद्ध प्रज्ञात्मक नही रह पाता और वह नीति-च्युत हो जाता है। यही कारण है कि मानव मे सुख-भाव और नैतिकता के बीच द्वन्द्व मालूम देता है। इसी द्वन्द्व के रहने पर सत्सकल्प की मांग हमे निरपेक्ष आज्ञा के समान प्रतीत होती है और इसके अनुसार की कार्यवाही हमे कर्त्तव्य के रूप मे दीखती है। नैतिक विकास का आदर्श है कि हमारा चरित्र इतना निर्मल हो जाय कि हम केवल सत्सकल्प के चलाये ही ऐसा चलें कि हममे सुख की कामना प्रबल न हो पाये।

चूंकि व्यापारो की नैतिकता सत्सकल्प पर निर्भर करती है, न कि सुख-प्राप्ति पर और चूंकि सुख-भाव की प्रेरणा से नैतिकता के शुभत्व पर धब्बा लग सकता है, इसलिए समालोचको ने काण्ट के मत को तोड-मरोड दिया है। इन समालोचको के अनुसार काण्टीय नैतिकता में कर्त्तव्य और सुखभाव के बीच विरोध का रहना अनिवार्य है, और इसलिए वे समझते हैं कि काण्ट ने दिखाया है कि कर्त्तव्य को नीरस तथा सुख-विहीन होना चाहिए। परन्तु पेटना ने† इस मत का खण्डन किया है। काण्ट इस बात को मानते थे कि मानव अपने नैतिक व्यापार

† The Categorical Imperative (Hutchinson's University Library), H J. Paton.

से noumenal self होता और सुख-भाव से प्रेरित होने पर वह Phenomenal या Empirical self होता है। चूँकि वह Phenomenal सत्ता भी है, इसलिए वह मूलप्रवृत्तियो से सचालित होकर काम करेगा ही और फिर इनकी तुष्टि से उसे सुख होगा ही, और फिर सुख-प्राप्ति को काण्ट ने सर्वोच्च शुभ तो नही, पर शुभ अवश्य माना है। पर, काण्ट का कहना है कि व्यापारो की नैतिकता सुख-प्राप्ति की मात्राओ से नही मूल्याकित हो सकती है। हो सकता है कि किसी नैतिक व्यापार से सुख-प्राप्ति भी हो और सत्सकल्प की भी रक्षा हो। ऐसी हालत मे काण्ट के अनुसार नैतिकता केवल सत्सकल्प की रक्षा से आँकी जा सकती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए काण्ट ने ऐसे उदाहरणो को लिया है, जिनमे दिखाया है कि कामो की नैतिकता उनके सत्सकल्प पर निर्भर करती है। जैसे, मान लिया जाय किसी व्यक्ति का जीवन निराशा से जर्जर हो जाय और जीने से मरना उसे अधिक शातिदायक मालूम दे और तोभी जीवन की रक्षा को वह अपना कर्त्तव्य समझकर अपने भारमय जीवन को ढोये फिरे, तो काण्ट के अनुसार वह नैतिक कर्त्तव्य करता है। यहाँ हम देखते हैं कि प्राणो की रक्षा करना जीवो का स्वाभाविक गुण है। पर यदि कोई स्वाभाविक प्रेरणा से ही काम करे तो वहाँ प्रातिभासिक कार्य करता है, पर इसे नैतिक नहीं समझा जायगा। परन्तु यह आवश्यक नही है कि कर्त्तव्य सुख-विहीन हो। पर इतना स्पष्ट अवश्य है कि सुखमय कर्त्तव्य की कर्त्तव्यता सुख-भाव से नही, पर सत्सकल्प से ही नियन्त्रित होती है। यहाँ काण्ट के सिद्धान्त मे कोई दोप देखने मे नही आता है। यदि हम किसी काम को स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही सचालित होकर करें, तो यहाँ 'चाहिए' का कोई अर्थ ही नही होता है। खाना-पीना, सोना, जीना इत्यादि स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं और किसी को कहना कि उसे खाना-पीना या सांस-लेना 'चाहिए' तो उसके लिए 'चाहिए' का कोई अर्थ ही नही होता है, क्योकि वह तो ऐसा करता ही है। यहाँ खाने-पीने इत्यादि के अनुसार काम करने के अलावा कोई दूसरा पक्ष नही है। पर नैतिक व्यापार मे कम से-कम दो पक्षो को रहना चाहिए जिनमे से किसी एक पक्ष को व्यक्ति स्वतन्त्र रीति से चुनता है। पर चूँकि व्यापारो की नैतिकता मूलप्रवृत्तियो से नियन्त्रित नही होती है, इसलिए यह नही कहा जा सकता है कि नैतिक कार्यों को अमूलप्रवृत्तिमय रहना चाहिए। केवल इतना ही काण्ट बोध कराना चाहते थे कि मूलप्रवृत्तियो की प्रियता से नैतिकता नही आँकी जा सकती है। वास्तव मे उन्होने 'सुख' को अपनाया है और इसी से कहा कि यद्यपि सत्सकल्प काम ही नि श्रेयस है, तथापि सम्पूर्ण नि श्रेयस (Complete good) मे सुख को भी रहना चाहिए। अत, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि काण्ट का यह मत नही है कि कर्त्तव्यो को सुख-विहीन होना चाहिए। फिर काण्ट का यह भी मत

नही है कि कर्तव्य को भाव-विहीन होना चाहिए, क्योंकि उनका कहना है कि सत्सकल्प-मय नैतिक नियमो की श्रद्धा से कर्त्तव्य-निष्ठता होनी चाहिए। पर 'श्रद्धा' मे भाव का अश रहता ही है। अत, कर्त्तव्य को प्रज्ञात्मक भाव, अर्थात् श्रद्धा से नियन्त्रित होना चाहिए।

काण्ट के उपर्युक्त कथन से इतना ही स्पष्ट है कि नैतिक कार्य सत्सकल्प ही के आधार पर होना चाहिए, जो मानव के लिए[1] कर्त्तव्य मालूम देता है। अत., नैतिक व्यापार वह है, जिसमे हम कर्त्तव्य कर्त्तव्य के ही हेतु करते है। परन्तु Duty for the sake of duty शुद्ध नीति-विज्ञान का सिद्धान्त है। इसलिए उस रूप मे असाक्षात् रूप से इसे दैनिक जीवन के आचार मे काम मे लाया जा सकता है। यही कारण है कि काण्ट के आचार-दर्शन को रूपात्मक (Formal) कहा गया है। परन्तु रूप के अतिरिक्त आचार मे विषय-विशिष्टता (Matters) भी पायी जाती है जिसका सम्बन्ध मानव-मूलवृत्तियो, वास्तविक घटनाओ तथा कार्यों के परिणाम (Consequences) से रहता है। काण्ट ने दैनिक जीवन के आचार-व्यवहार का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि उनका आचार-दर्शन शून्यवत् है। प्राय, आलोचको ने कहा है कि Good will is a will which wills nothing काण्ट ने व्यावहारिक आचार-दर्शन के नियमो की समालोचना नही की है, क्योंकि उनका उद्देश्य था कि आचार-दर्शन के सामान्य सिद्धान्तो (Principles) की व्याख्या की जाय। इस रूप मे उन्होने सामान्य रीति से बताया है कि किस प्रकार से व्यावहारिक जीवन मे सत्सकल्पात्मक आचार को प्राप्त किया जा सकता है। नैतिक आदेश a priori अर्थात् प्रागनुभविक ही हो सकता है और इसलिए यह सार्वभौमिक होगा। अत., जिस भी परिस्थिति मे हम किसी व्यापार को करें उसे नैतिक बनाने मे हमे ध्यान रखना चाहिए कि अन्य सभी प्राणी भी उसी व्यापार को अपनायेंगे। इसलिए काण्ट की उक्ति है· "Act always as though the maxim of your action should become through by your will into universal law" यहाँ 'maxim' से अर्थ है वह सिद्धान्त, जिसके अनुसार काम किया जाय। यदि कोई ऐसा सिद्धान्त हो, जिसे सार्वभौम बनाने पर आत्मविरोध हो जाय तो उसे नैतिक नही समझा जायगा। काण्ट की इस उक्ति से दो बातें झलकती हैं। प्रथम, किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने मे स्वार्थ को रखकर अपवाद (Exception) को नही स्थान देना चाहिए, क्योंकि

१· मानव empirical और noumenal दोनों है और उनकी कार्यवाही पूर्णतया noumenal self से ही सचालित नहीं होती है। इसमे empirical जीवों को noumenal self की माँग कर्त्तव्य मालूम देती है। परन्तु ईश्वर की कार्यवाही पूर्णतया noumenal self से होती हैं और ईश्वरीय इच्छा को पवित्र सकल्प (holy will) माना गया है। नैतिकता केवल पवित्र सकल्प से मूल्याकित होती है।

सिद्धान्त को सर्वव्यापी रहना चाहिए। फिर उनके अनुसार अनैतिक काम, जैसे झूठ बोलना, धोखा देना इत्यादि सार्वभौम नही हो सकते हैं। यदि सब कोई झूठ बोलने लगें तो झूठ का कोई महत्त्व ही नही होगा, और यदि सब एक-दूसरे को धोखा देने लगें तो कोई धोखा भी नही खायगा। इसलिए अनाचार सार्वभौमिक हो जाने पर आत्मविरोधी हो जाता है। व्यावहारिक जीवन मे झूठ और धोखे से इसलिए लाभ हो जाता है कि प्राय लोग सचाई और ईमानदारी को अपनाये रहते हैं। इसलिए काण्ट ने कहा कि Evil is a parasite on the good *

फिर काण्ट ने अपने सामान्य सिद्धान्त को इस रीति से भी व्यक्त किया है कि इससे समाज-आचार स्पष्ट हो जाता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है "Act in such fashion that you always treat mankind, as much in your own person as in that of another, as an end, never as a means." चूंकि नैतिक जीव होने के कारण मानव Noumenal या पारमार्थिक सत्ता होता है और पारमार्थिक सत्ता वह है, जिसके लिए प्रातिभासिक सत्ता साधन हो सकती है, पर जो स्वय किसी अन्य प्रकार की प्रातिभासिक सत्ता का साधन न हो। अत, नैतिक मानव पारमार्थिक सत्ता होने के हेतु स्वलक्ष्य है और इसलिए उसे किन्ही अन्य व्यक्तियो की इच्छा-पूर्ति का साधन नही समझा जा सकता है। इसलिए किसी भी नैतिक मानव को साम्राज्य-विस्तार के लिए, या निरकुश शासन के लिए साधन नही बनाया जा सकता है। अत, काण्ट के अनुसार Totalitarianism, जिसमे व्यक्ति-विशेषो की स्वतन्त्रता का हनन होता है, अनुचित समाज-दर्शन है। किसी भी प्रकार की दासता अनैतिक है।

काण्ट को 'प्रज्ञा' पर घमड था, पर जब उन्होने रूसो की पुस्तको का अध्ययन किया तो उन्हें स्पष्ट हो गया कि मानव की मानवता उसकी बुद्धि पर नही, किन्तु सत्सकल्प पर ही आधारित रहती है। इसलिए उन्होने जब यह कहा कि प्रत्येक नैतिक जीव स्वलक्ष्यवान् है, तो इससे उन्होने प्रजातन्त्र (Democracy) का सिद्धान्त स्थापित किया है। चूंकि मानव समाज मे रहता है और उपर्युक्त कथनानुसार वह एक-दूसरे को साधन नही बना सकता है, तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव समानाधिकारी होकर एक-दूसरे से मिलकर ही काम कर सकते है। अत, उनके अनुसार सत्सकल्पियो का ही प्रजातन्त्र हो सकता है। इसलिए सभी मानव kingdom of ends, अर्थात् noumenal सत्ता के समान भागी होने के कारण भाई-भाई हैं। अत, काण्ट की उक्तियो से विश्व-प्रजातन्त्र की सभावना टपकती है।

---

*यह ठीक है कि शुद्ध रूपात्मक सत्यता हो नहीं सकती है। यही कारण है कि अनात्मविरोधीपन की कसौटी से नैतिक निर्णय का औचित्य नहीं जाना जा सकता है। इस प्रसग में देखें, J S. Mackenzie. 'Manual of Ethics'

§ २१. नैतिक जीवन की मान्यता (Postulates)

मान्यता को सिद्धान्त से भिन्न समझना चाहिए। मान्यता वह धारणा है, जो किसी अमुक प्रसग मे घटनाओ की व्याख्या के लिए आवश्यक समझी जाय। अत., नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए कुछ धारणाएँ, जिन्हें काण्ट आवश्यक मानते हैं— स्वतन्त्र सकल्प, ईश्वर तथा आत्मा की अमरता काण्ट के लिए नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए तीन मान्यताएँ हैं। इन तीनो को काण्ट ने शुद्ध प्रज्ञा की भावनाएँ (Ideas) भी कहा है, जिनका उल्लेख Transcendental Dialectic मे हो चुका है। अत, सैद्धान्तिक बुद्धि का निष्कर्ष तो यही है कि इन धारणाओ को ज्ञान का विषय नही माना जा सकता है। ये केवल कोरी भावनाएँ हैं और उनके अनुरूप कोई प्रत्यक्ष है नही, जिससे इन्हें ज्ञातव्य माना जाय। परन्तु ज्ञान की सीमा, विचार (Thought) की सीमा नही है। बहुत कुछ जो जाना नही जा सकता, वह सोचा जा सकता है। अत, स्वतन्त्र तथा अमर आत्मा तथा परमात्मा भी विचार के विषय हो सकते हैं, यद्यपि इनके विषय 'ज्ञान' सभव नही हैं। परन्तु यदि नैतिक जीवन की व्याख्या के लिए इनका होना या रहना हमारे लिए आवश्यक मालूम दें तो इन्हें आवश्यक मान्यताएँ समझकर ग्रहण कर लेना चाहिए। अत., यद्यपि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कह नही सकते हैं कि हम जानते हैं कि आत्मा अमर तथा स्वतन्त्र है तो भी हमे अपने नैतिक जीवन को वास्तविक मान लेने पर इस विश्वास के साथ काम करना पड़ेगा कि जिसमे ये वास्तविक मालूम दें। इसलिए नैतिक जीवन मे हमे सोचे रहना चाहिए कि मानो आत्मा स्वतन्त्र और अमर है, और ईश्वर वास्तविक सत्ता है। अत, आत्मा की स्वतन्त्रता, अमरता तथा ईश्वर की वास्तविकता विश्वास का विषय है, पर ज्ञान का नही। परन्तु इन्हें विश्वास का विषय पुकारने पर हम इन्हें मनगढन्त कल्पना नही समझ सकते हैं।

आत्मा की स्वतन्त्रता— यद्यपि काण्ट ने आत्मा की स्वतन्त्रता, अमरता तथा ईश्वर की वास्तविकता को मान्यताएँ कहा है तथापि इनका स्थान समान नही है। आत्मा की स्वतन्त्रता प्रमुख मान्यता समझी गयी है और इसकी तुलना मे आत्मा की अमरता तथा ईश्वर की वास्तविकता को गौण ही समझा जायगा। सैद्धान्तिक प्रज्ञा की समीक्षा मे काण्ट ने दिखाया है कि बिना नियतिवादी कारण-कार्य की मूल-धारणा को काम मे लाये हुए वैज्ञानिक ज्ञान सम्भव नही है। इसलिए यदि कोई भी मनोवैज्ञानिक ज्ञान आत्मा का विषय सभव हो तो उसे भी कारण-कार्य की शृखला मे आवद्ध होना चाहिए। अत, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव की भी प्रक्रिया स्वतन्त्र नही समझी जा सकती है। परन्तु काण्ट ने यह भी इस प्रसग मे बताया है कि मानव Phenomenal या प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक (Noumenal) दोनों सत्ताओ का सम्भागी जीव हो सकता है। इसलिए आत्मा की प्रक्रियाएँ Phenomenal दृष्टिकोण

से नियतिवादी तथा Noumenal दृष्टिकोण से स्वतन्त्र मानी जा सकती हैं, अर्थात् आत्मा की स्वतन्त्रता बिना वैज्ञानिक आदर्श से मेल खाये मान्य समझी जा सकती है। ऐसी दशा मे इसे इसलिए और भी स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योकि बिना आत्मा की स्वतन्त्रता माने हुए नैतिक जीवन की व्याख्या नही हो सकती है। परन्तु नैतिक जीवन भी अपनी वास्तविकता रखता है। अत, आत्मा की स्वतन्त्रता हमारी आवश्यक मान्यता है, यद्यपि इसे ज्ञान का विषय नही पुकारा जा सकता है।

यदि मानव की स्वतन्त्रता हम स्वीकार न करें वो इसका अर्थ होता है कि उनके सभी कार्य नियतिवाद से जकडे हुए रहते हैं। यदि सभी प्रक्रियाएँ पूर्व कारणो से ही वाध्य हो तो झूठ बोलने या चोरी करने की प्रक्रिया भी अपने पूर्व कारणो से वाध्य होगी। अत', झूठे तथा चोर को हम यह नही कह सकते है कि उसे सचाई तथा ईमानदारी का व्यापार करना चाहिए था; क्योकि नियतिवाद के अनुसार उसके लिए झूठ तथा चोरी के अतिरिक्त कुछ दूसरा पक्ष है ही नही। जैसे, नियतिवाद को अपनाते हुए स्पिनोजा ने कहा है कि मानव-व्यापार अपने पूर्व कारणो से वैसे ही नियन्त्रित होते हैं जैसे पत्थर की परिक्रमा-गति उसके पूर्व कारणो से नियन्त्रित होती है। परन्तु यदि मानवो की सभी प्रक्रियाएँ नियतिवाद से बँधी हुई हो, तो उनके व्यापारो को हम उसी प्रकार अच्छा-बुरा नही कह सकते हैं जिस प्रकार निर्जीव पत्थर इत्यादि की प्रक्रियाओ को हम भला बुरा नही कह सकते हैं। यदि किसी छुरे से किसी की मृत्यु हो जाती है तो हम छुरे को जेल या फांसी नही देते हैं, क्योकि हम समझते है कि छुरे की प्रक्रिया नियतिवाद से सचालित होती है। अत, यदि मानव-प्रक्रियाएँ भी छुरे या पत्थर के समान हो तो उन्हें भी हम अच्छा-बुरा नही कह सकते हैं। यद्यपि स्पिनोजा ने वास्तव मे बहुत कुछ अशो मे मानव-व्यवहार को बुरे-भले के भाव से परे कहा है तथापि अनेक अन्य विचारक स्पिनोजा की बात को नही स्वीकार करेंगे। इसलिए यदि मानव-व्यापार अच्छे-बुरे कहे जा सकते हैं तो हमे स्वीकार करना पडेगा कि वे नियतिवाद से नही, पर वे मानव-स्वतन्त्रता से सचालित होते हैं। इस अर्थ मे आत्मा की स्वतन्त्रता नैतिक जीवन की आवश्यक मान्यता है।

आत्मा की अमरता— काण्ट के अनुसार शुद्ध नैतिक कार्य की नैतिकता सत्सकल्प से ही सही रीति से मूल्याकित हो सकती है। पर मानव Phenomenal जीव भी है, अर्थात् उसके अन्दर पाशविक वृत्तियाँ भी है, जिनकी सतुष्टि से वह सुख-प्राप्ति की भी इच्छा रखता है। अब किसी भी देहधारी के लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वह शुद्ध सत्सकल्प से ही सचालित हो। Phenomenal आत्मा की सुख-प्राप्ति की इच्छा उसे सत्सकल्पी रहने से बराबर खीचती रहती है। यह Phenomenal self की खीच-तान ऐसी नही है, जो इस जीवन मे ही दूर की जा सकती है। अनेक जीवनो के कठिन तप से यह सम्भव हो सकता है कि मानव अपनी पाशविक

वृत्तियो तथा सुख-इच्छा की प्रवृत्ति पर विजयी होकर ऐसा उज्ज्वल जीव हो जाय कि उसके आचरण से केवल सत्सकल्प की ही बू टपके । अत., नैतिक जीवन की ऐसी समस्या है जिसका इस जीवन के बाद अवसर मिलने पर ही मानव पूर्णतया समाधान कर सकता है । अत , नैतिक जीवन की माँग है कि मानव अपने को अमर समझकर अपने नैतिक कर्त्तव्यो का पालन करता जाय ।

यहाँ काण्ट की युक्ति न तो सतोपजनक मालूम देती और न पर्याप्त ही है । यह आवश्यक नही है कि जीवन नैतिकता की माँग व्यक्ति-विशेपो मे पूरी होती जाय । इतना ही भर कहा जा सकता है कि मानव निष्काम भाव से अपना कर्त्तव्य-पालन करे । यदि कोई व्यक्तिविशेष इस जीवन मे पूर्णतया कर्त्तव्यनिष्ठ नही हो सकता है तो कम-से-कम वह इस समस्या को अपने बाद के आनेवाले व्यक्तियो के लिए छोड देता है कि वे उसकी बतायी हुई लीक को आगे बढायें । अत·, यह आवश्यक नही है कि व्यक्ति-विशेष जन्म-जन्मान्तरो के बाद ईश्वर के समान पूर्ण हो जाय । फिर काण्ट ने इतना ही भर सिद्ध किया है कि मानव को एक नही, पर अनेक जीवनो की आवश्यकता है । पर इससे यह सिद्ध नही होता है कि मानव अमर है । परन्तु शायद काण्ट इस बात को सिद्ध करना चाहते थे कि वही अमर है, जिसने पूर्ण नैतिकता प्राप्त कर ली है, क्योकि मोक्षप्राप्त, निर्वाणी वास्तव मे अमरता का पान करता है।

ईश्वर का अस्तित्व— काण्ट के अनुसार मानव लक्ष्यवेधी जीवि-पदार्थ (Organism) है और इसके प्रत्येक अग की कार्यवाही ऐसी है कि इससे जीव-पदार्थ की सम्पूर्णता मे लाभ पहुँचता है । मानव मे उसकी प्रज्ञा भी एक आवश्यक अग है और सभी अगो के समान यह भी अपने विशेप कार्य के लिए पूर्णतया उपयुक्त है । अब नैतिक जीवन की माँग है कि उसकी प्रज्ञा (Reason) केवल सत्सकल्प की सरक्षा करे । परन्तु सत्सकल्प की सरक्षा करने से कर्त्तव्य का पालन तो होता है, पर इससे प्रेय या सुख प्राप्ति नही होती है । अब यह हो ही नही सकता है कि मानव के किसी अग की प्रक्रिया अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे अनुपयुक्त हो । अत , प्रज्ञा का उद्देश्य सुख नही हो सकता है, क्योकि प्रज्ञात्मक नैतिक जीवन मे पुण्य-धर्म (Virtue) सभव है, कर्त्तव्य-परायणता मे सुख विशेष रीति से नही पाया जाता है । प्राय देखा जाता है कि अधर्मी तथा नीतिच्युत व्यक्ति भोग करते हैं और आचारवान् व्यक्तियो को कष्ट भोगना पडता है । पर सुख भी मानवो का उद्देश्य है । अत , यद्यपि कर्त्तव्य और सुख में किसी प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध नही है, तथापि कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति ही सुख-भोग का सुयोग्य पात्र समझा जा सकता है । अत , सुख और कर्त्तव्य को समन्वित करने के लिए अवश्य ही किसी परम न्यायाधीश की आवश्यकता प्रतीत होती है, जो पुण्यात्माओ को उनके पुण्य के अनुसार और दुरात्माओ को उनके दुराचार के अनुसार

फल दे। इसलिए काण्ट के अनुसार ऐसी परम सत्ता जो, प्रत्येक व्यक्ति के किये अनुसार फल दे, नैतिक जीवन की आवश्यक मान्यता होनी चाहिए।

काण्ट की उपर्युक्त युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रेय को अभीष्ट समझते थे, पर वे इसे नैतिकता का मापदण्ड नही समझते थे। परन्तु नैतिक न्यायाधीश के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण दुर्बल मालूम देता है। यदि कर्त्तव्य और सुख के बीच अनिवार्य सम्बन्ध न हो, तो इन्हें मिलाने के लिए ईश्वर की पूर्वकल्पना या पूर्वस्थापना (Hypothesis) को Deus ex machina का दोष कहा जायगा।

काण्ट ने Critique of Pure Reason के निष्कर्ष को Practical Reason मे खडित नही किया है, पर इसकी कठोरता और एकागीपन को दूर करने की कोशिश की है। उन्होने विज्ञान को आचरण से कम महत्त्व का समझा है। मानव की मानवता उसकी विद्या पर नही, वल्कि उनकी सत्सकल्पात्मक प्रक्रियाओ पर आधारित होती है। इसीसे रूसो के प्रभाव मे आकर काण्ट ने Democracy of good wills को वडा स्थान दिया है।

अत, नैतिक जीवन की माँगो को ठुकराया नही जा सकता है। इसलिए यद्यपि ईश्वर, अमर तथा स्वतन्त्र आत्मा का ज्ञान नही हो सकता है तथापि इन्हें कोरी कल्पना नही माना जा सकता है। इसी से कहा गया है कि In his Critique of Practical Reason, Kant has modified the conclusions of his Transcendental Dialectic.

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. Explain the nature of Philosophy.

इसके उत्तर के लिए देखें 'विश्व-दर्शन का स्वरूप', पृ० ७-१८

2 Is Philosophy science or art or both or none ?

दर्शन को विज्ञान नही कहा जा सकता है, यद्यपि विना विज्ञान के इसका पूर्ण विकास भी नही हो सकता है (देखें पृ० १४—१८)। इसे साधारण अर्थ मे कला भी नहीं कहा जा सकता है। दर्शन Intellectual art है, जिसमे विज्ञान और कला दोनों को स्थान दिया जा सकता है (देखें पृ० १४—१८)।

3. Point out the uses of studying 'The history of Philosophy'. (देखें पृ० १८—२०)

4. What are the characteristics of 'Modern Philosophy' ? (देखें पृ० २१—२३)

5 What do you mean by the term 'rationalism' ?(देखें पृ० २७–३०). Why are Descartes, Spinoza and Leibnitz called rationalist ? देकार्त को बुद्धिवादी पुकारने के कारण के लिए (देखें पृ० ७१-७२)। चूँकि स्पिनोजा भी गाणितिक ज्ञान को सभी ज्ञान की कसौटी समझते थे, इसलिए उन्हें बुद्धिवादी कहा गया है। यही कारण है कि स्पिनोजा की विधि ज्यामितिक है और उनके दर्शन मे बौद्धिक निगमनात्मक निष्कर्षों का विशेष स्थान है (देखें पृ० ७८—८३) देकार्त और स्पिनोजा के समान लाइवनित्स भी गणित से प्रभावित थे और ज्ञान के प्रत्ययो को आत्मजात मानते थे। इन सब बातो की वजह से उन्हें बुद्धिवादी कहा जाता है (देखें पृ० १०६)।

6 What are the main tenets of Empiricism ? (पृ० ३०—३४). Explain them with reference to Locke, Berkeley and Hume

यहाँ उद्धृत लॉक की उक्ति, बर्कले का कथन तथा ह्यूम की उक्ति (३२) के देने से उत्तर मे बल चला आयगा।

7. Explain Bacon's Inductive Method (पृ० ३४—३८) Is it really scientific induction ? (पृ० ४१—४३)।

8. To what extent did Bacon's doctrine of 'Idolas' anticipate the critical philosophy of Kant ?

यहाँ 'Idolas' के सक्षिप्त विवरण के लिए (देखें पृ० ३७—३८)। फिर अन्तिम भाग के लिए (देखें पृ० ४५)

9 Why is Bacon regarded as 'the father of Modern Philosophy' ? बेकन को आधुनिक दर्शन का आदि-पिता इसलिए कहा जाता है कि समझा जाता है कि उन्होंने दर्शन मे नयी विधि दी, अनुभववाद की नीव डाली और उपयोगितावाद (Utilitarianism) की झलक दिखायी है। (देखें पृ० ४४-४५)

10. Explain the Cartesian method of Philosophy ? (देखें पृ० ४७—४९) Is it deductive or inductive or both ? (देखें पृ० ३५)।

11. Critically examine Descartes' *Cogito ergo sum* and indicate its bearing on Hume and Kant's transcendental philosophy. 'Cogito ergo sum' की व्याख्या के लिए देखें पृ० ५१-५५।

ह्यूम ने दिखाया है कि हम किसी भी स्थायी द्रव्य को नही जान सकते है और इसलिए हम अपनी स्थायी द्रव्य-रूप आत्मा को भी नही जान सकते है। इसलिए उन्होंने स्थायी द्रव्य-रूप आत्मा की आलोचना की है (देखें पृ० १८३—१८४)।

देकार्त और ह्यूम से प्रभावित होकर काण्ट ने दिखाया है कि हम अपनी स्थायी द्रव्यात्मक आत्मा को नही जान सकते हैं। परन्तु यद्यपि द्रव्यात्मक स्थायी आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकती है तथापि ज्ञान-अर्जन मे इसे मुख्य प्रत्यय समझना चाहिए। Synthetic unity of appereception को काण्ट ने understanding (समझ) का सर्वोच्च प्रत्यय माना है (देखें पृ० २५१-२५२)।

12. Explain the proofs offered by Descartes for establishing the existence of God (देखें पृ० ५७-६२)

13 What is Descartes' criterion of Truth ? (देखें पृ० ५६—५७) How does he derive it from *Cogito ergo sum* ? (देखें पृ० ५६)।

14 Explain Cartesian dualism How does he explain the relation between Mind and Body ?

(देखें पृ० ६५—६८), अति सक्षेप मे ही द्वैतवाद की व्याख्या करनी चाहिए, अर्थात् प्रत्येक बात को केवल छू देना चाहिए।) मन-शरीर की व्याख्या के लिए (देखें पृ० ६५-६८)।

15 Explain the doctrine of error, according to Descartes (देखें पृ० ६८-७०)

16 Can we say that Descartes is the legislator of Modern philosophy ? इस प्रश्न का वही अर्थ होता है, जो देकार्त को 'आदिपिता पुकारने से समझा जाता है। (देखें पृ० ७०—७४)।

17 Describe the Geometrical Method of Spinoza and trace its effects upon his philosophy. (देखें पृ० ७८—८३)।

18 Characterise the monism of Spinoza and give a critical estimate of it (देखें पृ० ९१-९५ ।

19 Explain Spinoza's theory of Attributes If 'every determination, is negation' how can Substance have attributes ? (देखें पृ० ८३-८८)

20 Explain fully Spinoza's conception of Substance How are Attributes related to Substance in Spinozism ? (देखें पृ० ८३-८८) । फिर गुण की परिभाषा देकर के विषय को सक्षेप मे आलोचनात्मक रीति से लिखे ।

21 Explain Spinoza's doctrine of Bondage and Freedom, Is it consistent with his pantheism ?(पृ० ९७-१००) ।

22 What are the stages of knowledge according to Spinoza ? Point out the importance of 'amor intellectualis dei' in his Ethics, (पृ० ९९-१०१) ।

23. Can we say that Spinoza is Descartes made consistent ? प्रारम्भ मे ही लाइबनित्स ने कहा था कि 'Spinoz cultivated certian seeds of Descartes' Philosophy'—इसी मत को केअर्ड और रसेल ने भी अपनाया है । इसके पूर्ण उत्तर के लिए देखें (पृ० ७४-७७) ।

24 Distinguish between 'finite and infinite modes' of Spinoza. How are they related to Substance ? (देखें पृ० ८९-९१) सीमित और असीमित प्रकार की अपनी सत्ता स्पिनोजा के शून्यवाद मे नही रहती है । They are the ever-vanishing waves that perpetually die अतः देखें पृ० ९१-९५ ।

25. Explain Leibnitz's theory of Monads How does this theory reconcile the claims of Democritus and Plato ? (देखें पृ० ११०-११४), लाइबनित्स के मोनडवाद मे अनेकत्व है जो डेमोक्रिटस का सिद्धान्त था, फिर मोनड आध्यात्मिक चिद्‌विन्दु हैं, जो प्लेटो के प्रत्ययवाद से मेल खा जाते है । इसलिए मोनडवाद मे डिमोक्रिटस के अनेकत्व तथा प्लेटो के प्रत्ययवाद दोनो की सरक्षा होती है ।

26 How far does Leibnitz succeed in combining the mechanical with the teleological view of the world ? Give a critical estimate of the Pre-established Harmony (देखें पृ० ११६-११९)

फिर Pre-established Harmony के लिए देखे पृ० ११४-११६ ।

27 How did Leibnitz explain 'evil' and prove that God created the best Possible world ? (देखें पृ० १२६-१२९) ।

28 What was Leibnitz's conception of God ? Compare his idea of 'God' with that of Spinoza. (देखें पृ० १३०-१३१)

29. 'Monism must be pantheistic and monadism must be atheistic' Discuss this statement with reference to the systems of Spinoza and Leibnitz

यदि सत्ता या द्रव्य एक ही हो तो स्पिनोजा ने दिखा दिया है कि इसे सर्वेश्वरवाद ही युक्तिसगत रूप से कहा जायगा (देखें पृ० ९२-९५)। यदि Monads शाश्वत सत्ताएँ हैं तो ईश्वर उनका रचयिता नही हो सकता है और अन्त मे ईश्वरवाद के ईश्वर का इस मोनडवाद मे स्थान सुरक्षित नहीं रह पाता है (देखें पृ० ११६, १३०-१३१)।

30. 'Leibnitz abounds in ingenious distinctions, but never succeedsin reconciling them " Discuss this statement with reference to Mechanism-Teleology, Empiricism-Rationalism and Determinism-Freedom. (देखे पृ० ११६-११९, १२९-१३०)

31 Give a clear exposition of Leibnitz's theory of knowledge. (पृ० ११९-१२)

32 Explain the relation between Mind and Body, and according to Descartes, Spinoza and Leibnitz Which one theory do you accept and why ?

देकार्त parallelism और interactionism के बीच निर्णय नही कर पाये हैं और उनका सिद्धान्त occasionalism मे परिणत हो जाता है। स्पिनोजा समानान्तरवाद को अपनाते हैं और लाइबनित्स पूर्वस्थापित छन्द का सहारा लेते हैं। किसी भी व्याख्या को सतोषजनक नही समझा जा सकता है, क्योकि मन और देह पृथक्-पृथक् सत्ताएँ नही हैं। वास्तविक सत्ता है मन-देह और इसलिए उन्हें बनावटी दो स्वतन्त्र सत्ताओ मे विभाजित कर लेने पर कोई भी व्याख्या सतोषजनक नही हो सकती है।

33 Is the Ultimate Substance one or many ? Discuss this with re ference to the philosophy of Spinoza and Leibnitz

परम सत्ता न तो एक है और न अनेक। यह है एक मे अनेक। स्पिनोजा एक सत्तावादी होने के कारण आशिक रूप से एक ही पक्ष का प्रतिपादन करते हैं और लाइबनित्स अनेकत्व को आशिक रूप मे ही अपनाते हैं। स्पिनोजा विशिष्टता की व्याख्या न कर शून्यवादी हो गये हैं और लाइबनित्स दर्शन में एकता न लाकर मनगढ़न्त पूर्वस्थापित छन्द की मदद लेते हैं।

34 How has Locke refuted the doctrine of innate ideas? (पृ० १३४-१३६)

Has he succeeded in doing so? पहली बात यह है कि जिस अर्थ में लॉक ने innate ideas को लिया है, उस अर्थ मे किसी ने इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया है। आगे चलकर innate ideas को मूलधारणाओ (categories) के अर्थ में काम मे लाया गया है और इस अर्थ मे लॉक का अनुभव-वाद उसका खडन नही कर पाया है। देखें Categories की आवश्यकता (पृ० १४२-१४४) स्वय लॉक ने Substance, Causality को काम मे लाये हैं और फिर उनकी अनुभववादी व्याख्या आप नही दे पाये हैं (देखें पृ० १४२-१४६)। अतः, जिस अर्थ मे देकार्त या आगे चलकर लाइब्रनित्स तथा काण्ट ने innate ideas को समझा है, उस अर्थ मे लॉक उनका खण्डन नही कर पाये हैं। फिर लॉक का 'खण्डन' मन को केवल चेतनमय मानकर किया गया है। पर मन अचेतन और अर्धचेतन भी है। इस कारण से भी innate ideas का खण्डन सतोषजनक नही समझा जायगा।

35 Explain Locke's *tabula rasa* theory of mind and show how it was attacked by Leibnitz?

(देखें पृ० १३६-१३८) लाइबनित्स ने मन को सक्रिय तथा प्रवैगिक माना है और इस दृष्टिकोण से लॉक ने मन की आलोचना नही की है (देखें पृ० १२२-१२३)।

36. Show how Locke received the problem of knowledge from Descartes and passed it on to Leibnitz.

लौक की ज्ञान-मीमासा के दो मुख्य खड हैं, अर्थात् अभावात्मक और भावात्मक। नकारात्मक रीति से उन्होने innate ideas के सिद्धान्त का खण्डन किया है और इस खण्डन मे उन्होने देकार्त के 'innate ideas' का तो नहीं, पर उनसे प्रभावित होकर आत्मजात प्रत्ययो का खण्डन किया है। अत, लॉक 'innate ideas' के खण्डन मे देकार्त की ज्ञान-मीमासा से प्रभावित हुए थे। लाइबनित्स ने लॉक के खण्डन को स्वीकार नही किया है और लॉक की ज्ञान-मीमास की आलोचना की है (देखें पृ० १२०-१२१)। अत देकार्त और लाइबनित्स की ज्ञान-मीमासा शृ खलाबद्ध है, जिसमे लॉक मध्य कडी है।

37. Explain that according to Descartes *some*, according to Locke *none*, and, according to Leibnitz, *all* ideas are innate. 'देखें पृ० ७१-७२, लॉक ने सभी आत्मजात प्रत्ययों का खण्डन करके माना है कि कोई भी प्रत्यय आत्मजात नही है, पृ० १३६-१३८, और लाइबनित्स ने माना है कि सभी प्रत्यय आत्मजात हैं (पृ० ११९-१२६)।

38 Explain Locke's theory of ideas Was he a consistent empiricist ? (पृ० १३६-१३८,१५४-१५५) । लॉक सगत रीति से अनुभववादी नही थे, क्योकि उन्होने अनुभवातीत द्रव्य, कारण-कार्य को स्वीकार किया था। फिर सवेदनमय ज्ञान को ज्ञान नही माना और ज्ञान के आदर्श को बुद्धिवाद पर आधारित रखा है।

39 If the *esse* of a thing consists in its *percipi*, then how does Berkeley explain the externality and permanence of things ? यदि वस्तुएँ प्रत्यय-मात्र हो और प्रत्यय मानसिक हो, तो वस्तुओ का स्थायित्व किस प्रकार सिद्ध किया जाय ? (पृ० १७१-१७४)

40 How does Berkeley refute the notion of matter ? (देखें पृ० १५७-१६५,)

41 Is Berkeley's refutation of matter an enterprise in ontology or epistemology ?

प्राय, बर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद कहा गया है। इस अर्थ मे उन्होने भौतिकवाद की समालोचना की है (पृ० १५७-१६५,) पर समसामयिक आलोचना यह सिद्ध करना चाहती है कि बर्कले ने केवल जड-सम्बन्धी प्रत्यय का विश्लेषण-मात्र किया है। यदि बर्कले ने केवल जड़ प्रत्यय का विश्लेषण किया है तो उन्होने यही दिखाया है कि हम किस प्रकार से 'जड' शब्द को सगत रूप से काम मे ला सकते हैं और यह प्रयास ज्ञान-मीमासा कहा जायगा, न कि तत्त्व-मीमासा। देखें Russell, B 'A history of Western Philosophy', फिर देखें British Empirical Thinker,'Ed Prof A J. Ayer.

42 To arrive at Spiritualism all that Berkeley had to do was to efface the distinction between Primary and Secondary qualities. Has he been-successful in doing so ?

देखें पृ० १६१-१६२। परन्तु अध्यात्मवाद की स्थापना मे बर्कले ने कई प्रकार के तर्क की मदद ली है और प्राथमिक-अप्राथमिक गुणों के भेद के खण्डन को केवल एक, न कि सम्पूर्ण तर्क माना जायगा।

43. Is mind or spirit an *idea*, according to Berkeley ? How do we know other spirits and God, according to Berkeley ? (देखें पृ० १६७-१७१) ।

44 Is Berkeley's idealism subjective or objective ? Discuss (पृ० १७४-१७७) ।

45 Is it true to say that the essence of a thing consists in its being perceived ? Does *esse est percipi* form the foundation of idealism ? (१७१-१७४) ।

बर्कले ने 'प्रत्यक्ष-प्रक्रिया' का सही विश्लेषण नही किया है। फिर पेरी ने esse est percipi को अध्यात्मवाद तथा प्रत्ययवाद की आधारशिला माना है (देखें, R B Perry, *'Present Philosophical Tendencies'* Sections 8: 10) परन्तु विषयगत प्रत्ययवाद मनोवैज्ञानिक प्रत्यय पर नही, पर तार्किक प्रत्ययो पर आधारित है। फिर बर्कलीय प्रत्ययवाद मे धार्मिकता की बू है, जो प्रत्ययवाद मे आवश्यक नही है।

46. Explain the sensationistic atomism of Hume. Is it adequate for a sound epistemology ? (पृ० १७७-१८१)

47. Show how Hume's analysis of experience leaves no ground for belief in any permanent reality, whether physical or psychical

यदि हम ह्यूमी आणविक सवेदनाओ को ज्ञान-मीमासा की मूल आधार-शिला मान लें, तो द्रव्य-ज्ञान सभव नही होता है। (देखें पृ० १८९-१९३)।

48. How does Hume criticize the *a priori* notion of causality ? Explain fully his own theory of causality.

देखें पृ० १८४-१८६ ।

49 "The scepticism of Hume was the logical outcome of the empirical trend of thought that began with Locke". Explain

यहाँ पहले द्रव्य, कारण-कार्य तथा ज्ञान के स्वरूप तथा सीमा के सम्बन्ध मे लॉक का विचार देना चाहिए। फिर द्रव्य तथा कारण-कार्य के सम्बन्ध मे बर्कलीय सन्देह का प्रकाशन। अन्त मे, ह्यूम के विचारो को इनके सम्बन्ध मे दिखाना चाहिए।

50. Must empiricism end in scepticism ? Show this with reference to Hume.

यथार्थ वस्तुओ का ज्ञान अनुभव के द्वारा अनिवार्य रीति से प्राप्त नही किया जा सकता है। पर अनिवार्य ज्ञान का आदर्श ही निराधार है। विज्ञान के लिए सभाव्य ही ज्ञान पर्याप्त है और इसे अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है (देखें पृ० १८९-१९३, १९९-२०१ Language, Truth and Logic A J. Ayer, P100)।

51 Compare Hume's analysis of Causality wih that of Kant Which do you prefer and why ?

ह्यूमी व्याख्या के लिए देखें १८४-१८६। (अति सक्षेप मे लिखना चाहिए)। फिर ह्यूम के 'विश्लेषण' की समालोचना के लिए देखें, काण्ट का दर्शन २६९-२७३।

काण्टीय युग के दृष्टिकोण से काण्ट का समाधान समीचीन था, पर आधुनिक काल मे ह्यूम के मत को विशेष प्रश्रय दिया जाता है।

52. Was Hume a sceptic? If not, then what is his positive contribution to Philosophy?

देखें पृ० १८९-१९३, फिर पृ० १९९-२०१ (अन्त। इस विषय पर रसेल और एर के मत को भी जानना आवश्यक है, जिसे इस पुस्तक मे केवल छू दिया गया है।

53. Has Kant succeeded in reconciling the rival claim of Empiricism and Rationalism in his critical philosophy?

यहाँ पहले व्याख्या करें (पृ० २०२-२११)। काण्टीय दर्शन कोसही मान लेने पर तो काण्टीय सुझाव समीचीन मालूम देता है।

54. What was the problem of Kant and how has he answered it?

यह प्रश्न अति सामान्य है और इसकी व्याख्या भी सामान्य रीति से होनी चाहिए (पृ० २०१-२११)।

55. How has Kant explained 'synthetic judgments *a priori*? Point out the importance of such judgments for the solution of his problem. (पृ० २११, २१२-२२५)।

56. Explain as to what Kant meant by calling his philosophy 'Copernican revolution' Has he not been Ptolemaic in as much as he emphasized the legislative function of human mind? (पृ० २०४-२०८)। कोपर्निकसीय आन्दोलन से काण्ट ने अपनी देन की नवीनता को बताना चाहा है। उनका अर्थ यह नही था कि वे वस्तुवादियो की भाँति वस्तुओ की निजी स्वतन्त्रता को स्वीकार करें। ज्ञान-मीमासा के दृष्टिकोण से उन्होने पृथ्वी-केन्द्रित मानवो की ही महत्ता स्वीकार की है, जो टोल्मी के सिद्धान्त से मेल खाती है।

57. Why is Kant's philosophy called 'Critical'? Point out its importance in epistemology (२०४-२०८)। इसमे अनुभववाद और बुद्धिवाद का समन्वय होता है और आगे चलकर इसके आधार पर वैज्ञानिक ज्ञान का सही विश्लेषण सभव हो पाता है। आज भी काण्ट की categories-विषयक देन महत्त्वपूर्ण है।

58 Explain Kant's proofs for showing that Space and Time are *a priori* forms of perception (देखें पृष्ठ २३३-२४०)

59. How has Kant shown that synthetic judgments *a priori* are possible in Mathematics? यहाँ दिखाना है कि Space और Time प्रागनुभविक हैं और फिर उनकी Transcendental व्याख्या करें। (पृष्ठ २२४-२२६)।

60 What does Kant understand by Categories? How does he discover them? (देखें पृ० २४१-२४७)।

61. Give the gist of the central teaching of Kant's Transcendental Analytic (पृ०२४१-२४५) ।

62. Explain Kant's theory of 'Schematism' and 'Analytic of principles.' (पृ० २५२-२५४) ।

63 Explain Kant's distinction between 'phenomenon' and 'noumenon.' Is he justified in retaining the notion of 'things-in-them selves'? २५४-२५६ ।

64. Explain that, according to Kant, Physics is but Metaphysics is not possible. ज्ञान की अति सामान्य व्याख्या देकर Transcendental Dialectic के विषय लिखें पृ० २५६-२५८ ।

65 How far does Kant agree with Hume in the criticism of 'Cogito ergo sum'? Explain Kant's doctrine of 'synthetic unity of apprecception (पृ० २५०-२५२) ।

66 Has Kant succeded in destroying Descartes' ontological arguement for proving God? पहले देकार्त के प्रमाण की सक्षिप्त व्याख्या करें। तब काण्ट की समालोचना दें (देखें पृ०२६४-२६६) ।

67. Give a gist of Kant's critique of Practical Reason' (पृ० २७३-२७९ ।

68. "Like a juggler out of an empty hat, Kant draws out the concept of duty or God, immortality, and freedom—to the great surprise of his readers" Explain this remark.

यहाँ नैतिक जीवन की मान्यताओ की व्याख्या करें (पृ० २८०-२८३) ।

69 Show that the sceptical result at which Kant arrives in the Critique of Pure Reason is essentially modified in the Critique of Practical Reason नैतिक जीवन की मान्यताओ को स्वीकार कर लेने पर अतीन्द्रिय सत्ता के मान लिये जाने पर काण्ट का अज्ञेयवाद विनम्र हो गया है। सर्वप्रथम, काण्ट के अज्ञेयवाद की व्याख्या की जाय और तब आत्मा की स्वतत्रता, उसकी अमरता और ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना के सम्बन्ध मे व्याख्या दी जाय ।

———